तुलसी-साहित्य में साहित्यिक अभिप्राय

(Literary Motif in Tulsi's Literature)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय को डी० फिल्० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोधकर्त्ता
जनार्दन
एम० ए० (हिन्दी)

निदेशक
डॉ० योगेन्द्र प्रताप सिंह
प्राध्यापक हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

दिसम्बर, १९७५ ई०

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठसंख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठसंख्या

संकेताक्षर

रा० — रामचरित मानस

गी० — गीतावली

क० — कवितावली

दो० — दोहावली

वि०प० — विनय-पत्रिका

कृ०गी० — कृष्णा-गीतावली

पा०मं० — पार्वती-मंगल

जा०मं० — जानकी-मंगल

ब०रा० — बरवै रामायण

वै०सं० — वैराग्य-संदीपिनी

रा०न० — रामलला-नहछू

रा०प्र० — रामाज्ञा-प्रश्न

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

साहित्यिक अभिप्राय : अर्थ एवं परिभाषा

विवेच्य विषय 'तुलसी-साहित्य में साहित्यिक अभिप्राय' के अन्तर्गत 'साहित्यिक अभिप्राय' पद अप्रचलित और किंचित् अस्पष्ट होने के कारण अपने अर्थ-विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। सर्वथा नवीन प्रयोग न होते हुए भी 'साहित्यिक-अभिप्राय' पद का प्रयोग अब तक के साहित्यानुशीलन में बहुत ही कम हुआ है। फिर भी इसका अर्थ विवाद का विषय नहीं है। 'साहित्यिक' और 'अभिप्राय' इन दो शब्दों के सहप्रयोग से बना हुआ यह पद अब साहित्यिक विवेचन में एक पारिभाषिक प्रयोग बन चुका है। यद्यपि इन दोनों शब्दों का शाब्दिक अर्थविश्लेषण उस पारिभाषिक शब्द के मुख्यार्थ तक नहीं पहुँच पाता तथापि वह उस मुख्यार्थ तक पहुँचने के लिए उपयोगी आधार अवश्य प्रदान करता है। अतएव साहित्यिक अभिप्राय का सम्यक् रीति से अर्थबोध करने के लिए हम सर्वप्रथम 'साहित्यिक' और 'अभिप्राय' शब्दों का पृथक् पृथक् अर्थविश्लेषण करेंगे और इसके पश्चात् दोनों के मुख्यार्थ (जो वस्तुत: रूढ़ार्थ भी हैं) को ग्रहण करते हुए 'साहित्यिक अभिप्राय' का अर्थ विनिश्चय करेंगे।

'साहित्यिक' शब्द का शब्दार्थ एवं मुख्यार्थ

'साहित्यिक' साहित्य शब्द का सम्बन्ध वाचक रूप है। इसका अर्थ-निर्धारण 'साहित्य' के अर्थ निर्धारण पर निर्भर है। विद्वानों ने 'साहित्य' शब्द के अर्थ विश्लेषण का बार-बार प्रयत्न किया है। वैसे तो 'साहित्य' को मनोनुकूल विशेषताओं से युक्त सिद्ध करने के लिए तरह-तरह की व्युत्पत्तियां की गई हैं, पर इसकी सहज और सर्वाधिक प्रचलित व्युत्पत्ति है, 'सहितस्य भाव: साहित्यम्' अर्थात् जिसमें सहित होने का भाव हो, वही साहित्य है।' इस व्युत्पत्ति के आधार पर साहित्य' शब्द का अर्थ हुआ, सहित होने का भाव। इससे स्पष्ट है कि 'सहित'

शब्द से ही 'साहित्य' शब्द निर्मित हुआ ।

'सहित' शब्द की व्याकरणिक विवेचना भी इस प्रसंग में करना आवश्यक है । 'धा' धातु के साथ 'क्त' प्रत्यय के संयोग से 'हित' शब्द निष्पन्न होता है, उसमें 'स' का योग होने से वह 'सहित' हो जाता है । 'सहित' में ष्यत् प्रत्यय लगाने से साहित्य बना जो भाववाचक संज्ञा है । अत: 'साहित्य' का स्पष्टबोध करने हेतु 'सहित' शब्द का अर्थज्ञान अपेक्षित है । डॉ० गुलाबराय ने यथातथ्य विचार करते हुए 'साहित्य' के समुचित अर्थबोध का सफल प्रयत्न इस प्रकार किया है — 'सहित' शब्द के दो अर्थ हैं -(१) सह अर्थात् साथ होना , (२) हितेन सह सहित अर्थात् हित के साथ होना अथवा जिससे हित सम्पादन हो । सह (साथ) होने के भाव को प्रधानता देते हुए हम कहेंगे कि जहाँ शब्द और अर्थ विचार और भाव का परम्परानुकूलता के साथ सह भाव हो वही साहित्य है । शब्द और अर्थ का सहित होना स्वाभाविक रूप से ही माना गया है ।[१]

साधारणतया 'साहित्य' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'लिटरेचर (Literature) शब्द का समानार्थी माना जाता है । लिटरेचर 'लैटर' (Letter) शब्द से बना है, जिसका अर्थ अ अक्षर । इस प्रकार 'लिटरेचर' का शाब्दिक अर्थ हुआ वर्ण समूह या वह सब कुछ जो अक्षरों के माध्यम से व्यक्त किया गया हो । जिस प्रकार शब्द और अर्थ के सहभाव मात्र को साहित्यमानने से 'साहित्य' शब्द की अर्थवत्ता अत्यन्त व्यापक हो जाती है, उसी प्रकार 'लैटर' (अक्षर) के माध्यम से जो कुछ प्रस्तुत किया जाय, उसको 'लिटरेचर' मानने से जो कुछ प्रस्तुत किया जाय, सबको 'लिटरेचर' मानने से 'लिटरेचर' शब्द की अर्थवत्ता भी अत्यन्त व्यापक बन जाती है । 'साहित्य' अथवा 'लिटरेचर' का ऐसा अर्थ स्वीकार करने से उसमें काव्य के अतिरिक्त प्रचार साहित्य व्यापारिक साहित्य, आयुर्वेद, ज्योतिष, विज्ञान आदि विविध विषय भी समाहित हो जायेंगे । संस्कृत और हिन्दी में एक अन्य शब्द है 'वाङ्मय' इसमें अर्थ की ऐसी व्यापकता पायी जाती है । वाङ्मय में सम्पूर्ण वाणी वितान समाविष्ट है । इस प्रकार साहित्य का सामान्य अर्थ हुआ, अक्षरों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया विचार । यह साहित्य का शाब्दिक, सामान्य, व्यापक और उथला अर्थ है ।

----

१. काव्य के रूप, पृ० २

प्रश्न उठता है कि क्या साहित्यिक विवेचन में साहित्य का यह अर्थ ग्राह्य है। इसका सीधा सा उत्तर है कि सामान्य स्तर पर तो यह अर्थ मात्रा तथा समूह आदि का बोध कराने के लिए ग्राह्य हो सकता है, पर साहित्य के गुणात्मक विवेचन में इस सामान्य अर्थ पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। इसके लिए हमें साहित्य के सामान्य और व्यापक अर्थ के सहारे उस मुख्यार्थ की पकड़ करनी होगी जो वस्तुत: रूढ़ार्थ है। अक्षरों एवं शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने वाला प्रत्येक आलेख सामान्य अर्थ में ही ~~प्रस्तु~~ साहित्य कहला सकता है, रूढ़ार्थ में तो अक्षरों एवं शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत किए जाने वाले आलेखों में भी वही आलेख साहित्य की संज्ञा प्राप्त कर सकता है जो अनुभूति प्रवण एवं संवेदनात्मक हो, तथा सरसता एवं रमणीयता से युक्त हो।

साहित्य की परिभाषा क्या है? इस पर साहित्यिक चिन्तकों ने विविध पक्षों से विचार किया है, उन सबकी चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं। अपने सीमित अर्थ में 'साहित्य' शब्द काव्य का पर्याय है। यह साहित्य का गूढ़ार्थ है। "साहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ पर आश्रित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है। व्यापक अर्थ में 'साहित्य' ऐसी शाब्दिक रचना मात्र का वाचक है जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो, अपने रूढ़ अर्थ में वह काव्य भावना प्रधान साहित्य का पर्याय है[१]। साहित्यिक अभिप्राय में 'साहित्यिक' शब्द का आधारभूत 'साहित्य' शब्द इसी रूढ़ार्थ का वाहक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि 'साहित्य' शब्द को ही सम्बन्धवाचक रूप देकर 'साहित्यिक' शब्द बना है, जो अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द से बने हुए शब्द 'लिटरेरी' का समानार्थी है। इस प्रकार 'साहित्यिक' (लिटरेरी) शब्द का प्रयोग भी इसी भाव के लिए किया जाता है। विवेच्य विषय के अन्तर्गत 'साहित्यिक' अथवा 'लिटरेरी' शब्द का यही अर्थ ग्राह्य है। डॉ० मैडाक्स फोर्ड ने 'लिटरेचर' के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है -

"इट इज़ देयरफोर इन द सेन्स आफ क्रिएटिव इमैजिनेटिव आर पोएटिक वर्क दैट वी शैल हैन्स फोर्थ इम्प्लाय द वर्ड लिटरेचर[२]"।

इसप्रकार 'साहित्य' संज्ञा का प्रयोग रचनात्मक, कल्पनाप्रवण अथवा ~~काव्यात्मकरचना~~ के लिए विधेय है[३]।

---

१. डॉ० गुलाबराय, काव्य-के-रूप, पृ० ३

२. डॉ० मैडाक्स फोर्ड-द मार्च आफ लिटरेचर, पृ० १५

३. डॉ० रमाशङ्कर तिवारी-काव्य-चिन्ता, पृ० १०

अभिप्राय शब्द का शब्दार्थ एवं मुख्यार्थ –

विवेच्य विषय में दूसरा शब्द जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है वह है 'अभिप्राय' । 'अभिप्राय' शब्द का सामान्य अर्थ है उद्देश्य, प्रयोजन, इच्छा, आशय, मतलब, राय, सम्बन्ध आदि ।[१] अमरकोश के अनुसार 'छन्द' एवं 'आशय' अभिप्राय के पर्याय हैं ।[२] 'तात्पर्य' को भी 'अभिप्राय' का समानार्थी माना जाता है । ये सभी 'अभिप्राय' के सामान्य एवं व्यापक अर्थ हैं जो इसके मुख्यार्थ (रूढ़ार्थ) तक पहुंचने में सहायक सिद्ध होते हैं रचना के क्षेत्र में 'अभिप्राय' शब्द अब मात्र इन सामान्य अर्थों का वाहक नहीं रहा । यह विशेष अर्थ का वाहक बन गया है । इसका विशेष अर्थ परम्परागत तत्व एवं रूढ़ि का समीपवर्ती है । यह अर्थ परिवर्तन अर्थ संकोच के कारण हुआ है । रचना या कला के क्षेत्र में रचयिताओं या कलाकारों द्वारा सामान्य अभिप्राय से जिन वस्तुओं, रूपों, रंगों, शिल्पों एवं क्रियाओं को बार-बार अपनाया गया उन्हें 'अभिप्राय' कहा जाने लगा । अभिप्राय को मुख्यत: कला के क्षेत्र में ग्रहण किया जाने वाला एक पारम्परिक तत्व मान लिया गया । वास्तुकला से लेकर मूर्तिकला, चित्रकला संगीतकला तथा काव्यकलातक में अभिप्राय का अस्तित्व प्रकट रूप से विद्यमान है ।

'अभिप्राय' अंग्रेजी के 'मोटिफ' (Motif) शब्द का समानार्थी है जो मोटिव (Motive) से बना है । अंग्रेजी शब्द 'मोटिफ' का भी आशय रचना के क्षेत्र में अपनाये जाने वाले पारम्परिक तत्त्वों से ही माना जाता है । इसलिए 'अभिप्राय' तथा मोटिफ' अब निर्विवाद पर्याय मान लिए गए हैं । संकुचित एवं रूढ़ अर्थ में ये दोनों शब्द समानार्थी हैं, पर्याय हैं और पारिभाषिक शब्द भी । इस प्रकार के अध्ययन की दिशा में इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा

में होता रहा है । आगे प्रस्तुत अध्ययन में हम 'अभिप्राय' और 'मोटिफ' को एकार्थवाची मानकर प्रयोग करेंगे ।

अभिप्राय (मोटिफ) की परिभाषा

पाश्चात्य विद्वान जे० शिप्ले ने मोटिफ की परिभाषा इस प्रकार की है -- Motif - ' a word or a pattern of thought which recurs in a similar situation or to evoke a similar mood within a work or in various works of genre.'[1]

अर्थात् अभिप्राय उस शब्द अथवा एक साँचे में ढले हुए विचार को कहते हैं जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मन:स्थिति और समान प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है । शिप्ले द्वारा की गई यह परिभाषा अभिप्राय के केन्द्रविन्दु को स्पर्श करती है । डॉ० ब्रजविलास श्रीवास्तव ने इसे एक सामान्य परिभाषा बताया है[2] क्योंकि विभिन्न कला रूपों में इसका विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है ।

श्री रायकृष्णदास ने अभिप्राय को कला के विचार से परिभाषित किया है । अपनी पुस्तक 'भारत की चित्रकला' के आरम्भ में कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इन्होंने अभिप्राय का आशय इस प्रकार स्पष्ट किया है --"कला में अभिप्राय का अर्थ होता है कोई चल वा अचल सजीव या निर्जीव प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृति एवं अतिरंजित आकृति मुख्यत: सजा-वट के लिए किसी कलाकृति में बनायी जाय ।[3] विभिन्न कलाकृतियों में सौन्दर्य एवं सज्जा के उद्देश्य से अपनाए जाने वाले अवयव बार-बार प्रयुक्त होकर अभिप्राय बन जाते हैं । वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं संगीत कला में अभिप्राय का प्रकट अस्तित्व मिलता है । उदाहरण के लिए वास्तुकला में मस्जिद, मन्दिर, गिरिजाघर

----

१. Dictionary of World Literature. Page 274.

२. पृथ्वीराजरासो में कथानक रूढ़ियां, पृ० १६

[illegible]. [illegible]ष्णदास-भारत की चित्रकला(देखिए पारिभाषिक शब्द-सूची के अन्तर्गत '[illegible]' शब्द की व्याख्या)

आदि के निर्माण में परम्परागत रूप से बनने वाले अंग अभिप्राय हैं, मूर्तिकला में श्रीकृष्ण की मूर्तिवंशी बजाते हुए त्रिभंगी मुद्रा में ही बनाना अभिप्राय है, चित्रकला में सूर्योदय के चित्रण में खिलते हुए कमल का चित्रण एक अभिप्राय है तथा संगीत में गायकों द्वारा बार-बार गुनगुनायी जाने वाली ध्वनियाँ भी अभिप्राय हैं ।

जिस प्रकार उपर्युक्त कलाएँ हैं और उनके अभिप्राय या मोटिफ हैं उसी प्रकार साहित्य रचना या काव्यरचना भी एक कला है और इसके भी अभिप्राय होते हैं जिन्हें साहित्यिक अभिप्राय (लिटरेरी मोटिफ़) कहा जाता है । इसी को कहीं-कहीं काव्यात्मक अभिप्राय काव्यगत अभिप्राय या काव्य सम्बन्धी अभिप्राय भी कहा गया है । डॉ० ब्रजविलास श्रीवास्तव ने काव्य सम्बन्धी अभिप्राय की चर्चा करते हुए लिखा है -'साहित्य के क्षेत्र में अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण प्रत्येक देश के साहित्य में कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन जाती हैं, और उनका यान्त्रिक ढंग से साहित्य में प्रयोग होने लगता है । इन सभी रूढ़ियों को विद्वानों ने साहित्यिक अभिप्राय (लिटरेरी मोटिव्स) के नाम से अभिहित किया है ।'[1] डॉ०श्रीवास्तव का यह कथन बहुत साफ और स्पष्ट है, वे साहित्यिक रूढ़ि को ही साहित्यिक अभिप्राय मानते हैं ।

'हिन्दी साहित्य कोश' में भी साहित्यिक अभिप्राय के बारे में यही बात कही गई है -'सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है ... प्रत्येक देश के साहित्य में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और यान्त्रिक ढंग से उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है । इन सभी रूढ़ियों को 'साहित्यिक अभिप्राय' कहते हैं ।'[2]

इन परिभाषाओं से साहित्यिक अभिप्राय का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है और पारिभाषिक पद होने से इसका जो विशेषार्थ है उसके सम्बन्ध

---

१. पृथ्वीराजरासो में कथानक रूढ़ियाँ, पृ० २०

२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १(संपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा) पृ०२०५

में कोई भ्रम नहीं रह जाता है । फिर भी यहां एक तथ्य पर किंचित् विचार कर लेना आवश्यक है वह यह कि क्या साहित्यिक रूढ़ि तथा साहित्यिक अभिप्राय सर्वांश में एक ही हैं अथवा उनमें कुछ अन्तर भी है ।

साहित्यिक रूढ़ि एवं साहित्यिक अभिप्राय में साम्य-वैषम्य

पूर्वोल्लिखित परिभाषाओं में साहित्यिक रूढ़ियों को ही साहित्यिक अभिप्राय मान लिया गया है । यह सच है कि दोनों का मूलभूत आशय एक ही है, अत: दोनों को समानार्थी माना जा सकता है । सामान्यदृष्टि से देखने पर साहित्यिक रूढ़ि (काव्यरूढ़ि) एवं साहित्यिक अभिप्राय में कोई स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत नहीं होता किन्तु सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर दोनों में क्रमश: स्थूलता और सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर दोनों में क्रमश: स्थूलता और सूक्ष्मता का, लघुता और विशालता का तथा संकीर्णता और व्यापकता का अन्तर प्रतीत होता है । दोनों के साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डालने वाले कुछ ध्यातव्य तथ्य इस प्रकार हैं —

साम्य

१. दोनों का सम्बन्ध साहित्यिक रचनाओं से है ।
२. दोनों में परम्परा का प्रभाव निहित रहता है ।
३. दोनों में अनुकरण और अनुसरण की भावना प्रधान रहती है ।
४. दोनों का अस्तित्व अधिक से अधिक रचनाओं में रचयिताओं द्वारा अपनाए जाने पर निर्भर है ।
५. दोनों के व्यवहार में यान्त्रिकता रहती है ।
६. दोनों की उपादेयता रचनात्मक उत्कर्ष में है ।

वैषम्य

१. साहित्यिक रूढ़ि अपेक्षाकृत स्थूल तत्व है तथा साहित्यिक अभिप्राय अपेक्षाकृत सूक्ष्म ।
२. साहित्यिक रूढ़ि का विषय क्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण है तथा साहित्यिक अभिप्राय का विषयक्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक । साहित्यि रूढ़ियों का समाहार साहित्यिक अभिप्रायों के अन्तर्गत सम्भव है,

का अध्ययन किया जाना इस स्थिति के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है । अभिप्राय के अधिकांश बड़े-बड़े अध्येता इसी अर्थ को स्वीकार करते रहे हैं, इनमें से कुछ का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं ।

स्टिथ थामसन -- स्टिथ थामसन को यद्यपि "मोटिफ" शब्द का व्यापक अर्थबोध था और उन्होंने अन्य क्षेत्रों में मोटिफ के होने की बात भी स्वीकार की है। निम्नलिखित पंक्तियां इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैं --

' In folklore the term used to designate any one of the parts into which an item of folklore can be analyzed. In folk art there motifs design forms which are repeated or combined with other forms in characteristic fashion. There are similarly recurring patterns which may be identified in folk music and folk song. The area in which motifs have been most studied and most carefully analyzed, however is that of folk narratives such as folk tales, legends, ballads and myths.' [1]

इस कथन से यह स्पष्ट है कि लोक गाथा, लोक-साहित्य के क्षेत्र में ही इसका विशेष अध्ययन हुआ है । कदाचित् इसीलिए स्टिथ थामसन ने अभिप्रायों की जो परिभाषा बतायी वह अभिप्राय मात्र की परिभाषा न होकर "कथानक रूढ़ि" की की परिभाषा हो गई -- ' A motif may also be essentially a short and simple story in itself an occurrence that is sufficiently striking or amusing to appeal to an audience of listeners.' [2]

अर्थात् मोटिफ अनिवार्यतः स्वयं में एक संक्षिप्त तथा साधारण कथा या घटना है जो श्रोता समुदाय को पर्याप्त प्रभावित करती और विनोद प्रदान करती है ।

---

१. Standard dictionary of Folklore, Mythology & Legends- Editor Maria Leach, page 752-53.

२. -do- page 752

डॉ० सत्येन्द्र -- इन्होंने लोक कथाओं में अभिप्राय का अध्ययन किया है और मोटिफ को कथानक रूढ़ि या कथा के कलातन्तुओं का वाचक माना है ।[१]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल -- ये अभिप्राय को इस प्रकार पारिभाषित करते हैं -- "लोक कथाओं में रोचकवस्तु उनके अभिप्राय हैं । ईंट गारे की सहायता से जैसे भवन बनते हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न अभिप्रायों (मोटिब्स) की सहायता से कहानियों का रूप सम्पादित होता है ।"[२]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी -- द्विवेदी जी ने लिखा है -"हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति एवं घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय दीर्घकाल से व्यवहृत होते आ रहे हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक रूढ़ियों में बदल गए हैं ।"[३]

डॉ० कृष्णादेव उपाध्याय - इनका कहना है -"साधारणतया"मोटिफ" शब्द का प्रयोग परम्परागत कथाओं के किसी तत्व के लिए किया जाता है ।[४]

श्री सत्यव्रत अवस्थी ने अभिप्रायों के विस्तार को लोककथा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता माना है ।[५] कहने का तात्पर्य यह कि कथा कहानियों एवं लोककथाओं के क्षेत्र में ही अभिप्राय का विशेष अध्ययन होने के कारण मात्र कथा रूढ़ि को ही अभिप्राय कहा जाने लगा था । कथारूढ़ि को प्राय: जो मोटिफ या अभिप्राय का पर्याय मान लिया गया,उसका कारण इसी से उत्पन्न भ्रम था । इस धारणा के अनुरूप अभिप्राय की जो पारिभाषाएं और व्याख्याएं हुईं वे वस्तुत: कथारूढ़ि (कथात्मक अभिप्राय या कथाभिप्राय) की परिभाषाएं और व्याख्याएं हैं, जो अभिप्राय का एक अंग मात्र है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में स्वतन्त्र अध्याय के अन्तर्गत

---

१. देखिए-लोक-साहित्य विज्ञान ,१० वां अध्याय, पृ० २८७
२. शिवसहाय चतुर्वेदी-पाषाणनगरी- भूमिका भाग
३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४
४. लोक-साहित्य की भूमिका, पृ० १७४
५. लोक-साहित्य की भूमिका, पृ० ७४

अभिप्राय के इस अंग का अध्ययन करते हुए इन परिभाषाओं पर गम्भीरता से विचार करेंगे ।

हिन्दी साहित्य के अभिप्रायात्मक अध्ययन का इतिहास -

अभिप्राय की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का अध्ययन विदेशी अध्येताओं ने भी किया है और भारतीय अध्येताओं ने भी । नीचे इनका क्रमश: उल्लेख किया जाता है -

१. विदेशी अध्येताओं द्वारा किया गया अध्ययन

प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान् मारिस ब्लूम फील्ड ने सर्वप्रथम अभिप्राय का अध्ययन आरम्भ किया । इन्होंने भारतीय कथाओं में पाए जाने वाले अभिप्रायों पर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया । ये स्वयं इनके व्यवस्थित अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए तथा इन्होंने अपने मित्रों एवं शिष्यों को भी इस दिशा में अध्ययन करने की ओर प्रेरित किया, जिनमें बथनार्टन, नार्मन ब्राउन आदि मुख्य हैं । ब्लूमफील्ड की योजना अपने अध्ययन तथा अन्य लोगों के सहयोग के आधार पर इस दिशा में कुछ ठोस कार्य करने की थी । परन्तु ये असमय में ही चल बसे और उनकी योजना भी अधूरी रह गई । फिर भी विभिन्न अभिप्रायों पर इनके कई लेख अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित हुए थे जैसे हिन्दू कहानियों में बोलने वाले पक्षी, हंसने रोने का अभिप्राय, सफेद बालों का अभिप्राय आदि ।[१] जर्नल आफ फिलालोजी में भी इनके कुछ लेख अभिप्रायों के बारे में प्रकाशित हुए थे । पेंजर द्वारा सम्पादित 'ओसन आफ स्टोरी' (कथासरित्सागर) की पाद टिप्पणियों में भी कहीं कहीं ब्लूमफील्ड ने अभिप्रायों की छिटपुट चर्चा की थी जैसे जादू की वस्तुएं, शरीर-प्रवेश, संकेत-भाषा, छिपकर सुनना आदि । स्वयं पेंजर ने भी अनेक अभिप्रायों पर विचार प्रस्तुत किया जो इस ग्रन्थ की कथाओं में पाए जाते हैं ।

मारिस ब्लूमफील्ड के साथ-साथ उनके शिष्यों और सहयोगियों का

---

१. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, खंड ३६, पृ० ५४-८६

पूरा एक दल था जो इस दिशा में कार्य रत था । इनमें डॉ० ई०डब्ल्यू० बलिंगम , डॉ० डब्ल्यू०एन० ब्राउन तथा डॉ० राथनार्टिन मुख्य हैं । इन तीनों ने कुछ कथापरक अभिप्रायों की खोजबीन करके उनका परिचय दिया ।

ऊपर जिन अध्येताओं का नामोल्लेख किया गया ,वे विदेशी हैं और उन्होंने विदेशों में ही प्राप्त भारतीय साहित्य के आधार पर इस दिशा में शोध-कार्य किया है । भारत में सर्वप्रथम टैम्पिल,स्टील की पुस्तक 'वाइड अवेक स्टोरीज (*Wide Awake Stories*) में दिए गए नोट्स ही अभिप्राय विषयक अध्ययन सामग्री के रूप में उल्लेखनीय हैं । वैरियर एलविन नामक शोधकर्ता ने उड़िया एवं कोशल प्रान्त की लोक कहानियों का अध्ययन करते हुए उनमें निहित अभिप्रायों का अपने 'फोक टेल्स आफ ओड़िया' तथा 'फोकटेल्स आफ महाकोशल' नामक ग्रन्थों में परिचय दिया । ये सम्पूर्ण अध्ययन कथारूढ़ियों तक ही सीमित रहे । अभिप्राय के अन्य पक्षों पर इन अध्येताओं का ध्यान नहीं गया ।

भारतीय साहित्य के अभिप्रायों के विदेशी व्याख्याताओं में डॉ० ए०बी० कीथ का नाम इस दृष्टि से विशेष महत्व का है कि उन्होंने 'कविसमय' को अभि-प्राय या मोटिफ माना[1]। इस प्रकार उन्होंने कथा-रूढ़ि से आगे बढ़कर अभिप्राय के अन्य पक्षों को उजागर करने का शुभारम्भ किया । इससे साहित्य में अभिप्राय की व्यापकता की सम्भावना स्पष्ट होने लगी ।

अभिप्राय का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करने वालों में आर्ने और स्टिथ थामसन सबसे आगे हैं । इन दोनों अध्येताओं ने कोश-प्रणाली अपनायी । आर्ने ने पहली बार कथामानक रूपों (*Tale Types*) की अनुक्रमणिका तैयार की । कथामानक रूप ही कुछ और परिपक्व होकर कथात्मक अभिप्राय का रूप ले लेते हैं । स्टिथ थामसन ने इसी पद्धति पर 'मोटिफ इण्डेक्स आफ फोक लिटरेचर' ~~नामक~~ (*Motif Index of Folk Literature*) नामक कोष तैयार किया जिसमें विश्व के अनेक देशों के लोक-साहित्य में पाए जाने वाले अभिप्राय संक-लित हैं । उनकी इस वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण भारतीय विद्वानों ने भी अपने

----

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३४३

अध्ययन में किया है । इसके अतिरिक्त भी बहुत से विदेशी अध्येताओं ने अभिप्रायों के अध्ययन की दिशा में कुछ न कुछ कार्य किया है किन्तु वे विशिष्ट परिणाम तक न पहुंचने के कारण उल्लेख्य नहीं हो सके ।

२. भारतीय अध्येताओं द्वारा किया गया अध्ययन -

अभिप्राय सम्बन्धी अध्ययन की दृष्टि से भारतीय अध्येताओं को दो वर्गों में रखा जा सकता है । पहला है संस्कृत और हिन्दी के काव्यशास्त्रियों का वर्ग जिन्होंने अभिप्राय के कुछ विशिष्ट पक्षों जैसे कविप्रसिद्धि कविशिक्षा आदि का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया । रस अलंकार आदि अनेक काव्यांगों में निहित रूढ़ तत्वों का भी अनुशीलन इन काव्याचार्यों ने समय समय पर किया है । यद्यपि ये समस्त आयाम साहित्यिक अभिप्राय के ही अन्तर्गत आएंगे पर इन काव्यशास्त्रियों ने इसे अभिप्राय न कहकर स्वतन्त्र विषय के रूप में ही प्रस्तुत किया । इनके विवेचन में यह सब काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का अंग बना हुआ है ।

कविसमय पर राजशेखर ने सर्वप्रथम विस्तार के साथ अपनी पुस्तक 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है [१] । इसके अतिरिक्त इसकी संक्षिप्त चर्चा विश्वनाथ कविराज ने साहित्य दर्पण में की है ।[२] हिन्दी के रीतिवादी आचार्यों ने कहीं गुण और कहीं दोष के अन्तर्गत इसे सम्मिलित किया है । आधुनिक युग के अनुशीलकों ने इस पर गम्भीर दृष्टि डाली । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काशी विद्यापीठ की शोधपत्रिका में 'कवि समय' पर विस्तृत लेख लिखा ।[३] श्री दिवाकर मणि त्रिपाठी ने 'कविपरिपाटी' नामक पुस्तक लिखी जिसमें 'कवियों के देश' में शीर्षक अनुच्छेद कविसमयों पर ही है ।[४] अपनी 'कवि रहस्य' नामक पुस्तक में डॉ० गंगानाथ झा ने कविसमयों की व्याख्या की है ।[५] पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में भी कवि समय पर बाबू गुलाबराय

---

१. द्रष्टव्य काव्यमीमांसा, ४,५,६ अध्याय

२. साहित्यदर्पण, ७।२२-२५

३. विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़, १९९३ वि०

४. कविपरिपाटी-पृ० १८१ - २०४

५. कविरहस्य, पृ० ७७-७९ ।

~~५. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५५३-५५९~~

का एक लेख है ।[१] इन सभी कार्यों का मूल आधार काव्यमीमांसा में किया गया कविसमयों का विश्लेषण ही है । हिन्दी में कविसमय के मौलिक एवं वैज्ञानिक अध्येता डॉ० विष्णुस्वरूप हैं जिन्होंने कविसमय-मीमांसा नामक शोध-प्रबन्ध लिखा है ।

कवि-शिक्षा का प्रभाव कवियों की वर्णन पद्धति पर विशेष रूप से पड़ा जिससे वर्णनात्मक अभिप्रायों की धारा प्रवहमान हुई । कविशिक्षा के भी प्रथम व्याख्याता राजशेखर ही हैं । काव्यमीमांसा के दो अध्यायों में कविशिक्षा सम्बन्धी बातों का उल्लेख हुआ है ।[२] केशव मिश्र ने अपने 'अलंकार शेखर' में कविशिक्षा तथा कवि के लिए वर्णनीय वस्तुओं की रूपरेखा नियत कर दी है ।[३] इसका पालन बहुत कुछ काव्य में किया भी गया । हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास ने अपनी कविप्रिया में इन सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया ।[४] बंधी बंधायी परिपाटी पर न चल कर बहुत कुछ मौलिक दिशा में चलने वाला भक्तिकाव्य भी इन नियमों की व्यापक जकड़-बंदी से अपने को मुक्त नहीं रख सका । अप्रत्यक्ष रूप से उस पर भी परिपाटी की गहरी छाप दिखायी देती है । संस्कृत काव्याचार्यों से लेकर हिन्दी के कवि आचार्यों तक ऐसी परम्परा तो अवश्य मिलती है जिसमें कविशिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को रखा गया है, किन्तु अद्यावधि कविशिक्षा के उक्त सिद्धान्तों को कसौटी मान कर किसी कवि के काव्य का अध्ययन और अनुशीलन प्रस्तुत करने वाला कोई कार्य नहीं हुआ । यद्यपि कवि समय और कविशिक्षा के व्याख्याता आचार्यों ने इसे स्वतन्त्र विषय के रूप में रखा, फिर भी चूंकि ये साहित्यिक अभिप्राय की परिधि में आते हैं इसलिए इन आचार्यों को ही साहित्यिक अभिप्रायों का प्रमुख और प्रारम्भिक व्याख्याकार माना जाना चाहिए । बहुधा आधुनिक युग के कुछ अनुशीलकों को यह

---

१. पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५५३-५५६

२. द्रष्टव्य, काव्यमीमांसा-अध्याय ७ और ८

३. ,, अलंकारशेखर-षष्ठ रत्न -द्वितीय मरीचि

४. ,, कविप्रिया ५ वां प्रभाव (सामान्यालंकार विवेचन)

गौरव प्रदान किया जाता है जिन्होंने 'अभिप्राय' संज्ञा का प्रयोग अपने अनुशीलन में किया है किन्तु जो मुख्यत: कथारूढ़ि के अध्येता हैं और बहुत ही परवर्ती हैं। साहित्यिक अभिप्राय के अध्ययन के इतिहास में इन अनुशीलकों का स्थान निश्चित ही महत्वपूर्ण है पर इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न संज्ञाओं में अभिप्राय की मूल भावना की अवधारणा काव्याचार्यों ने पहले ही कर ली थी भले ही उन्होंने 'अभिप्राय' संज्ञा का प्रयोग उसके लिए न किया हो।

साहित्यिक अभिप्राय के भारतीय अध्येताओं का दूसरा वर्ग उन शोधकों का है जो अभिप्राय की वस्तु का विवेचन करने के साथ-साथ 'अभिप्राय' संज्ञा का भी प्रयोग करते हैं। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, इन शोधकों ने मुख्यत: कथाओं और लोककथाओं में ही अभिप्राय तत्त्वों का अन्वेषण किया है। आधुनिक काल में हिन्दी के अभिप्रायात्मक अध्ययन के इतिहास में इन शोधकों की एक विशाल परम्परा देखने को मिलती है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस दिशा में अध्ययन की सर्वप्रथम प्रेरणा दी है। द्विवेदी जी ने सन् १६४२ में नागरी प्रचारिणी सभा में आयोजित व्याख्यानमाला के चतुर्थ व्याख्यान के अन्तर्गत चरितकाव्यों (विशेषत: पृथ्वीराजरासो) में निहित कल्पना-तत्व की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कथानक रूढ़ि के अस्तित्व से लोगों को परिचित कराया था। उनका अभिमत है कि कहानियों के प्रचलित अभिप्राय ही आगे चल कर कथानक रूढ़ि में परिवर्तित हो जाते हैं। वस्तुत: कथातत्व से सम्बद्ध अभिप्रायों और कथानक रूढ़ियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, दोनों के स्वरूप में साम्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि कथानक रूढ़ि कुछ अधिक परिपक्व होती है, तथा कभी कभी एकाधिक कथाभिप्राय मिलकर एक कथारूढ़ि बनाते हैं। कथाभिप्राय या कथानक रूढ़ि साहित्यिक अभिप्राय के समग्र अध्ययन का एक विशिष्ट पक्ष है, जिसकी खोजबीन लोक-साहित्य के अतिरिक्त कुछ शुद्ध साहित्यिक रचनाओं में करने वाले प्रथम विद्वान आचार्य द्विवेदी ही हैं।

डॉ० सत्येन्द्र को हिन्दी में अभिप्रायों के सर्वप्रथम व्यवस्थित और वैज्ञानिक अध्ययन का श्रेय प्रदान किया जाता है। इनके तीन ग्रन्थ जिनका नाम 'ब्रजलोक साहित्य के अभिप्रायों का अध्ययन', 'लोक-साहित्य-विज्ञान' तथा 'मध्ययुगीन काव्य का

लोकतात्त्विक अध्ययन है , इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं । लोक साहित्य-विज्ञान में अभिप्राय की सैद्धान्तिक गवेषणा की गई है तथा अन्य दोनों ग्रन्थों में क्रमश: ब्रज की लोककहानियों तथा मध्ययुगीन काव्यों की कथावस्तु में आयी हुई कथा-रूढ़ियों का अध्ययन किया गया है । इस अध्ययन में अभिप्राय कथाभिप्राय तक ही सीमित है ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यद्यपि अभिप्रायों का विस्तृत अध्ययन तो नहीं किया फिर भी अभिप्राय की और दृष्टिपात अवश्य किया है । श्री शिव-सहाय चतुर्वेदी द्वारा संकलित कहानी संग्रह `पाषाण नगरी` की भूमिका लिखते हुए उनका ध्यान उन कहानियों से सम्बद्ध अभिप्रायों की ओर स्वाभाविक रूप से गया है ।[१] डॉ० सावित्री सरीन ने अपने शोधप्रबन्ध `ब्रजलोक कहानियों के अभिप्रायों का अध्ययन` में लगभग ६०० अभिप्रायों की सूची प्रस्तुत की है ।[२] यह अध्ययन स्टिथ थामसन की अनुक्रमणिका पद्धति पर किया गया है । डॉ० नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक `हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग` में अभिप्राय या मोटिफ की संक्षिप्त चर्चा की है और बताया है कि अपभ्रंश साहित्य के अभिप्राय हिन्दी साहित्य में भी आ गये हैं ।[३] डॉ० ब्रजविलास श्रीवास्तव ने अपने दो शोध ग्रन्थों में जिनका नाम `पृथ्वीराज रासो की कथानक रूढ़ियां तथा `मध्यकालीन प्रेमगाथाओं की कथानक रूढ़ियाँ` है, में विषयानुसार कथानक रूढ़ियों का पर्यालोचन प्रस्तुत किया है । श्री शिवसहाय पाठक ने अपने लघु शोध-प्रबन्ध `पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य` में प्रसंगवशात् पद्मावत की कथानक रूढ़ियों पर विचार किया है ।[४] डॉ० श्रीधर सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध `तुलसी की कारयित्री प्रतिभा` में रामचरित मानस की कथानक रूढ़ियों की अति संक्षिप्त चर्चा की है ।[५] `अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक` शीर्षक शोध -

---

१. शिवसहाय चतुर्वेदी - पाषाणनगरी-भूमिका भाग

२. द्रष्टव्य `ब्रजलोक कहानियों के अभिप्रायों का अध्ययन` शीर्षक शोधप्रबन्ध

३. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २७७-२७८

४. पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य, पृ० २४-३१

५. तुलसी की कारयित्री प्रतिभा, पृ० २२१-२२३

प्रबन्ध में डॉ० प्रेमचन्द्र जैन ने दोनों के कथाभिप्रायों की गवेषणा की है ।[१] इसके अतिरिक्त श्रीविजयकुलश्रेष्ठ का 'परिषद् पत्रिका' तथा हिन्दुस्तानी पत्रिका में पृथ्वीराज रासो के कथाभिप्रायों पर प्रकाशित लेख भी इस दिशा में किए गए कार्यों की एक कड़ी है ।[२]

हिन्दी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं के लोक साहित्य के अध्ययन की विस्तृत परम्परा भी अभिप्राय के अध्ययन से जुड़ी हुई है । इसमें यत्र-तत्र स्फुट रूप से अभिप्रायों का अध्ययन हुआ है जो कथाभिप्राय तक ही प्राय: सीमित रहा है । इनमें से कुछ ने तो अभिप्राय की व्याख्या मात्र की है, और कुछ ने लोक-काव्य या साहित्यिक रचनाओं को आधार मानकर उनका अभिप्रायात्मक अध्ययन भी किया है । डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ० सत्यव्रत अवस्थी, डॉ० कन्हैयालाल-सहल ने अभिप्राय की ऐसी ही व्याख्याएं की हैं । हिन्दी साहित्य का अध्ययन भी लोकतत्व की दृष्टि से किया गया है, जिसमें प्रसंगानुसार अभिप्रायों पर भी कुछ न कुछ लिखा गया है । डॉ० सत्येन्द्र का 'मध्ययुगीन साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन' तथा डॉ० रवीन्द्र भ्रमर का 'हिन्दी भक्ति-काव्य में लोक-तत्व' नामक ग्रन्थ इसी प्रकार के अनुशीलन प्रस्तुत करते हैं ।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के अभिप्रायात्मक अध्ययन का एक विस्तृत इतिहास है । अध्येताओं में संस्कृत के काव्यशास्त्री भी है, मोटिफ के पाश्चात्य व्याख्याकार भी हैं और आधुनिक युग के हिन्दी के कुछ अनुशीलक और लोक-साहित्य के विद्वान् भी हैं । फिर भी साहित्यक अभिप्राय का सर्वांगीण अध्ययन हो नहीं सका । सभी अध्येताओं ने यथावकाश किसी न किसी रूप में इसे समझा किन्तु वे इसके सम्पूर्ण रूप की कल्पना नहीं कर सके । पाश्चात्य शोधकों ने कथाभिप्राय पर ही विशेष ध्यान दिया । संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने कविसमय और कविशिक्षा के अन्तर्गत आने वाली वर्णन परिपाटी का ही व्याख्यान किया हिन्दी के काव्य-चिन्तक और शोधक भी इनसे आगे बहुत समय तक नहीं बढ़े । कालान्तर में इन सभी अंगों को समाविष्ट करके साहित्य को अध्ययन और अनुशीलन की एक महत्वपू०

---

१. अपभ्रंश कथा-काव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक, पृ० १२६-१३२

२. द्रष्टव्य परिषद् पत्रिका (बिहार) वर्ष १२ अंक ३, पृष्ठ ५३-६५

दिशा का उद्घाटन हो सका । यह साहित्य के समग्र अभिप्रायात्मक अध्ययन की दिशा थी, जिसमें कथानक रूढ़ि (कथाभिप्राय) कवि समय, वर्णनात्मक अभिप्राय के अतिरिक्त पौराणिक अभिप्राय, काव्यरूपों में आने वाले अभिप्राय तथा अन्य काव्यांगों में निहित अभिप्राय आदि का विश्लेषण किया जाना अपेक्षित था । काव्यरूढ़ि या साहित्यिक रूढ़ि के रूप में साहित्यिक अध्ययन की इस दिशा से निकट परिचय होने पर भी जो कुछ कार्य हो सका वह अत्यन्त अल्प है ।

हिन्दी में समग्र अभिप्रायात्मक अध्ययन की दिशा में डॉ० शशि जोशी का शोधग्रन्थ 'काव्यरूढ़ियाँ -आधुनिक कविता के परिप्रेक्ष्य में' एकमात्र उल्लेखनीय प्रयास है । लेखिका ने यह अध्ययन काव्यरूढ़ि के रूप में किया है, जिसमें साहित्यिक अभिप्राय के कई पक्षों पर ध्यान दिया गया है जैसे नारी-सौन्दर्य परक रूढ़ियाँ, पौराणिक रूढ़ियाँ, शिल्पगत रूढ़ियाँ, अलंकारगत रूढ़ियाँ तथा कवि समय आदि । कथानक रूढ़ि का विशिष्ट पक्ष इस अध्ययन में कदाचित् इसलिए नहीं आया, क्योंकि यह आधुनिक काव्य से सम्बद्ध अध्ययन है, जिसमें कथारूढ़ियों का अभाव है । साहित्यिक अभिप्रायों का प्रभाव साहित्य-सृजन पर धीरे धीरे कम होता रहा है । मध्यकालीन हिन्दी काव्य की अपेक्षा आधुनिक हिन्दी काव्य पर तो इनका प्रभाव बहुत ही कम है , इसलिए मध्यकालीन हिन्दी काव्य का इस दृष्टि से अध्ययन अधिक आवश्यक है । यह विचित्र बात है कि ऐसा समग्र अध्ययन आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में पहले हुआ । साहित्य का अभिप्रायपरक अध्ययन जो सर्वांङ्गीण, व्यापक और व्यवस्थित भी हो आज भी नहीं के बराबर है । इस दिशा में अध्ययन की महती आवश्यकता है ।

अभिप्राय-निर्माण की प्रक्रिया :

अभिप्राय कैसे बनते हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है । किसी परिहार्य रचनातत्व की अनेक रचयिताओं द्वारा बार-बार आवृत्ति उसे अभिप्राय बना देती है चाहे वह वस्तु से सम्बद्ध हो अथवा भाव या क्रिया से । साहित्यिक अभिप्रायों के निर्माण में भी यही सिद्धान्त लागू होता है । किसी वस्तु भाव या क्रिया को ~~किसी को किसी~~ विशेष रूप से ग्रहण करने का आरंभ किसी एक रचनाकार द्वारा होता है और उसके समकालीन तथा परवर्ती रचनाकारों द्वारा उसका अनुकरण और

अनुसरण होने लगता है तो वह आचरण किसी पद्धति, परिपाटी, नियम, रीति अथवा प्रचलित विधि के रूप में मान्य हो जाता है और यही मान्यता अभिप्राय बन जाती है ।

अभिप्रायों का उद्भव परम्परा के फलस्वरूप होता है । परम्परा का निर्माण प्राय: शीघ्रता से नहीं होता बल्कि उसमें कुछ समय लगता है । अप्रत्यक्ष रूप में धीरे-धीरे परम्पराएं निर्मित होती हैं । कोई परम्परा किसी निश्चित क्षण में अस्तित्व में नहीं आती, ठीक इसी तरह अभिप्रायों का उद्भव भी किसी निश्चित क्षण में नहीं होता । अभिप्रायों के उद्भव की परिस्थितियां बनती रहती हैं और समय के साथ उनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । डॉ० शशि जोशी ने काव्य रूढ़ियों के सम्बन्ध में कुछ ऐसी ही बात कही है -"रूढ़ियां कभी किसी निश्चित क्षण में जन्म नहीं लेतीं । वे काल की अजस्र धारा में बहते - बहते अनगढ़ रूढ़ियां बन जाती हैं । सहज भाव, विचार, शैली और काव्य के प्रयोग निरन्तर स्वीकृति और व्यवहार से रूढ़ होने लगते हैं और जब तक उनका प्रयोग होता रहता है वे रूढ़ रहकर अतीत को वर्तमान में प्रक्षेपित करती रहती हैं ।[१] रूढ़ि और अभिप्राय में कोई तात्विक भेद न होने के कारण अभिप्राय की निर्माण-प्रक्रिया के लिए भी यही सिद्धान्त सत्य है । इतना अवश्य है कि रूढ़ि में निहित परम्परा अभिप्राय में निहित परम्परा से अधिक प्राचीन होती है । अल्प अवधि के भीतर भी कोई अभिप्राय अस्तित्व में आ सकता है, आवश्यकतामात्र इतनी ही है कि रचनाकारों द्वारा बहुलता के साथ उसके मूल रचना तत्व को अपनाया जाय । अभिप्राय की शर्तें रूढ़ि की अपेक्षा उदार और सुगम हैं । किसी पारम्परिक रचना धर्म का अनुसरण कम समय में उसे अभिप्रायत्व प्रदान कर देता है और किसी का अधिक । इस प्रकार विविध अभिप्रायों के निर्माण में समान समय नहीं लगता । अनुकरण तथा अनुसरण की प्रचुरता के कारण कोई रचना धर्म अल्प अवधि में ही अभिप्राय बन सकता है जबकि उसके अभाव में दीर्घ अवधि में भी कोई रचना धर्म अभिप्राय नहीं बन पाता । फिर भी सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि साहित्य रचना में अभिप्राय अन्यकलाओं की अपेक्षा अधिक समय से बनते हैं ।

---

१. डॉ० शशि जोशी-काव्यरूढ़ियां-आधुनिक कविता के परिप्रेक्ष्य में, पृ० ८

आरम्भ में जब किसी रचना धर्म का व्यवहार होता है,उस समय
उसका रूप अभिप्राय का रूप नहीं होता । बाद में भी एक दो रचनाकारों की रचना
में उस तत्व का पाया जाना संयोग से प्रेरित माना जा सकता है, किन्तु जब और
भी रचनाकार उसे आग्रह पूर्वक अपनी रचनाओं में ग्रहण कर लेते हैं तब ऐसा प्रतीत
होने लगता है कि यह पारम्परिक रचना धर्म बनचुका है । यही पारम्परिक रचना-
धर्म पुष्ट होकर अभिप्राय बन जाता है । इस प्रकार अभिप्राय निर्माण की प्रक्रिया
कालनिक्षेप के साथ-साथ चलती रहती है ।

किसी भी साहित्य का कालक्रमानुसार विस्तार से अध्ययन किया जाय
तो उनमें निहित अभिप्राय स्वत: स्पष्ट हो जाते हैं । एक ओर कवि अपने पूर्ववर्ती
कवियों के काव्य से आग्रहपूर्वक ऐसे पारम्परिक रचनाधर्मों को अभिप्रायमानकर अपने
काव्य में व्यवहृत करता है, दूसरी ओर अनजाने में वह अपने काव्य में ऐसे रचनाधर्मों
को भी छोड़ता रहता है जो कालान्तर में परवर्ती कवियों द्वारा अपनाये जाकर
अभिप्राय बन जाते हैं । बने हुए और साहित्यसृजन में प्रवाहित होते हुए अभिप्रायों
का व्यवहार जब बन्द हो जाता है, तब इन अभिप्रायों का अस्तित्व समाप्त हो
जाता है । इस प्रकार साहित्य सृजन के प्रत्येक युग में कुछ अभिप्रायों की नींव पड़ती
रहती है । कुछ अभिप्राय विकासशील रहते हैं, कुछ विकसित और प्रौढ़ावस्था में होते
हैं तथा कुछ अपना अस्तित्व खोते रहते हैं । अभिप्रायों के उद्भव और विकास की
यही प्रक्रिया साहित्यसर्जना में चलती रहती है ।

पुराने अभिप्राय समाप्त होते हैं और नवीन अभिप्राय बनते हैं । इस
स्थिति का प्रत्यक्ष आभास वहां किया जा सकता है जहां साहित्य में कोई अभि-
प्राय जीर्ण होकर समाप्त हो जाता है और कोई नवीन अभिप्राय उसका स्थान
ग्रहण कर लेता है । उदाहरणार्थ संस्कृत और हिन्दी में भाषा सम्बन्धी एक
मोटिफ प्रस्तुत किया जा सकता है । काव्य के लिए पहले संस्कृत भाषा का व्यव-
हार मोटिफ था बाद में ऐसा भी समय आया जब कवियों ने एकमत होकर इस
अभिप्राय को त्याग दिया और देशीभाषा का प्रयोग काव्य में करने लगे और धीरे
धीरे देशीभाषा का प्रयोग ही काव्य का अभिप्राय बन गया यह घटना संस्कृत और
हिन्दी साहित्य के सन्धिकाल की है ।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब रचनाधर्म प्राचीन होकर ही अभिप्राय बनते हैं तब प्राचीन और नवीन अभिप्राय की बात कहाँ तक उचित है ।

इसका सीधा सा उत्तर है कि अभिप्राय प्राय: प्राचीन रचनाधर्म होते अवश्य हैं पर इनकी प्राचीनता अनिवार्य नहीं है, बल्कि अधिक से अधिक अनुकरण और अनुसरण किया जाता ही अनिवार्य है, भले ही यह कार्य थोड़ी ही अवधि में हुआ हो । किन्तु प्राय: इस स्तर तक यह कार्य थोड़ी अवधि में हो नहीं पाता और रचना धर्म अभिप्राय बनते-बनते पर्याप्त पुराने हो चुकते हैं । दूसरी बात यह कि प्राचीनता के होते हुए सापेक्षिक मात्रा के विचार से प्राचीन और नवीन अभिप्राय होते हैं । कभी-कभी रचयिताओं के एक वर्ग में दूसरा और उसी के समानान्तर दूसरे वर्ग में दूसरा अभिप्राय चलता है । अभिप्रायों की परस्पर विरोधी स्थितियां भी होती है । दो अभिप्रायों या उससे भी अधिक अभिप्रायों का समन्वित रूप भी कभी-कभी तीसरा अभिप्राय बन जाता है । इस तरह अभिप्रायों की जन्मदात्री सिद्ध पारस्परिक स्थितियाँ भी अनेक अभिप्रायों की जन्मदात्री सिद्ध होती हैं । अभि-प्रायों की रचना प्रक्रिया ठीक इन्हीं रीतियों पर साहित्य में होती रहती हैं ।

अभिप्राय का धनीभूत रूप-टाइप

अभिप्राय अनुकरण की घनीभूत अवस्था में पहुंचकर 'टाइप' बन जाते हैं । यह स्थिति रचयिताओं में किसी अभिप्राय के अत्यधिक लोकप्रिय होने पर आती है । कुछ ही अभिप्राय 'टाइप' र की स्थिति तक पहुंच पाते हैं । मात्र कुछ कवियों के काव्यों में नहीं अपितु समूची काव्य-परम्परा में बहुत दिनों तक जब कोई अभिप्राय अविकल रूप से चलता रहता है तो वह 'टाइप' बन जाता है । साहित्य में कुछ उल्लेखनीय चरित्र जो अभिप्रायत्व की चरम सीमा पर पहुंच सके । टाइप बन गए , यथा राम, पाण्डव आदि का चरित्र सर्वतोभावेन उत्कृष्ट होने से सत्य और न्याय का 'टाइप' बन गया । इसी प्रकार रावण कौरव व कंस आदि चरित्र अधर्म और अन्याय का टाइप है । चरित्र तब टाइप बनते हैं जब सर्वसामान्य में उनके प्रति एक सी धारणा बद्धमूल हो जाती है । चरित्रांकन के अतिरिक्त काव्य के अन्य क्षेत्रों में भी इसी प्रकार के टाइप देखने को मिलते हैं यह सबसे अधिक वर्णनों में मिलता है उसमें भी विशेषत:

वस्तु वर्णन और प्रकृति वर्णन में । वस्तु विशेष के वर्णन में क्या-क्या कहा जायगा तथा वाटिका, वसन्त ऋतु आदि के वर्णन में किन उपादानों को ग्रहण किया जायगा इनकी सुनिश्चितता टाइप मानी जा सकती है । इस प्रकार अभिप्राय के अनुसरण की सघनता उसे टाइप की स्थिति तक पहुंचा देती है । कथाशिल्प के निर्माण में काम आने वाले लघु कथानक भी यदा-कदा टाइप की स्थिति तक पहुंचते हैं जो टेल टाइप (*Tale Type*)कहलाते हैं ।

अभिप्रायपरक नियमों के आधार --

साहित्यिक अभिप्रायों के अन्तर्गत जो दृढ़ नियम निश्चित हो जाते हैं, उनकीआरम्भिक प्रेरणा ३ स्रोतों से सम्भावित होती है ।

१. जन-भावना -- यह सबसे मुख्य स्रोत है । जनसाधारण के मन में जो धारणा विद्यमान है वह अनेक साहित्यिक अभिप्रायों की जन्मदात्री होती है । यह धारणा सत्य है कि असत्य,यह अलग बात है । अभिप्राय के लिए आवश्यक इतना ही है कि लोक उसे सत्य मानता हो यथा स्वप्न, दर्शन, शकुनापशकुन,जादू टोना इत्यादि पर आधारित अभिप्राय जो मुख्यत: कथाविषयक अभिप्राय होते हैं ।

२. कवियों की भावना --यह अभिप्रायात्मक नियमों का दूसरा प्रमुख आधार है । कविजन जो बात एकमत होकर कहते चले आते हैं वही अविकल रूप में कथ्य मान ली जाती है भले ही वह कथन असत्य क्यों न हो । कवि को मुख्य प्रयोजन कविता के सौन्दर्योत्कर्ष से ही होता है । इसमें खोट उत्पन्न करने वाले सत्य का भी वह तिरस्कार कर देता है तथा इसमें वृद्धि उत्पन्न करने वाले असत्य को भी वह ग्रहण कर लेता है । कवि का यह स्वभाव भी अनेक साहित्यिक अभिप्रायों को जन्म देता है । कविप्रसिद्धियों का सम्पूर्णभाग इसी के अन्तर्गत आता है ।

३. शास्त्रीय भावना --शास्त्रीय भावनाएं अभिप्राय की तीसरी मुख्य आधार हैं । शास्त्रीय भावनाएं दो वर्गों में रखी जा सकती हैं (क) काव्यशास्त्रीय भावनाएं (ख) अन्य शास्त्रों से सम्बद्ध भावनाएं । अन्य शास्त्रों में धर्मशास्त्र, पुराण आदि अभिप्राय निर्माण की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं काव्य के वाह्य और अन्त:पक्ष में शास्त्रीय नियमों का आधार जिस सीमा तक ग्रहण किया जाता है वह काव्यशास्त्र के नियमों

साहित्य के अभिप्रायपरक अध्ययन के वैसे तो कई प्रयोजन हो सकते हैं पर इसके मुख्य प्रयोजन -तीन हैं —

१. कवि के रचनात्मक आग्रह की पहचान
२. काव्य में निहित पारम्परिकता और कवि की निजता (मौलिकता) का सम्यक् बोध
३. सर्जक के वास्तविक रूप (कविरूप) का बोध ।

इनका विस्तृत विश्लेषण यहाँ क्रमशः प्रस्तुत है —

१. साहित्य के अभिप्राय-परक अध्ययन का प्रथम प्रयोजन है इस बात की पहचान करना कि रचयिता ने जो कुछ लिखा है वह साहित्यरचना की दृष्टि से ही लिखा है, या किसी अन्य दृष्टि से । कवि के काव्य का साहित्यिक मूल्यांकन करने के पहले यह सोचा जाना चाहिए कि क्या रचयिता की दृष्टि काव्यरचना ही रही या उससे भिन्न । यदि कृती ने काव्य की ही दृष्टि से काव्यरचना की है तभी उसे काव्य में पाए जाने वाले दोषों और अभावों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, अन्यथा नहीं । यदि कोई शब्दार्थमयी रचना काव्य के विचार से नहीं रची गई है, तो उसमें काव्यगत वैशिष्ट्य ढूंढ़ना उतना संगत न होगा । ऐसी स्थिति में यदि इस रचना में काव्यतत्व का अभाव पाया जाता है और दोषों का बाहुल्य ही मिलता है तो रचयिता उसके उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त रहता है क्योंकि रचयिता का उद्देश्य काव्यरचना करना न था । हम अपनी इच्छा से ऐसी रचना को काव्य की दृष्टि से भले परख लें और उसके एतत्सम्बन्धी वैशिष्ट्यों और अभावों से परिचित भी हो जायं किन्तु रचनाकार पर तभी उसका उत्तरदायित्व डाला जा सकता है जब उसने काव्यरचना का आग्रह लेकर ही रचना की हो । ऐसी स्थिति हो सकती है कि काव्य का आग्रह न रखते हुए भी कोई शब्दार्थ मयी रचना काव्य के तत्वों और गुणों से युक्त पायी जाय । हम अपनी निरपेक्ष दृष्टि से उसका मूल्यांकन भी कर सकते हैं,क्योंकि जिस रचना में काव्य के गुणों की अवस्थिति प्रतीत हो रही हो उसका साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन कोई अनुचित बात नहीं है । ऐसा तो होना ही चाहिए,परन्तु उसके पीछे यह धारणा भी होनी चाहिए कि इस रचना में काव्यत्व

की जितनी मात्रा है,वही प्रशंसनीय और श्रेयस्कर है । दूसरी भी स्थिति हो सकती है जो प्रथम स्थिति की विरोधिनी है । वह यह है कि काव्यत्व का आग्रह रखते हुए भी कोई शब्दार्थमयी रचना काव्यत्व से रहित रह जाय । ऐसी रचना का साहित्यिक मूल्यांकन तो अवश्यमेव होना चाहिए क्योंकि इसके सृजन में काव्यसम्बन्धी रचना का आग्रह विद्यमान था । इस रचना में गुण-दोष जहां भी पाए जाएंगे उनके लिए रचनाकार का उत्तरदायी होना स्वाभाविक ही है । इसलिए साहित्यिक मूल्यांकन की मूल आवश्यकता यह होती है कि इस बात का पता लगाया जाय कि रचनाकार काव्य रचना के आग्रह से युक्त था या नहीं ।

साहित्य का अभिप्राय विषयक अध्ययन इस महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करता है । काव्य में साहित्यिक अभिप्रायों की खोज करने से यह बात बहुत सीमा तकस्पष्ट हो जाती है कि रचयिता काव्यरचना का आग्रही था या नहीं । इस प्रकार के आग्रह के वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा उस साहित्य के सन्दर्भ में होती है जिनके बारे में कुछ भ्रान्त धारणाएं पुष्ट और प्रचलित हो जाती है और जिनके विषय में प्राय: यह कह दिया जाता है कि इसके पीछे साहित्य-रचना का नहीं अपितु कोई इतर उद्देश्य विद्यमान है । हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणाएं व्यक्त की जाती रही हैं और अनेकबार यह कहा गया कि इन रचनाओं के पीछे भगवद्भजन का ही उद्देश्य है । गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएं भी इसी धारणा से बहुत समय तक ग्रस्त रहीं । आज भी उनके साहित्य के विशुद्ध साहित्यिक-मूल्यांकन को धृष्टता की संज्ञा देने वाले श्रद्धालु पाठकों और विद्वानों की कमी नहीं है । इस बात का सम्यक् परीक्षण अवश्य होना चाहिए कि तुलसी का प्रयोजन मात्र राम की आराधना करना ही था या काव्य रचना करना भी । दूसरे शब्दों में यह विषय विचारणीय है कि तुलसी काव्यरचना के आग्रही थे या नहीं ।

हम इसके पूर्व कह चुके हैं कि रचना में निहित साहित्यिक अभिप्रायों के अध्ययन से इसमें काव्य-रचना के आग्रह के होने अथवा न होने का पता लगाया जा सकता है । इस आग्रह की जानकारी देने वाले कई उपाय हो सकते हैं । साहित्यिक अभिप्रायों का अध्ययन उनमें से एक है । काव्य के रूप में अपनी रचना को प्रस्तुत करने का आकांक्षी रचनाकार सहज ही काव्य-रचना के पारम्परिक तत्वों और विशिष्ट-

ताओं को अपनाता है । काव्य के यही पारम्परिक तत्त्व साहित्यिक अभिप्राय हैं । शब्दार्थमयी रचना में यदि साहित्यिक अभिप्राय पाए जायं तो रचनाकार का साहित्यिक आग्रह अपने आप प्रकट हो जाता है ।

२. साहित्य या काव्य के अभिप्रायपरक अध्ययन का दूसरा प्रयोजन है परम्परा की पृष्ठभूमि में कवि के काव्य का अध्ययन करते हुए उसकी निजता और मौलिकता से परिचित होना । काव्यरचना में भाव और शिल्प सम्पदा का कुछ भाग तो कवि पूर्ववर्ती काव्यपरम्परा से ग्रहण कर लेता है और कुछ वह निजी चिन्तन से भी काव्य को देता है । साहित्यिक अध्ययन में इस तथ्य का ज्ञान आवश्यक होता है कि किस अंश तक कवि ने परम्परा के रचनाधर्मों को ग्रहण किया है, और कित उसकी मौलिक देन है । कभी-कभी पारम्परिक रचनाधर्मों का विनियोग भी कवि मौलिकता के साथ करता है । साहित्य का न्यायसंगत मूल्यांकन उसमें निहित साहित्यिक अभिप्रायों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किए बिना हो ही नहीं सकता । किसी भी वस्तु को उसकी परम्परा की पृष्ठभूमि में देखना भी आवश्यक होता है । इससे यह पता चलता है कि वह वस्तु परम्परा से कितना ग्रहण कर सकी । उसका उत्कर्ष हुआ या अपकर्ष । पारम्परिक रचनाधर्म को ग्रहण करना भी नितान्त सुगम कार्य नहीं है क्योंकि उसमें नवीन रचनाधर्म का निर्माण भले न करना पड़े किन्तु उन्हें ग्रहण करने की परिस्थिति की योजना तो करनी ही पड़ती है । साहित्यिक अभिप्रायों का अध्ययन कवि की परम्पराग्राहिता मौलिकता और काव्य के उत्कर्षापकर्ष का परिचायक होता है ।

३. कवि के वास्तविक रूप (कविरूप) की पहचान साहित्य के अभिप्रायपरक अध्ययन का तीसरा प्रयोजन है । जब विविध रूपों से रचयिता का कविरूप आच्छन्न रहता है, उस समय उसके काव्य में निहित अभिप्रायों का अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उसका कविरूप हीसर्वप्रधान है अन्य रूप उसके सहायक हैं । हिन्दीके अनेक कवियों के सम्बन्ध में भ्रामक धारणाओं का विकास हुआ, विशेष रूप से भक्तिकालीन कवियों के सम्बन्ध में । इन कवियों का भक्त, साधक, उपदेशक, दार्शनिक, इतिहासकार रूप ही प्रधान माना जाता रहा, कवि रूप को गौण ही समझा गया । काव्यात्मक अभिप्रायों के अध्ययन से विदित होता है कि कवि के अन्य रूप उसके

कविरूप के सहायक ही होते हैं । उसकी भक्ति, साधना, उपदेश,इतिहास दर्शन आदि से सम्बद्ध तत्व काव्य के उपादान बन जाते हैं । मुख्य ध्येय तो काव्यसृजन ही होता है और सर्जक का मुख्य रूप भी कविरूप ही होता है,अन्य कुछ नहीं ।

काव्य एक यौगिक है जिसमें अनेक काव्येतर विषयों को भी भावना और शिल्प के माध्यम से योजित करके जब कवि कोई रचना तैयार करता है तब वह तैयार वस्तु काव्य ही रह जाती है मूल वस्तु नहीं । साहित्यिक अभिप्रायों का आकलन और साहित्य के सन्दर्भ में उसकी रचनाशीलता का अध्ययन इस तथ्य का द्योतक है कि कवि अन्य तत्वों को काव्य का तत्व बनाकर उन्हें ग्रहण कर लेता है । साहित्यिक अभिप्रायों का अध्ययन प्रकारान्तर से रचनाकार के वास्तविक रूप (साहित्यकार या कवि रूप) को पहचानने की चेष्टा है ।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य का युग और अभिप्राय-तत्त्व

मध्यकालीन हिन्दी काव्य जिस युग में रचा गया वह प्राचीन मान्यताओं धार्मिक एवं पौराणिक विश्वासों एवं जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में परम्परावादी विचारों का युग था । समसामयिक साहित्य पर भी इनका प्रभाव गम्भीरता से पड़ा । ऐसी परिस्थितियां साहित्यिक अभिप्रायों के विकास के लिए पर्याप्त अनुकूल होती हैं । जीवन में व्याप्त रूढ़ भावना साहित्य में भी अवतरित हुई, परिणाम-स्वरूप साहित्य में अभिप्रायों का प्राचुर्य दिखाई पड़ने लगा । साहित्यिक अभिप्रायों की इतनी अधिकता मध्यकालीन काव्य में रही कि उनका समग्र आकलन भी सहज सम्भव नहीं । इस काल के काव्य में साहित्यिक अभिप्राय काव्य-रूढ़ियों के स्तर तक विकसित दिखायी देते हैं ।

मध्यकाल में कथ्य और शिल्प दोनों के लिए प्राचीन मान्यताओं का अनुसरण किया गया । संस्कृत काव्य के आरम्भिक काल से लेकर अपने पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य तक जितनी भी जीवन्त परम्पराएं और पद्धतियां साहित्य में निर्मित हुई थीं उनमें से अधिकांश का ग्रहण मध्यकालीन कवियों ने किसी न किसी रूप में किया । भाव और कला दोनों क्षेत्रों में ऐसा देखने को मिलता है काव्य के मोटिफ तो संस्कृत काव्यकला-काल में ही बनने लगे थे । हिन्दी के आदिकाल में भी वे बढ़ते ही

रहे । फिर भी सभी क्षेत्रों में इनके उन्मुक्त विकास का जितना अनुकूल अवसर मध्यकाल में मिला वैसा पहले कभी नहीं मिला था । एक नयी दिशा की ओर मुड़कर भी मध्यकालीन कविता परम्परा के मोह को कभी त्याग नहीं सकी । इस कविता पर संस्कृत-काव्य का गहरा प्रभाव है । लोकभाषा में रचित होने के बावजूद भी यह शास्त्रीय संस्कारों से मुक्त नहीं हुआ । इस युग के कवियों में नवीनता के प्रति विशेष ललक भी न थी । सम्पूर्ण समाज प्राचीन परम्पराओं और परिपाटियों से बँधा हुआ था । साहित्य रचना के क्षेत्र में भी यही प्रवृत्ति छायी रही पुराने के प्रति व्यामोह इस युग की प्रधान प्रवृत्ति है । प्राचीन आधारों के एक दम छोड़कर नवीन को अपनाने की बात इस युग में कल्पना ही थी । इसयुग के काव्य में साहित्यिक अभिप्रायों की बहुलता इसी प्रवृत्ति का परिणाम है । थोड़े से अपवाद के साथ सम्पूर्ण मध्यकालीन काव्य एक लीक पर ही चलता हुआ प्रतीत होता है । इस युग के कवि नव्यता के आग्रही बहुत कम थे परम्परापोषक बहुत अधिक । =

मध्यकाल के अन्तर्गत दो काव्यकाल आते हैं भक्तिकाल और रीतिकाल । भक्तिकाव्य प्राचीन काव्य की ऐहिकता की प्रतिक्रिया में तथा रीतिकाव्य भक्तिकाव्य की अलौकिकता की प्रतिक्रिया में अस्तित्व में आया था । इस आधार पर यह तो माना जा सकता है कि दोनों में विषय और दृष्टिकोण की भिन्नता है । एक भक्तिभावनात्मक है दूसरा ऐहिकतामूलक किन्तु सूक्ष्म स्तरों पर दोनों ने ही अपने शिल्प का आधार परम्परागत काव्यधारा को ही बनाया है । भक्तिकालीन काव्य के वर्णन,कथासंयोजन भावाभिव्यक्ति के उपादान आदि नये बहुत कम हैं, पुराने अधिक । भक्तिकालीन काव्य की चारों शाखाओं में यदि कोई शाखा परम्परावाद से कुछ मुक्त है तो वह है संतकाव्य । किन्तु काव्यशिल्प के स्तर पर यह शाखा सूफ़ीकाव्य,रामकाव्य और कृष्णकाव्य तीनों से न्यून है । अन्य तीनों शाखाओं का काव्यशिल्प पूर्ववर्ती काव्य से बहुत सीमा तक प्रभावित है । रामकाव्य भाव और शिल्प दोनों क्षेत्रों में अपना उपजीव्य प्राचीन संस्कृत,अपभ्रंश और हिन्दी काव्य से ग्रहण करता है । कृष्णकाव्य कुछ मुक्त अवश्य है पर उसका भी वर्णन, रस विधान आदि स्वतन्त्र पथ पर नहीं चलता । पूर्ववर्ती साहित्य का भक्तिकालीन काव पर गम्भीर प्रभाव है । यह प्रभाव काव्य का भी है और काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का भी [illegible] क्तिकाव्य में इन्हीं कारणों से साहित्यिक अभिप्रायों की विशिष्ट

मात्रा पायी जाती है । जहाँ कहीं वह प्राचीन साहित्य की छाया से मुक्त है वहाँ वह अपने ही शीर्षस्थ कवियों द्वारा प्रशस्त की गई प्रणाली पर चलता है, इसीलिए ऐसी स्थिति में भी अभिप्राय की सम्भावनाएँ कम नहीं होती । कबीर, जायसी, सूर और तुलसी ने काव्य में जो मार्ग प्रशस्त कर दिया, परवर्ती कवि बहुत बाद तक उसी पर चलते रहे । भक्तिकालीन कवियों की इस अनुगामी मनोवृत्ति को जान लेने पर तत्कालीन काव्य में साहित्यिक अभिप्राय की प्रचुर मात्रा पर भी आश्चर्य नहीं होता ।

रीतिकालीन काव्य का दृष्टिकोण यद्यपि भक्तिकालीन काव्य से मूलत: भिन्न है किन्तु जहाँ तक साहित्यिक अभिप्रायों की संभावना के लिए अनुकूल परिस्थितियों का प्रश्न है वे रीतिकाल में भक्तिकाल की अपेक्षा कम न थीं । काव्य के शास्त्रीय लक्षणों पर विकसित अभिप्रायों का इस युग में वर्चस्व बना रहा । संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर जो लक्षणग्रन्थ इस युग में लिखे गये उनमें संस्कृतकाव्यशास्त्र के हजारों वर्षबाद भी काव्य को उसी पथ पर ले चलने की प्रेरणा निहित थी । कवियों ने आचार्य के रूप में काव्य के शास्त्रीय पक्ष का लक्षण ग्रन्थों के माध्यम से जो पुनर्कथन किया वह स्वयं उनकी अभिप्रायवादी प्रवृत्ति का द्योतक है । वर्णनपद्धति, रसविधान, अलंकार-योजना , छन्दविधान काव्य के गुण-दोष, इत्यादि सभी विषयों में प्राचीनमार्ग का अनुसरण ही इस काव्य की उल्लेखनीय प्रवृत्ति बन गई । इतिहास ग्रन्थों में यद्यपि इस काव्य के एक पृथक वर्ग (रीति-मुक्त काव्य) का उल्लेख किया जाता है किन्तु स्थूल रूप से न सही तो कम से कम सूक्ष्म स्तर पर उसमें भी साहित्यिक अभिप्रायों को मुक्त भाव से अपनाया गया है । सम्पूर्ण रूप से यही कहा जा सकता है कि मध्यकालीन काव्य की काव्य-चेतना वाह्यपक्ष से लेकर अन्त:पक्ष तक साहित्यिक अभिप्रायों से गम्भीरता से प्रभावित है ।

साहित्यिक अभिप्राय के वर्गीकरण के क्षेत्रीय आधार –

साहित्यिक अभिप्रायों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने पर एक प्रधान समस्या यह सामने आती है कि साहित्यिक अभिप्राय के समग्र रूप की अवधारणा को किन-किनवर्गों के अन्तर्गत रखा जाय । हम इसके पहले बता चुके हैं कि साहित्यिक

अभिप्राय के समग्र रूप का बोध पहले नहीं किया जा सका था । स्फुट रूप से ही शास्त्रकारों तथा अध्येताओं ने इसका परिचय दिया है । अभिप्राय का रूढ़ अर्थ कथात्मक रूढ़ि या कथाभिप्राय है इसलिए यह तो साहित्यिक अभिप्राय का प्रमुख अंग है ही । किन्तु इसके अतिरिक्त भी साहित्यिक अभिप्राय के कुछ क्षेत्र हैं । संस्कृत काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित कविसमय और कविशिक्षा के अन्तर्गत बताए गए वर्णन सम्बन्धी नियमों को भी साहित्यिक अभिप्राय के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाना चाहिए । कवि समय और कवि-शिक्षा के मूल व्याख्याताओं ने ऐसा नहीं किया है । इसका स्पष्ट कारण यह है कि उस समय साहित्यिक अभिप्राय की व्यापक परि-कल्पना नहीं थी । पौराणिक रूढ़ियों (मिथकों) का भी अपना विशेष क्षेत्र है जिसकी रूढ़ मान्यताएं काव्यरचना के सहायक उपादान का काम देती रही हैं । ये काव्य के विषय से यद्यपि भिन्न हैं परन्तु भक्तिकालीन काव्य के सम्बन्ध में इनका विशेष महत्व है और तुलसी के काव्य के सन्दर्भ में और भी । काव्यरूपविधान भी साहित्यसृजन का एक विशिष्ट आयाम है । इसमें भी अभिप्रायों की प्रेरणा आरम्भ से सक्रिय है । काव्यरूप जहां शास्त्रसम्मत है वहां शास्त्रीय लक्षणों ने अभिप्राय के रूप में उसे चिरस्थायी बनाया है तथा जहां उसका स्वरूप शास्त्र मुक्त अथवा स्वतंत्र विकसित है वहां भी वह अभिप्रायों से प्रेरित है । स्थूल रूप से तो साहित्यिक अभिप्राय के यही क्षेत्र प्रमुख हैं किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य काव्यांगों की योजना में भी अभिप्रायतत्व प्रच्छन्न रूप से घुले मिले रहते हैं जैसे रस-योजना, अलंकार-विधान, छन्दविधान, भाषा आदि में । इन काव्यांगों में अभिप्रायों का अपेक्षाकृत सूक्ष्म रूप विद्यमान है जिसका अध्ययन महत्वपूर्ण और रोचक है । काव्य में अभिप्रायों के यही मुख्य क्षेत्र हैं । इन सभी क्षेत्रों में छोटे-छोटे अनगिनत अभिप्राय (मोटिफ) काम करते हैं । साहित्यिक अभिप्राय के व्यवस्थित अध्ययन की सुविधा के लिए तथा इन अनगिनत छोटे छोटे अभिप्रायों को समेटने के लिए तथाकथित क्षेत्रों के आधार पर ही साहित्यिक अभिप्रायों का वर्गविभाजन किया जा सकता है । साहित्यिक अभि-प्रायों के वर्गविभाजन में हम इन्हीं क्षेत्रों का आधार ग्रहण करेंगे ।

साहित्यिक अभिप्राय का वर्ग-विभाजन

ऊपर बताए गए क्षेत्रीय आधारों के अनुसार साहित्यिक अभिप्राय के

मुख्य रूप से ६वर्ग बनते हैं --

१. कथाभिप्राय अथवा कथाविषयक अभिप्राय (Fiction Motif
२. पौराणिक अभिप्राय (Mythical Motif)
३. कविसमय या कविप्रसिद्धियाँ (Poetic Conventions)
४. वर्णनात्मक अभिप्राय (Discriptive Motif)
५. काव्यरूपगत अभिप्राय (Motif of Poetic Form)
६. साहित्यिक अभिप्राय और अन्य काव्यांग

मध्यकालीन कवियों के काव्यों मेंसाहित्यिक अभिप्राय का अध्ययन इन्हीं ६ वर्गों को आधार बनाकर किया जा सकता है । इन वर्गों में साहित्यिक अभिप्राय के सभी क्षेत्र समाविष्ट हो जाते हैं ।

तुलसी-साहित्य में साहित्यिक अभिप्राय की संभावना और उसके अध्ययन का औचित्य

तुलसी की रचनाओं में साहित्यिक अभिप्राय की व्यापक सम्भावनाएँ हैं । मध्यकाल में साहित्यिक अभिप्राय की जिन सम्भावनाओं तथा अनुकूल परिस्थितियों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, उनका गम्भीर प्रभाव तुलसी की रचनाओं पर पड़ा है। फलस्वरूप तुलसी-साहित्य में साहित्यिक अभिप्रायों की प्रचुरता है । इस प्रचुरता के दो मुख्य आधार हैं - प्रथम कवि की वह प्रवृत्ति जो स्वतन्त्रगामिनी कम है परम्परानुगामिनी अधिक तथा द्वितीय युगीन काव्यधारा, जिसने तुलसी की रचनाओं पर अपना प्रभाव डालकर साहित्यिक अभिप्रायों की मात्रा में वृद्धि की है । तुलसी वेद पुराणादि के प्रति आस्थावान थे । उनके स्वभाव में धार्मिक भावना की प्रधानता थी,इसलिए पौराणिक अभिप्राय उनकी रचनाओं में बहुत आ गए हैं । तुलसी अपने काव्य को लोक जीवन के समीप ले आना चाहते थे, इसका प्रभाव कथा-विषयक अभिप्रायों की मात्रा पर पड़ा है । इसके अतिरिक्त काव्यरूप,वर्णन पद्धति और अन्य काव्यांगों को परम्परापोषित रूप में अपनाने की धारणा तो काव्य की समसामयिक प्रवृत्ति का अंग थी ही । इन्हीं कारणों से तुलसी-साहित्य में साहित्यिक

अभिप्राय की व्यापक सम्भावनाएँ एकत्र हो गईं । ये साहित्यिक अभिप्राय तुलसी की साहित्यरचना के सुदृढ़ आधार बने हुए हैं । इनकी व्याप्ति और रचनात्मकता को समझे बिना तुलसी के काव्य के सम्बन्ध में कोई स्वस्थ धारणा बना सकना कठिन हो गया है ।

तुलसी-साहित्यके परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक अभिप्रायों का अध्ययन औचित्यपूर्ण ही नहीं परमावश्यक भी है । भक्तिकालीन काव्य और भक्त कवियों के प्रति जिस भ्रान्त धारणा के बन जाने की आशंका हम ऊपर प्रकट कर चुके हैं, तुलसी और उनका साहित्य भी उससे सुरक्षित नहीं है । तुलसी की रचनाओं में भक्तिभावना का रंग इतना प्रगाढ़ है कि उन्हें भक्त और उनकी रचनाओं को धार्मिक ग्रन्थ समझ लेने में भारत जैसे धर्मप्राण देश के पाठकों को तनिक भी असंगति का अनुभव नहीं होता । सम्पूर्ण भक्तिकाव्य के साथ यही कठिनाई है, उसमें भी उन रचनाकारों के साथ विशेष है जो श्रेष्ठ हैं तथा जिन्होंने अधिक मात्रा में साहित्य लिखा है । ऐसे रचनाकारों में सूर और तुलसी अग्रगण्य हैं । तुलसी भक्त हैं उन्होंने अपने आराध्यराम के प्रति भक्तिभाव का निवेदन किया है, इससे हमारा कदापि विरोध नहीं है । परन्तु साहित्यिक अध्ययन की समस्या इससे हल नहीं होती । इसके लिए अन्य सभी अवरोधों को हटाकर उनके साहित्य को शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखना होगा । यद्यपि अनेक शोध और समीक्षाग्रन्थों के माध्यम से तुलसी-साहित्य का साहित्यिक अध्ययन किया जा चुका है , परन्तु उसमें जितना काव्यानन्द है, उस तक अभी पहुँचा नहीं जा सका । साहित्यिक अभिप्रायों के अध्ययन के अभाव में न जाने कितने ऐसे रहस्य अब तक नहीं खुल सके जो तुलसी की काव्यचेतना से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं । तुलसी-साहित्य में निहित साहित्यिक अभिप्रायों के अध्ययन के औचित्य के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है ।

प्रस्तुत शोध-परक अध्ययन तुलसी-साहित्य में साहित्यिक अभिप्रायों की इसी व्यापक संभावना से प्रेरित है । अध्ययन के आधार वही ६ वर्ग हैं, जिनका उल्लेख साहित्यिक अभिप्रायों के वर्ग-विभाजन में हम पीछे कर चुके हैं ।

द्वितीय अध्याय

तुलसी-साहित्य में कथाभिप्राय

साहित्यिक अभिप्रायों के अन्तर्गत कथाभिप्राय एक प्रमुख अंग है । कथाभिप्रायों के सुदृढ़ आधार पर ही काव्य की कथा अधिष्ठित होती है । सम्पूर्ण विश्वसाहित्य मेंकथाभिप्रायों की स्थिति निर्विवाद रूप से विद्यमान है । भारतीय वाड्०मय में भी वैदिक संस्कृत से लेकर लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य तथा हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य तक कथाभिप्रायों का पर्याप्त विस्तार मिलता है ।

कथाभिप्राय की विविध संज्ञाएँ -- कथाभिप्राय को प्राय: 'कथानक-रूढ़ि' की संज्ञा से जाना जाता है । इसे सर्वप्रथम यह संज्ञा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रदान की । हिन्दी साहित्य में इस तत्त्व पर उन्होंने सर्वप्रथम विचार किया है ।[१] इसके अतिरिक्त कथाभिप्राय की अन्य संज्ञाएँ कथारूढ़ि, कथापरिधान, कथारूप ,कथा के रूढ़ तन्तु, प्ररूढ़ि आदि हैं । डॉ० नामवर सिंह ने इसके स्थानापन्न उपलक्षण ,प्रयोजन, संकेत प्रतीक आदि लघु शब्दों का व्यवहार किया है ।[२] ये अभिधान इसकी विशेषता और प्रवृत्ति की ओर इंगित तो अवश्य करते हैं पर कथावस्तु से इसका सम्बन्ध सूचित नहीं करते । इन्हें रूढ़िमात्र का अर्थवाहक कहा जा सकता है, कथाविषयक रूढ़ि का नहीं । शिवसहाय पाठक ने कथानक रूढ़ि को घटनापरक रूढ़ि कथामोड़क संकेत (टर्निंग पॉयन्ट) या विस्तार विन्दु आदि कहा है,[३] जो अल्प प्रचलित होते हुए भी अपेक्षा-

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ०-६८-८६

२. डॉ० नामवर सिंह-हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २७७

३. शिवसहायपाठक-पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य, पृ० ३१

कृत अधिक स्पष्ट है ।

लोक-साहित्य के ग्रन्थों में कथानक-रूढ़ि के ही समानान्तर 'अभिप्राय' शब्द का व्यापक प्रचलन देखने को मिलता है । ये दोनों ही शब्द एकार्थवाची हैं । अभिप्राय अंग्रेजी के 'मोटिफ' शब्द का समानार्थी है, यह हम प्रथम अध्याय में कह चुके हैं । लोक-साहित्य के भारतीय और पाश्चात्य अध्येताओं ने अभिप्राय (मोटिफ) मात्र को कथानक-रूढ़ि के आशय में व्यवहृत किया है,जो किंचित भ्रम का कारण हो सकता है,क्योंकि अभिप्राय और मोटिफ दोनों ही शब्द कथानकरूढ़ि से व्यापक अर्थवत्ता रखते हैं । इनका प्रयोग रूढ़िमात्र के लिए किया जाना किसी सीमा तक संगत है, कथा रूढ़ि के लिए नहीं । वस्तुत: अभिप्राय को कथाभिप्राय तथा 'मोटिफ' को 'फिक्शन मोटिफ' कहने पर ही कथानक रूढ़ि का अभीष्ट अर्थबोध होता है । साहित्यिक अभिप्रायपरक अध्ययन में यहाँ 'कथानक रूढ़ि' शब्द का व्यवहार न करके 'कथाभिप्राय' (फिक्शन मोटिफ) शब्द का प्रयोग किया जा रहा है जो कथानक-रूढ़ि से अपनी रंचमात्र पृथकता को भी व्यक्त करता है तथा साहित्यिक अभिप्राय के मेल में भी पड़ता है ।

<u>कथाभिप्राय की परिभाषा</u> - कथाभिप्राय की कई परिभाषाओं का उल्लेख हम प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में ही कर चुके हैं, जिन्हें परिभाषाकारों ने मोटिफ या अभिप्राय की परिभाषा के रूप में प्रस्तुत किया था, किन्तु जो वास्तव में कथाभिप्राय की परिभाषाएं हैं ।[१] पूर्वोल्लिखित परिभाषाओं में कथाभिप्राय के विशिष्ट पाश्चात्य अध्येता स्टिथथामसन की परिभाषा भी दी जा चुकी है ।[२] यहां उन परिभाषाओं का पुन: उल्लेख अनावश्यक पुनरुक्ति होगी ।

डॉ० कृष्णादेव उपाध्याय ने लोकगाथाओं के सन्दर्भ में कथाभिप्राय या मोटिफ (फिक्शन मोटिफ) को स्पष्ट करते हुए लिखा है --"साधारणतया मोटिफ शब्द का प्रयोग परम्पराागत कथाओं के किसी तत्त्व के लिए किया जाता

---

१. द्रष्टव्य प्रस्तुत प्रबन्ध की पृष्ठ संख्या ६,१०

२. ,, ,, ,, ६

है, परन्तु इस बात का ध्यान रखना होगा कि परम्परा का वास्तविक अंग बनने के लिए यह तत्त्व प्रसिद्ध होना चाहिए, जिससे उसे साधारण जनता स्मरण रख सके। अतएव यह तत्व साधारण न होकर असाधारण होना चाहिए। माता को मोटिफ नहीं कह सकते परन्तु निर्दयी माता या विमाता मोटिफ की संज्ञा प्राप्त कर सकती हैं। हिन्दी लोकगीतों में वर्णित दाहनिया सास मोटिफ का अच्छा उदाहरण है।"[1] जायसीकृत पद्मावत की कथानक रूढ़ियों का आकलन करते हुए श्री शिवसहाय पाठक ने कथानक रूढ़ि के बारे में लिखा है -"भारतीय कथाकार कथा को विकास देने के लिए तथा अभिलषित दिशा में मोड़ देने के लिए कतिपय सामान्य घटनापरक विशेषताओं का आश्रय लेता है जो दीर्घकाल से हमारे देश के कथा काव्यों एवं लोक कथाओं में व्यवहृत होते रहे हैं। इन वैशिष्ट्यों को पाश्चात्य विद्वानों ने 'मोटिफ' संज्ञा से अभिहित किया है।"[2]

उक्त सभी परिभाषाओं से कथानक रूढ़ि का आशय स्पष्ट हो जाता है। प्राय: सभी परिभाषाओं में कथानक रूढ़ि (जिसे सामान्यत: हम कथाभिप्राय ही मान रहे हैं) को परम्परागत असाधारण अतिप्रचलित लघुकथारूप कहा गया है। वस्तुत: कथाभिप्राय परम्परा में प्रचलित विशिष्ट एवं सुदृढ़ लघुकथात्मक आधार स्तम्भ हैं, जिनके सहारे बड़े-बड़े चरित काव्य, कथाएँ एवं आख्यायिकाएँ खड़ी होती हैं, ये आधार-स्तम्भ जिस दिशा में कथाकार जमा देता है, कथा अपने आप उधर की ओर मुड़ जाती है।

<u>कथाभिप्राय के मूल स्रोत</u> -- कथाभिप्रायों के मूल स्रोत हैं लोक प्रसिद्ध कथानक। अभिजात्य साहित्य की अपेक्षा लोक साहित्य में कथाभिप्रायों के रूप अधिक प्रचलित और जीवन्त हैं। लोककथा के ही क्षेत्र में अभिप्रायों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन भी किया गया है। बड़े से बड़े साहित्यिक ग्रन्थों की विषय-भूमि भी लोक ही होता है। साहित्यकार लोक से ही सामग्री लेकर अपनी कला के अनुसार उसका समन्वय

----

१. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय-लोक साहित्य की भूमिका, पृ० १७४

२. शिवसहाय पाठक-पद्मावत का काव्य सौन्दर्य, पृ० ३१

करता है । लोक जीवन लोकसंस्कृति की अभिव्यक्ति न्यूनाधिक मात्रा में शिष्ट-साहित्य में भी होती है । लोक साहित्य और अभिजात्य साहित्य के बीच वस्तुत: कोई स्पष्ट दीवार नहीं है और कथाभिप्राय भी लोक कथाओं में जन्मलेकर सम्पूर्ण अभिजात्य साहित्य के कथानकों में फैल गए हैं । लोक साहित्य और अभिजात्य साहित्य का वर्गभेद भी शनै: शनै: कम हो रहा है । लोक साहित्य जहां विकसित होकर शिष्ट साहित्य को स्पर्श करने लगता है वहीं शिष्ट साहित्य लोकोन्मुख होकर अपने को अपेक्षाकृत अधिक सजीव और सरस बनाता है । साहित्यकार को जब भी अपना साहित्यजनसामान्य के निकट लाने अथवा लोकप्रिय बनाने की अपेक्षा होती है तब वह उसे लोकवार्ता के तत्वों से अभिमंडित करता है । कहने का तात्पर्य यह है कि कथाभिप्राय लोक साहित्य में जन्मे अवश्य थे, पर वे वहीं तक सीमित नहीं रहे, बल्कि अभिजात्य साहित्य में पहुंचकर उन्होंने और भी रचनात्मक रूप धारण किया । अस्तु अभिजात्य साहित्य के अभिप्राय परक अध्ययन में कथाभिप्राय को भी यदि सबल आधार मानकर ग्रहण किया जाय तो किसी को कथमपि सन्देह नहीं होना चाहिए ।

तुलसी भक्तिकाल के कवि हैं । डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने हिन्दी भक्ति-साहित्य में लोक-तत्व का व्यवस्थित अध्ययन किया है । उनका विचार है --"कुल मिलाकर हिन्दी का भक्ति साहित्य लोकोन्मुख अधिक है शास्त्रोन्मुख कम । लोक-धर्म, लोकचित्त और लोकभाषा का साहित्य होने के कारण उसमें लोक साहित्य के विभिन्न तत्त्वों और लौकिक साहित्यिक रूपों का समावेश हुआ है ।"[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो मध्ययुग के सम्पूर्ण देशी साहित्य को लोक साहित्य की सीमा में समेट लिया है ।[2] डॉ० सत्येन्द्र ने अभिप्राय (कथाभिप्राय) की सैद्धान्तिक विवेचना अपनी "लोक साहित्य-विज्ञान" नामक पुस्तक में की है, तथा "मध्ययुगीन - साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन" में भक्ति-साहित्य का अभिप्रायपरक अध्ययन किया है ।

---

१. डॉ० रवीन्द्र भ्रमर-हिन्दी भक्ति-साहित्य में लोकतत्व , पृ० ११
२. श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी-विचार और वितर्क , पृ० २१४

भारतीय कथाभिप्रायों के अध्ययन का इतिहास -

भारतीय साहित्य में पाये जाने वाले कथाभिप्रायों का अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों ने भी किया है और भारतीय विद्वानों नें भी । अभिप्राय के समग्र अध्ययन की विस्तृत परम्परा की चर्चा प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में करते हुए हम कथाभिप्राय के पाश्चात्य और भारतीय अध्येताओं के एतत्सम्बन्धी कार्यों का उल्लेखकर चुके हैं ।[१] उसे यथावत् यहां पुन: बताना समीचीन नहीं । संक्षेप में यहां इतना ही ज्ञातव्य है कि कथाभिप्राय के पाश्चात्य अध्येताओं में मारिस ब्लूमफील्ड तथा उनके शिष्य और मित्रों जिनमें पेंजर, बेनिफी टॉनी, बेबर, नार्मन ब्राउन रूथ नार्टन आदि मुख्य हैं , का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । जिनपाश्चात्य विद्वानों ने भारत में ही रह कर कथाभिप्रायों का अध्ययन किया, उनमें टेम्पिल, स्टील तथा वैरियर एलविन का नाम प्रमुख है । कथाभिप्रायों को कोश रूप में प्रस्तुत करने का महनीय कार्य आर्ने और स्टिथ थाम्सन ने किया जो आज भी इस प्रकार के अध्ययन का ठोस आधार बना हुआ है ।

कथाभिप्राय के भारतीय अध्येताओं में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० सावित्री सरीन, डॉ० कन्हैयालाल सहल, डॉ० रवीन्द्रभ्रमर, डॉ० नामवर सिंह, तथा डॉ० ब्रजविलास श्रीवास्तव आदि का नाम प्रमुख है । इन विद्वानों ने विशेषत: हिन्दी के प्राचीन काव्य तथा लोक साहित्य के सन्दर्भ में कथाभिप्रायों का अध्ययन किया है । इन अध्येताओं के ग्रन्थों की चर्चा पीछे की जा चुकी है ।[२]

प्राचीन साहित्य में कथाभिप्रायों का विस्तार --

भारतीय वाङ्मय के आरम्भ से ही कथाविकास में कथाभिप्रायों की प्रेरणाशक्ति अन्तर्निहित मिलती है । ऋग्वेद की ऋचाओं के स्फुट वृत्तों से जब कथाभिप्रायों का संयोग हुआ तो अनेक वैदिक कथाएँ प्रचलित हो उठीं । डॉ० सत्येन्द्र ने ऋग्वेद में पाई जाने वाली वरुण की एक प्रार्थना जो शुन:शेष की है, को ग्रहण कर इस तथ्य की पुष्टि की है ।[३] ऋग्वेद में इसका कोई वृत्त नहीं मिलता किन्तु

१. देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध की पृष्ठ संख्या १३,१४
२ उपरिवत्   ३ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विकअध्ययन

वरदान, बलि, परीक्षा, भविष्यवाणी, रूपपरिवर्तन पुनरुज्जीवन आदि अनेक कथा-
भिप्रायों के जुड़ जाने से उपनिषत्काल तक इसका एक अच्छा सा कथानक बन गया है ।
इससे स्वत: सिद्ध है कि कथाओं के विकास में कथाभिप्रायों का परोक्ष योगदान
वैदिक काल से ही मिलने लगा था ।

संस्कृत के समस्त विश्वप्रसिद्ध कथाग्रन्थ जैसे बृहत्कथा , कथासरित्सागर
और पंचतन्त्र आदि की कथाएँ पूर्णरूपेण कथाभिप्रायों के आधार पर विकसित हुई
हैं । अन्य सभी कथा एवं आख्यायिका ग्रन्थों में निरपवाद रूप से कथाभिप्रायों की
स्थिति मिलती है । बाणभट्ट की कादम्बरी में कथाभिप्रायों की एक भीड़ सी
दिखायी देती है । तीन-तीन जन्मों की कथा कहने वाला विद्वान् शुक (वैशम्पायन)
कथाभिप्राय की ही देन है । वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, माघ और दण्डी इत्यादि
संस्कृत के शीर्षस्थ कवियों के महाकाव्यों के विशाल कथानक कथाभिप्रायों की पीठिका
पर निर्मित हुए हैं । रामायण, महाभारत की अनेक कथाएँ विभिन्न कवियों एवं
कथाकारों के हाथों में पड़कर विविधरूप हो गयीं, इसका प्रमुख कारण कथाभिप्राय
ही है ।

पालि के जातक ग्रन्थों में उल्लिखित बुद्ध से सम्बद्ध कथाएं भी कथाभिप्रायों
के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकीं । जैन कवियों द्वारा रचित अपभ्रंश के चरित काव्य
भी इस प्रकार के रूढ़ कथानकों से भरे पड़े हैं । हिन्दी के आदिकालीन वीरगाथा-
ग्रन्थों में भी यही बात देखने को मिलती है । मध्यकाल के प्रेमाख्यानक काव्यों तथा
सगुणोपासक भक्त कवियों के कथात्मक एवं चरितात्मक प्रबन्धों में भी इन कथारूपों
का साम्राज्य है । पद्मावती चरित, चित्रावली, रसरत्न, मृगावती, मधुमालती आदि
प्रेमकाव्यों तथा रामचरित मानस जैसे अनर्घमहाकाव्य में कथाभिप्रायों की ऐसी प्रचुरता
विस्मय उत्पन्न करती है । मध्यकाल के कृष्ण चरितात्मक काव्य जैसे भ्रमरगीत, रुक्मि-
णी-हरण, सुदामा-चरित आदि में भी कथानक रूढ़ियाँ विद्यमान हैं । डॉ० सत्येन्द्र
ने प्रद्युम्नचरित, सुरति पंचमी, राजा पीपा की कथा, श्री पालचरित, सीताचरित,
रोहिणी कथा और भक्तामर चरित आदि लघुकथाग्रन्थों में अभिप्रायों का होना

बताया है । कथाभिप्रायों का इतना प्रयोग-विस्तार देख चुकने के अनन्तर यह विश्वास उत्पन्न होता है कि साहित्यिक कृतियों में जहां भी कथा की स्थिति होगी कथाभिप्राय का अस्तित्व अवश्य होगा ।

चूंकि कथाभिप्राय कथा से सम्बद्ध तत्व है, इसलिए मुक्तक रचनाओं में ये नहीं पाए जाते हैं । सिद्धों और नाथों के दोहों में निर्गुण सन्तों की स्फुट रचनाओं में तथा रीतिकाल के सुसज्जित मुक्तक छन्दों में कथाभिप्रायों का न होना स्वाभाविक है,क्योंकि इनमें किसी कथा को प्रस्तुत करना रचयिताओं उद्देश्य नहीं रहा है । किन्तु यहां यह भी बता देना आवश्यक है कि मुक्तक रचनाओं में जहां कोई क्षीण कथासूत्र भी लाया गया है, कथाभिप्राय स्वाभाविक रूप से आ गए हैं, उदाहरण के लिए विवेच्य कवि तुलसी की 'गीतावली' एवं 'कवितावली' नामक रचनाओं में न्यूनमात्रा में ही सही कथाभिप्राय आ गए हैं ।

तुलसी के काव्य में कथाभिप्रायों का प्रयोग --

तुलसी ने अपनी रचनाओं में कथाभिप्रायों का प्रयोग प्रचुरमात्रा में किया है । कथा को विकसित और पल्लवित करने का जो प्रमुख उद्देश्य कथाभिप्रायों के माध्यम से सिद्ध किया जाता है, उसे तुलसी ने बड़ी पटुता के साथ सिद्ध किया है । उनकी रचनाओं के विस्तृत कथ्यभाग में यद्यपि कथाभिप्रायों के सम्पूर्णतः प्रयोग का अवसर भी था किन्तु विषयवैविध्य न होने कारण तब तक के सभी प्रचलित कथाभिप्राय उनके काव्य में प्रयुक्त नहीं हो सके हैं । उन्होंने सर्वत्र रामकथा को ही अपना वर्ण्यविषय बनाया, इसलिए समस्त कथानक रूढ़ियों का समाहार उसमें कठिन था । दूसरी बात यह है कि कवि और कथाकार का उद्देश्य कथाभिप्रायों की सुदृढ़ पीठिका पर अपने कथानक को प्रतिष्ठित करना होता है, न कि एक निरुद्देश्य कथा गढ़कर कथाभिप्रायों की पूरी भीड़ को उसमें समेटना । अपनी अभीष्ट कथावस्तु को मनोनुकूल दिशा देने के लिए, कथा में मनोनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए, पात्रों के मनोनुकूल चरित्र-निर्माण के लिए, एवं अपनी कथावस्तु को विविध दृष्टियों से रचनात्मक बनाने के लिए जितने कथाभिप्रायों की आवश्यकता तुलसी को जान पड़ी, उतनी मात्रा में उनका ग्रहण उन्होंने किया । उनके द्वारा प्रयुक्त कथाभिप्राय शिल्प की दृष्टि से

अत्यन्त रोचक और संगत तथा मात्रा की दृष्टि से संतुलित हैं ।

कथाभिप्रायों के समावेश की दृष्टि से तुलसी की रचनाओं के ४ वर्ग किए जा सकते हैं --

१. सघन कथाभिप्रायों वाले काव्य - रामचरितमानस, जानकीमंगल और पार्वतीमंगल । इनमें कथाविकास अभीष्ट है और कथाभिप्रायों का प्रयोग सघन है ।

२. विरल कथाभिप्रायों वाले काव्य - गीतावली, कृष्णा गीतावली और कवितावली। इसमें स्फुट छन्दों के बीच-बीच से कथा-धारा प्रवाहित होती है । कथाभिप्रायों का प्रयोग अपेक्षाकृत विरल है ।

३. अल्पकथाभिप्रायों वाले काव्य --बरवै रामायण और रामलला नहछू, रामाज्ञाप्रश्न इनमें कथाधारा सूचनात्मक और क्षीण है । कथाभिप्रायों का प्रयोग भी अत्यल्प है ।

४. कथाभिप्रायों से रहित काव्य - विनयपत्रिका, दोहावली वैराग्य संदीपिनी। इनमें किसी कथा का प्रस्तुतीकरण अभीष्ट नहीं है और कथाभिप्रायों का प्रयोग भी नहीं हुआ है ।

कथाभिप्रायों की दृष्टि से तुलसी की समस्त रचनाओं में सबसे महत्वपूर्ण कृति है + रामचरितमानस । इसके कई कारण है --१. इसका क्षेत्र व्यापक है, २. कथाविकास के प्रति इसमें कवि सर्वाधिक सचेष्ट है । ३. महाकाव्य होने के कारण इसका आयाम काफी विस्तृत है, और इसमें कथाभिप्रायों की आवश्यकता सबसे अधिक है, इत्यादि ।

गीतावली, कृष्णागीतावली और कवितावली मुक्तक काव्य होने के कारण काफी सीमा तक कथाभिप्रायों की आवश्यकता से भी मुक्त हैं, किन्तु इन मुक्तकों के बीच से कथा को प्रवाहित करने का जो प्रशंसनीय कार्य तुलसी ने किया है, वह अनायास ही यत्र तत्र कथाभिप्रायों की आवश्यकता को जन्म देता है । चूंकि गीतावली में लगभग रामकथा का सम्पूर्ण भाग तथा कवितावली में भी अधिकांश कथ्य समेट लिया गया है अस्तु दोनों कृतियों का कलेवर काफी बड़ा हो गया है और

वृत्तान्त नहीं पाया जाता । इसे परवर्ती कथाकारों ने अपनाया है । तुलसी ने इसे अपनाकर न केवल कौतूहल और चमत्कार की सृष्टि की है अपितु रचनाओं में यत्र-तत्र रमणीय उक्तियाँ और मधुरचित्र भी इसी आधार पर प्रस्तुत किया है । रामचरित मानस में निषाद राम को बिना पैर धोये नाव पर न चढ़ाने के लिए कृतसंकल्प है और अहिल्या वृत्तान्त की ओर इंगित कर बड़ी मीठी चुटकी लेता है ।[1] कवितावली में विन्ध्य के तपस्वियों को राम की इस लीला से प्रसन्न दिखाया गया है ।[2]

यह कथाभिप्राय अत्यन्त प्राचीन है । डॉ० सत्येन्द्र ने इसकी पुरातनता पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है -" पत्थर होने का अभिप्राय अत्यन्त प्राचीन और अत्यन्त प्रचलित है । अहिल्या के पत्थर होने की कहानी तो हम सभी जानते हैं । पाषाणनगरी की प्रसिद्ध बुन्देलखण्ड की कहानी सभी हिन्दी क्षेत्रों में मिलती है । वह भी शाप का परिणाम है । ऐसी कहानियाँ भी बहुत प्रचलित हैं जिनसे किसी कठिन कार्य को करने के संकल्प से गिरा हुआ व्यक्ति किसी शोर को सुनता है और पत्थर हो जाता है । पाश्चात्य जगत में भी इसके अनेक प्रयोग हुए हैं । एक अभिशप्त शहर से भागते हुए लौट की स्त्री नमक का स्तम्भ बन गयी थी क्योंकि उसने पीछे फिर कर सौजेय और गोगेय पर दृष्टि डाली थी ।"[3]

'पत्थर की राजकुमारी' नामक प्रचलित लोक-कथा में किसी शाप प्रेरित आकस्मिक घटना से पूरे नगर में तथा राजमहल में सारे जीवधारी पत्थर हो जाते हैं । अन्त:पुर के प्रकोष्ठ में बैठी हुई सुन्दरी राजकुमारी भी पत्थर की हो जाती है । पूर्व निर्धारित समयावधि के बाद कोई सुन्दर राजकुमार आता है और अपनी तलवार से मार्ग बनाता हुआ अन्त:पुर तक पहुँचता है । जैसे ही वह राजकुमारी को छूता है, वह तुरन्त सजीव हो जाती है और उसके साथ ही नगर के सारे प्राणी जीवित हो

---

१. छुवत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन ते न काठ कठिनाई ।
   तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई । बाट परै मोरि नाव उड़ाई ।। रा०२।१००

२. क० ।२।२८

३. डॉ० सत्येन्द्र, लोक साहित्य-विज्ञान, पृ० ३२१ की टिप्पणी से उद्धृत ।

जाते हैं । इस प्रकार का समय निर्धारण अहिल्या के लिए भी था कि त्रेतायुग में भगवान रामावतार लेंगे तथा ऋषि विश्वामित्र के साथ मिथिला जाते हुए जब उसे पैर से स्पर्श करेंगे तब वह जीवित और शापमुक्त हो जायगी ।

६. मृगयारत राजा का घोर जंगल में भटक जाना, पिपासातुर होकर किसी आश्रम में पहुंचना --

सम्भावना के अनुसार राजा मृगया के लिए वन को जाता है, किसी पशु का पीछा करते हुए वह घोर जंगल में भटक जाता है । उसके सभी साथी पीछे ही छूट जाते हैं । शिकार पकड़ से छूट जाता है और राजा भूख प्यास से आकुल होकर जल की खोज में दत्तचित्त हो जाता है । खोजते खोजते वहीं पहुंच जाता है जहां पहुंचने से कथा आगे बढ़ सकती है और वहां पहुंचकर भी वह उसी से मिलता है जो कथा का आगामी पात्र होता है । बहुधा वह व्यक्ति कोई सुन्दरी स्त्री या कोई संन्यासी या मुनि होता है । सुन्दरी स्त्री प्राय: तपस्विनी होती है और उसका मन्दिर किसी सरोवर के तट पर होता है । आश्रमवासी मुनि भी जलाशयों के समीप रहते हैं । दोनों स्थितियों में पिपासातुर को जल मिल जाता है । कथाकार अपनी आवश्यकतानुसार पात्र को जहां चाहता है वहीं ले जाता है सुन्दरी स्त्री के पास अथवा आश्रमवासी मुनि के पास । बाणभट्ट कृत कादम्बरी में मृगयारत राजकुमार चन्द्रापीड जंगल में भटक कर अच्छोद नामक सरोवर के तट पर पहुंचता है और महाश्वेता नामक गन्धर्वकन्या से साक्षात्कार करता है ।

रामचरितमानस में प्रतापभानु एक वाराह का पीछा करते करते जंगल में भटक जाते हैं और जलकी खोज में घूमते हुए एक तन नामक कपटी मुनि के आश्रम में पहुंच जाते हैं । यहां एक से दूसरा कथाभिप्राय जुड़ता हुआ प्रतीत होता है । उक्तकथाभिप्राय का उद्देश्य भी घटना को अनुकूल दिशा में मोड़ना और गति देना है ।

इसी कथाभिप्राय का एक आंशिक प्रयोग वहां भी है जहां राम स्वर्णमृग का पीछा करते हैं, वह उन्हें दूर जंगल में ले जाता है और मरते समय ऐसा रहस्यात्मक

वचन बोलता है कि लक्ष्मण भी उधर ही चल देते हैं और पंचवटी के आश्रम से सीता-हरण की घटना घट जाती है । गीतावली का कवि मुक्तककार होने से कथा से जब इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखता तो वह वर्णन का आग्रही बनकर मृग का पीछा करते हुए राम का गत्यात्मक सौन्दर्य-चित्रण ही करता है ।[१]

१० सुधावृष्टि से मृतकों का जीवित होना --

सुधा में जीवित व्यक्ति को अमरत्व प्रदान करने तथा मृत प्राणियों को जिलाने की शक्ति का होना मिथकीय विश्वास है जिसकी चर्चा हम पौराणिक रूढ़ियों के अध्याय में करेंगे । कथा के बीच इस घटना को चरितार्थ कर दिखाना कथाभिप्राय का रूप ले लेता है ।

रामचरितमानस में लंकाकाण्ड में इस प्रकार का एक प्रसंग मिलता है । रावण का संहार कर चुकने के बाद राम जिस समय अयोध्या वापस लौटने की तैयारी करते हैं, उसी समय इन्द्र उनकीस्तुति करते हैं । राम के आदेश से इन्द्र आकाश में जाकर अमृत वर्षा कर देते हैं और युद्ध में मरे हुए बानर-भालु जीवित हो उठते हैं । सुधा-वृष्टि यद्यपि दोनों दल पर होती है, फिर भी रामपक्ष के योद्धा (वानर-भालु) ही जीवित होते हैं, रावण पक्ष के योद्धा (राक्षस) नहीं —

सुधावृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर । जिए भालु कपि नहिं रजनीचर ।।[२]

सुधावृष्टि से नायक-पक्ष के लोगों का ही जीवित होना इस कथाभिप्राय की एक पृथक विचित्रता और मौलिकता है ।

११. प्राणों की अन्यत्र स्थिति –

इस कथाभिप्राय का स्थूल अर्थ तो यह है कि किसी प्राणी का प्राण अन्य किसी वस्तु या स्थान में है । यह परम विचित्र और अस्वाभाविक कल्पना है और तुलसी-साहित्य में ऐसा कोई उदाहरण प्राप्त नहीं है । फिर भी इसका

---

१. गी।४।५

२. रा०।६।११४

सांकेतिक और प्रच्छन्न प्रयोग हमें मानस के उस प्रसंग में मिलता है जहाँ विभीषण राम से रावण के नाभिकुंड में पीयूष होने का रहस्य बताते हैं । रावण के प्राणों की स्थिति साधारण प्राणियों की अपेक्षा कुछ भिन्न थी और वह रहस्य जाने बिना तीक्ष्णतम प्रहारों से भी उसे मार सकना असम्भव था । यह प्रसंग विवेच्य कथाभिप्राय के मेल में पड़ता है ।

१२ अभिज्ञान या सहिदानी --

किसी पूर्व घटना का स्मरण कराने अथवा किसी तथ्य की साक्षी देने के लिए भारतीय साहित्यकारों ने इस कथाभिप्राय का उपयोग यथास्थान किया है । अभिज्ञान का अर्थ होता है शिनाख्त या पहचान और सहिदानी का अर्थ है निशानी । साहित्यरचना का यह उपादान सराहनीय है । कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक सम्पूर्ण रूप से इसी कथाभिप्राय पर आधारित है ।

गोस्वामी तुलसीदास ने इस कथाभिप्राय का प्रयोग किया है । सीता-न्वेषण हेतु प्रस्थान करते हुए हनुमान को धीरे से बुलाकर राम ने अपनी मुद्रिका उन्हें दी । अशोकवाटिका में उसे वृक्ष से नीचे गिराकर तदनन्तर स्वयं भी नीचे उतरकर हनुमान जी उसीके सहारे सीताजी के विश्वासपात्र बन सके । उन्होंने कहा —

यह मुद्रिका मातु मैं आनी । दीन्ह राम तुम कहँ सहिदानी ।।रा०५।१३

तुलसी का यह सहिदानी-प्रयोग परम्परा से हट कर कुछ नवीनता लिए हुए है । लौटते हुए हनुमान ने राम के लिए सीता की चूड़ामणि भी सहिदानी के रूप में लाकर दी थी ।

१३. वस्तु को देखकर सम्बन्धित व्यक्ति का स्मरण -

यह कथाभिप्राय अभिज्ञान या सहिदानी के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है, पर दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है वह यह कि अभिज्ञान या सहिदानी में निशानी किसी व्यक्ति द्वारा साभिप्राय दूसरे को दी जाती है, जबकि प्रस्तुत कथा-भिप्राय में प्रेमपात्र से सम्बद्ध वस्तुएं स्वत: दिखायी पड़ जाती हैं । उसमें वस्तुविशेष

और प्राय: एक वस्तु होती है जबकि इसमें अनेक वस्तुएं भी हो सकती हैं ।

इस अभिप्राय के सहारे गीतावली में एक बड़ा ही सजीव प्रसंग तुलसी ने चित्रित किया है । राम,लक्ष्मण और सीता के वन जाने पर मां कौशिल्या पुत्रों के धनुषबाण और पनही को देखकर वात्सल्य विभोर हो जाती हैं --

जननी निरखत बान धनुहियां ।

बार-बार उर नैनति लावति हरि जू की ललित पनहियां ।। गी०।२।५२

जिन वस्तुओं ने राम का सामीप्य लाभ किया है, वे ही उनकी स्मृति की उपादान बन गई हैं । कौशल्या मां धनुषबाण और पनही को हृदय और नेत्र से लगाती हैं और वात्सल्य की वर्षा कर देती हैं, जैसे वे राम को ही नयनों और हृदय से लगा रही हों । यह कथाभिप्राय जीवन का सत्य है और साहित्य का समर्थ उपादान भी ।

सुग्रीवद्वारा राम को दिए गए सीता के पटभूषण भी राम को प्रेम-विभोर कर देते हैं । उक्त दोनों स्थल क्रमश: वात्सल्य और शृंगार-भावना को आधार देते हैं ।

१४. अविचल प्रेम की परीक्षा --

साहित्यिक कथानकों में अविचल एवं एकनिष्ठ प्रेम की परीक्षा प्रचलित है । प्रेमी जिस प्रेमपात्र को प्राप्त करने की आकुल आकांक्षा लेकर देवी-देवों की आराधना करते हुए दृढ़ रहता है, उसके अतिरिक्त उसे अन्य तरह-तरह के लोभ देकर अथवा कठोर शर्त रखकर उसकी परीक्षा की जाती है और उसे उसकी दृढ़ता से डिगाने का प्रयास किया जाता है । महाराज दिलीप की गौ-सेवा और राजा हरिश्चन्द्र की सत्यता की परीक्षा हुई थी, और वे सफल रहे थे ।

तुलसी की रचनाओं में दो परीक्षाओं की घटना विद्यमान है (क) श्री पार्वती की प्रेम-परीक्षा (ख) सीता की अग्निपरीक्षा । पार्वती ने अपने प्रेम की एकनिष्ठता के कारण शिव को पतिरूप में प्राप्त किया तथा सीता ने अपनी निर्दो-षता सिद्ध की और सतीत्व प्रमाणित किया । निष्ठा एवं प्रेम की तीव्रता का बोध कराने के लिए ऐसी परीक्षाओं का साहित्यिक महत्व निर्विवाद है । पद्मावत में पार्वती द्वारा रत्नसेन की परीक्षा तथा लक्ष्मीद्वारा रत्नसेन की परीक्षा ऐसी रच-नात्मकता का प्रमाण है ।

रामचरितमानस में सती द्वारा राम की परीक्षा भी अग्रिम घटनाओं को प्रभावित करती है । कथाकार अपनी आवश्यकतानुसार परीक्षार्थी को सफल या विफल कर देता है ।

१५. प्रतिज्ञा एवं स्वयंवर पर आधारित विवाह – किसी राजकुमारी का विवाह नायक से अथवा किसी अभीष्ट पात्र से कराने के लिए कविप्राय: इन दोनों में से कोई एक विधि अपना लेता है । प्रतिज्ञा में कन्या के पिता किसी असम्भव कार्य का निर्धारण कर यह हठ कर लेते हैं कि जो ऐसा करेगा उसी के साथ अपनी कन्या का विवाह करूंगा । अन्य सारे उपस्थित जन उस कवि को किंचित् भी नहीं सम्पन्न कर पाते जबकि अभीष्टपात्र या कथानायक उसे सहज ही कर दिखाता है ।

तुलसी की रामकथा में भी जनक ऐसी ही प्रतिज्ञा करते हैं – बन्दीजन उनके प्रण की घोषणा यों करते हैं –

सोइ पुरारि कोदंड कठोरा । राज समाज आज जोइ तोरा ।
त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहिं बिचारि बरै हठि तेही ।। रा०।१।२५०

जनकपुर के नर-नारी राम को देखकर मन में ही उन्हें सीता के सर्वाधिक योग्यवर मानते हुए यह कहते हैं कि कहाँ ये लघु वय और किशोरावस्था वाले राम और कहाँ शंकर का कठोर धनुष । धनुषभंजन राम कर सकेंगे,इसमें सबको सन्देह था किन्तु राम ने उसे क्षण के मध्य में इस तरह तोड़ा कि किसी ने उसे टूटते भी नहीं देखा ।

तुलसी की रामकथा में दो स्वयंवरों की योजना हुई है ।
(क) माया नगर के राजा शीलनिधि की कन्या विश्वमोहिनी का स्वयंवर ।
(ख) विदेहराज जनक की कन्या सीता का स्वयंवर ।

प्रथम स्वयंवर की योजना एकदम मौलिक है और वह कथाविकास में अत्यधिक सहायक है । कारण कथा के रूप में वह सम्पूर्ण कथावस्तु की नींव है । द्वितीयस्वयंवर अब कथाभिप्राय नहीं रह गया है, बल्कि कथानक का अंग मान लिया गया है । जैसा कि हम इसके पूर्व कह चुके हैं, वाल्मीकि की रामकथा में सीता के विवाह हेतु कोई स्वयंवर आयोजित नहीं हुआ था । परवर्ती साहित्यकारों ने प्रतिज्ञा पद्धति और स्वयंवर पद्धति को एक में मिला दिया किन्तु वस्तुत: दोनों भिन्न हैं और उनकी एकता समझ में नहीं आती । स्वयंवर में कन्या स्वयं अपनी इच्छा से पति को

वरण करती है । हो सकता है कि आरम्भिक एवं मूल रामकथा में स्वयंवर का उल्लेख न रहा हो । तुलसी ने अपनी रामकथा में सीता स्वयंवर भी आयोजित किया इसका प्रधान उद्देश्य भूमण्डल के सभी राजाओं के मध्य अपने चरितनायक राम के वीरत्व का प्रतिपादन ही है ।

१६. तपस्या विषयक कथाभिप्राय --

इस तरह के दो कथाभिप्राय भारतीय साहित्य में प्रचलित हैं --
(१) किसी भी पुरुष, स्त्री, ऋषि मुनि नायक, नायिका द्वारा अथवा किसी राक्षस द्वारा कठोर तप किया जाना और आराध्यदेव को सन्तुष्ट कर अभीष्टसिद्धि का वचन या वरदान प्राप्त करना ।

(२) किसी को कठोर तपस्या में रत देखकर इन्द्रका डर जाना और उसका तपोभंग करने के लिए काम को नियुक्त करना ।

तुलसी की रचनाओं में अनेक स्थलों पर तपस्या विषयक कथाभिप्रायों के प्रयोग हुए हैं । पार्वती कठोरतपस्या करके शिव को प्रसन्न करती हैं, मनु शतरूपा भगवान को । दोनों का कथावस्तु की पीठिका के सुदृढ़ निर्माण में विशिष्ट योगदान है । रामचरितमानस में ही नहीं पार्वतीमंगल में भी उमाकी तपस्या का वर्णन है ।

१७. वरदान या आशीष --

इसका भी कथा-निर्माण में व्यापक योगदान सर्वविदित है । रामचरित मानस की सारी घटनाओं के पीछे कैकेयी द्वारा दशरथ से मांगे गए दो वरदान ही मूलकारण है । बालकाण्ड की कथा का अधिकांश भी मनुशतरूपा को भगवान द्वारा दिए गए वरदान पर अवलम्बित है । उत्तरकाण्ड की कथा में भी वरदान का प्रसंग है । रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण को भी कठोर तपस्या के अनन्तर वरदान माँगने का अवसर मिलता है ।

रामकथामें इस कथाभिप्राय का प्रयोग आरम्भ से ही कुछ विचित्र ढंग से हुआ है । हमेशा वर पाने वाला तत्काल वर के अन्तर्गत वरदेने वाले से कोई मांग कर लेता है किन्तु कैकेयी ने अपना वर मांगा नहीं बल्कि यथासमय मांगने हेतु आरक्षित रखा था ।

उन्हें दो वर देने हेतु दशरथ कब वचन-बद्ध हुए इसका तो अधिकतर रामकथा ग्रन्थों में वृत्तान्त ही नहीं मिलता मात्र एक सूचना मिलती है । उधर राज्याभिषेक की तैयारी हो रही है और इधर कैकेई के दो वरदान सारी कथा को दूसरी दिशा में मोड़ देते हैं ।

आशीष भी इसी जाति का लघुकथाभिप्राय है । गौरी सीता को अभीष्ट वर प्राप्ति का आशीष देती हैं, त्रिवेणी भरत को सतत् रामभक्त होने का आशीष देती है । ये सभी कथा विकास में सहायक हैं ।

१८. अभिशाप –

वरदान, तन्त्र-मन्त्र आदि की तरह अभिशाप के प्रति भी भारतीयजन-मानस की पूरी आस्था रही है । कथा के अन्तर्गत किसी पात्र का पतित एवं परिवर्तित रूप दिखाना जब भी अभीष्ट होता है भारतीय कथाकार लोकमानस के इस विश्वास से लाभ उठाता है और किसी ऋषि मुनि से उसे शाप दिला देता है । कभी-कभी किसी भावी एवं अनिष्टकारी घटना को भी शाप के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है । शाप देने में कुछ ऐसे ऋषियों का भी साहित्य में व्यापक प्रचलन है जो बहुत क्रोधी और प्राय: शाप दे देने के आदी होते हैं, जैसे दुर्वासा ऋषि ।

रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में पुत्रवियोग में दशरथ की मृत्यु पूर्व-जन्म में श्रवणकुमार के मातापिता द्वारा दिए गए शाप के फलस्वरूप होती है । अहिल्या का पत्थर होना भी शाप के कारण है । मानस के प्रस्तावना भाग में प्रतापभानु और अरिमर्दन का शापित होकर जन्मान्तर में रावण और कुम्भकर्ण होना, नारद के शाप के कारण राम का पत्नीवियोग तथा उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि का विप्र से क्रमश: व्याल और काग होना इस कथाभिप्राय की रचनाधर्मिता के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं ।

१९. विवाह के अवसर पर नायिका द्वारा गौरीपूजन और नायक से साक्षात्कार

भारतीय साहित्य में विवाह के पूर्व कन्या गौरी के मन्दिर में आराधना करने जाती है जिससे गौरी का आशीष पाकर वह अनुकूल वर प्राप्त कर सके । मार्ग

में जाते हुए या मन्दिर में कन्या अपने नायक से साक्षात्कार करती है । कभी कभी नायक वहीं से कन्या का हरण भी कर लेता है । 'रुक्मिणीहरण' में ऐसा ही हुआ है । जायसी के पद्मावत में भी रत्नसेन और पद्मावती का प्रथम साक्षात्कार शिव-पार्वती के मन्दिर में ही होता है ।

रामचरित मानस में सीता भी जननी के आदेशानुसार गिरिजा-पूजन के लिए जाती हैं ।[१] गिरिजा का-मिन्दिर पुष्पवाटिका में सरोवर के समीप है जहां कवि ने नायक राम को गुरु विश्वामित्र की पूजा के निमित्त पुष्प चयन करते हेतु पहले से ही भेज रखा है । एक सखी के माध्यम से यहीं पर राम-सीता का मौन साक्षात्कार प्रथमबार होता है ।

पूर्वानुराग के माध्यम से शृंगार-साधना का बड़ा ही स्तुत्य प्रयास कवि तुलसी ने पुष्पवाटिका प्रसंग में किया है । न जाने कितने अध्येता और समीक्षक इस प्रसंग पर न्यौछावर हो गए हैं । पूर्वानुराग पर आधारित इस सजीव प्रसंग का मूलाधार उक्त कथाभिप्राय ही है । पूर्वानुराग काव्यरचना का एक प्रमुख शास्त्रीय उपक्रम है ।

२०. नायक-नायिका द्वारा पालित पशु-पक्षी --

इस कथाभिप्राय से साहित्य में कहीं कहीं तो बहुत बड़ा कार्य सिद्ध किया गया था । उदाहरण के लिए पद्मावती द्वारा पालित हीरामन तोता 'पद्मावत' की कथा का मूल प्रेरक है । वह रत्नसेन और पद्मावती के मध्य प्रेम सम्बन्ध का घटक है ।

तुलसी ने राम-सीता द्वारा पालित पशु-पक्षियों से कथा को विकसित नहीं किया है अपितु उन्हें वियोग जन्य व्यंजना का सहायक उपकरण बनाया है । सीता की विदाई के समय पर उनके द्वारा पालित शुक-सारिका अत्यन्त विकल हो जाते हैं --

---

१. तेहि अवसर सीता तहँ आई । गिरिजापूजन जननि पठाई ।।
-- रा० १।२२८ ।

सुक सारिका जानकी ज्याए । कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए ।

ब्याकुल कहहिं कहाँ वैदेही । सुनि धीरज परिहरहिं न केही ।रा०१।३३८

गीतावली में राम के वन चले जाने पर शुक-सारिका अवरुद्ध कण्ठ से परस्पर वार्तालाप करते हुए दुखी होते हैं । राम के घोड़ों की दशा भी दयनीय हो जाती है । सुमन्त्र जब राम को भेजकर लौटने लगते हैं तो घोड़े दक्षिण दिशा की ओर देखकर हिनहिनाते हैं और आगे कदम नहीं रखते ।[1] किसी के वियोग में पशुपक्षियों को विकल दिखाया जाना मनुष्यों को विकल दिखाने की अपेक्षा अधिक जीवन्त और प्रभविष्णु समझा जाता है । तुलसी ने रामवनगमन के प्रसंग में घोड़ों का हिनहिनाना चित्रित करते हुए कहा है —

जासु बियोग बिकल पसु ऐसे । प्रजा मातु पितु जीवहिं कैसे ।।रा०२।१००

उक्त कथाभिप्राय ऐसी प्रेम व्यंजनाओं का परम्परित उपादान है । अभिज्ञान शाकुन्तलम् में शकुन्तला द्वारा पालित मृग चलते समय उसके बल्कल से लिपट जाता है तब कण्व ऋषि दोनों के वात्सल्यमय प्रेम की चर्चा करते हुए शकुन्तला के प्रश्न का उत्तर देते हैं ।[2] कालिदास की कवि प्रतिभा का यह अनूठा उदाहरण है । ऐसी ही भावाभिव्यक्तियों के भरोसे काव्यों में नाटक, नाटकों में शकुन्तला नाटक और उसमें भी उसका चतुर्थाङ्क विश्वसाहित्य में अद्वितीय समझा जाता है ।

२१. दुष्टों के पापाचार से त्रस्त धरती का गो रूप धारण कर देवों के पास जाना-

जिन भारतीय कथाओं के नायक भगवान के अवतार माने गए हैं उनमें नायक के उद्भव के कारण के रूप में यह कथाभिप्राय बहुधा व्यवहृत होता है । यह धार्मिक मान्यता पर आधारित कथाभिप्राय है । भगवान गो और ब्राह्मण की रक्षा करते हैं[3]।

---

१. देखि दखिन दिसि हय हिंहिनाहीं । जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं ।।रा० २।१४२

२. यस्यत्वयाव्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलमन्यसिच्यतमुखेकुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टि परिवर्द्धितकोजहाति सोऽयंन पुत्र कृतक: पदवीं मृगस्ते ।।

— अभिज्ञानशाकुन्तलम ४।१४

३. गोद्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रियकंता ।। रा० १।१८६

यह रक्षा दुष्टों और दैत्यों द्वारा किए गए अत्याचार से होती है । अस्तु कथाओं में पहले यह दिखाया जाता है कि राक्षसों का पापाचार बढ़ गया । पृथ्वी उससे त्रस्त हो गई, तब उसने गो रूप धारण कर देवों से प्रार्थना की । कृष्णावतार का हेतु भी इस कथाभिप्राय से व्यक्त किया गया है जब कंस के पापाचार से त्रस्त होकर पृथ्वी ने गोरूप धारण किया था ।

रामचरितमानस में भी रावण आदि निशिचरों के अनाचार से दुःखी होकर पृथ्वी गोरूप धारण करती है और देवों के पास जाती है --

सकल धर्म देखै बिपरीता । कहि न सकै रावन भय भीता ।।
धेनुरूप धरि हृदयं बिचारी । गई तहां जहं सुर मुनि झारी।।रा०१।१८४

मानस में यह रामावतार की हेतुकथा है, और इसका स्थान विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण है ।

२२. वृद्धावस्था में राजा -रानी को वैराग्य -

भारतीय कथाओं के राजा-रानियों को वृद्धावस्था का आभास होते ही परलोक की चिन्ता होने लगती थी । वे तत्काल पुत्र को राज्यभार देकर वन की ओर भगवदाराधन का उद्देश्य लेकर चल पड़ते थे । गार्हस्थ्य जीवन में ऐसी प्रवृत्ति कुछ बुजुर्गों में ही देखने को मिलती है पर साहित्य में तो सदैव ऐसा होना निश्चित है , क्योंकि ऐसा अवसर कथाकार के बड़े काम का है ।

रामचरित मानस में ऐसे दो प्रसंग मिलते हैं -

१. मनु और शतरूपा का पुत्र को राज्यभार सौंप कर वन को जाना ।
२. वृद्धावस्था का आभास पाते ही दशरथ द्वारा ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्यभार सौंप कर वन जाने का निश्चय करना ।

पहला प्रसंग हेतुकथा का अंग है और दूसरा मुख्यकथा का । पहले प्रसंग में कथाभिप्राय को पूर्णशः घटित कराकर रामजन्म का कारण रचा गया और दूसरे को अंशतः घटित कराकर दशरथ-मरण और रामवनगमन का हेतु रचा गया है कथा-रचना की दृष्टि से दोनों प्रयोग सफल बन पड़े हैं ।

२३. दो पक्षी-कथा के वक्ता और श्रोता -

यह भी बहुत प्राचीन अभिप्राय है । तोता-मैना की कहानियाँ कथा-साहित्य के बाल्यकाल में इसी कथाभिप्राय पर आधारित हैं, जिनसे कथा तो चलती है, एक विस्मय और कौतूहल भी सदैव बना रहता है । कादम्बरी का शुक वैशम्पायन सकलशास्त्र विद् है और तीन जन्मों की कथा राजा शूद्रक से कहता है ।

तुलसी की रचनाओं में मानस में यहकथाभिप्राय घटित है । इसमें इस प्रकार के दो कथानक हैं-

१. रामकथा के वक्ता और श्रोता कागभुशुण्डि और गरुणा ।

२. जटायु द्वारा वानरों को अपनी कथा सुनाना ।

इसमें प्रथम तो विशेष उल्लेखनीय है । कागभुशुण्डि और गरुणा तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत रामकथा की चार पीठिकाओं में से एक हैं । इसे मानस-सरोवर की उत्तर दिशा में स्थित ज्ञान घाट कहा जाता है । दूसरा प्रसंग वैसा नहीं है क्योंकि उसमें पक्षी (जटायु) एक ही है, श्रोता वानरगण हैं ।

२४. दूत द्वारा सन्देश प्रेषण -

एक स्थल से दूसरे स्थल को सन्देश प्रेषण भी कथा का गत्यात्मक अवयव है । प्राचीन भारतीय साहित्य में इसकी भरमार देखने को मिलती है ।

तुलसी की रामकथा में भी इसका प्रयोग बहुलता से हुआ है । राम-जब शिव-धनुष तोड़ देते हैं तो विश्वामित्र जनक को यह निर्देश देते हैं कि वे अवध-नरेश दशरथ को यह समाचार देने के लिए शीघ्र दूत भेजें -

दूत अवधपुर पठवहु जाई । आनहिं नृप दसरथहिं बोलाई ।।

पहुंचे दूत रामपुर पावन । हरषे नगरु बिलोकि सुहावन ।।रा०८७-९०

कथाओं में यह कार्य मनुष्येतर प्राणी यहाँ तक कि पशुपक्षी भी करते हैं -नल-दमयन्ती के बीच में हंस ने दूत का कार्य किया था । मानस में भी नर के अतिरिक्त वानरों ने (हनुमान-अंगद) ने यह कार्य किया । साहित्य में दूतकाव्य की एक वृहत्प-

रम्परा ही प्राप्त है । 'मेघदूत' ऐसा काव्य है जिसमें प्राकृतिक उपादान को दूतबना-
कर उस पर पूरा कथ्य प्रतिष्ठित कर दिया गया है ।

सन्देशप्रेषण की भी दोनों विधियाँ कथाभिप्राय में प्रचलित हैं –
१. मौखिक सन्देश , २. लिखित अथवा पत्र के माध्यम से सन्देश ।

अंगद के दूतत्व में संदेश कथन मौखिक है । लिखित सन्देश (पत्रिका) के
मानस में उदाहरण प्राप्त हैं –

(क) जनक द्वारा दशरथ को लिखा गया पत्र ।

(ख) लक्ष्मण द्वारा रावण को लिखा गया पत्र ।।

इस कथाभिप्राय के पांच छ: उदाहरण मानस में मिलते हैं ।

२५. कपट वेश धारण:रूप-परिवर्तन : रूप का आदान-प्रदान --

ये अभिप्राय कथा को रहस्यात्मक ढंग से विकसित करते हैं ।छद्म वेश धारण की
कथाएं,रूप और काया तथा योनि परिवर्तन की कथाएं भारतीय कथा साहित्य में
भरी पड़ी हैं । इसमें किसी वास्तुविकता या रहस्य को गुप्त रखते हुए कार्य प्रति-
पादन का प्रयास निहित रहता है ।

तुलसी की रामकथा में बहुलता से इसका प्रयोग हुआ है । उनमें सबसे
प्रधान है मारीचि का स्वर्णमृग का रूप-धारण । यह मुख्यकथा का अंग है ।
मारीचि कनकदेही कपटमृग बनकर पंचवटी आश्रम के सामने से निकलता है –

तेहिबन निकट दसानन गयऊ । तब मारीचि कपटमृग भयऊ ।।
अति बिचित्र कछु बरनि न जाई । कनक देह मनि रचित बनाई ।। रा०
३।२७ ।

रामचरितमानस में ऐसे कथाभिप्रायों के दशाधिक उदाहरण प्राप्त है । इनमें सती
का सीता-रूप धारण करना, जयन्त का कौआ-रूप धारण करना आदि प्रमुख हैं ।
रूपपरिवर्तन के कई प्रकारों की योजना तुलसी ने अपनी रामकथा में की है --

१. विशेष उद्देश्य से रूप परिवर्तन २. मुखाकृति मात्र का परिवर्तन
३. योनिपरिवर्तन (४. कायाप्रसार एवं वृहत् रूप धारण
५. लघु रूप धारण ६. बहुरूपधारण ।

गोपनीयता की रक्षा के लिए किए गए इस प्रकार के रूप परिवर्तनों को
सर्वत्र कपटवेशधारण या उसका समभावी ही समझाजाता है । चाहे नायक-पक्ष का

ही पात्र किसी कार्य सिद्धि के लिए ऐसा क्यों न कर रहा हो । वास्तविकता को छिपाना तो कपटपूर्ण ही कहा जायगा, किन्तु काव्य-जगत के लिए उसकी उपादेयता ही वरेण्य है और कुछ नहीं ।

इस कथाभिप्राय का एक तुलसीकृत प्रयोग अत्यन्त विलक्षण मौलिक एवं प्रशंसनीय है, जबकि कपटवेशधारी पात्र हमारी सम्पूर्ण श्रद्धा के अधिकारी बनकर दृश्य की अतिशय सुन्दरता का परिचय देते हैं । राम-सीता के सुन्दर विवाहोत्सव का दृश्य देखने की इच्छा से शची, शारदा, रमा और पार्वती आदि देवियां सुन्दरी नारियों का छद्मवेश धारण कर जनक के रनिवास में जाकर मिल जाती हैं -

सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ।।
कपट नारिबर वेष बनाई । मिली सकल रनिवासहि जाई ।। रा०।१।३१८

देवियों के इस कपटपूर्ण व्यवहार से पाठक श्रद्धाविभोर हो जाते हैं और इस कथाभिप्राय से उत्सव के विशेष आकर्षण का बोध होता है । जानकीमंगल और गीतावली में इसके उदाहरण हैं ।

२६. सुन्दरी स्त्री का अपहरण :

साहित्य में इस कथाभिप्राय के दो रूप प्राप्त होते हैं -

१. राक्षस द्वारा कन्याहरण   २. किसी राजकुमार द्वारा कन्याहरण

इस सम्बन्ध में डॉ० रवीन्द्र भ्रमर का मन्तव्य है - इनमें से प्रथम रूप लोककथाओं का है । किसी राजकुमार द्वारा कन्याहरण का अभिप्राय कवि कल्पित प्रतीत होता है । यह अत्यन्त प्रचलित भी है और भारतीय आख्यानकों में प्रयुक्त होता रहा है । महाभारत कथा में सुभद्रा का अर्जुन द्वारा हरण और कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण इस अभिप्राय के कतिपय प्राचीन उदाहरण हैं । हिन्दी साहित्य में इस अभिप्राय का सबसे अधिक उपयोग सम्भवत: रासोकार चन्दवरदायी ने किया है । पृथ्वीराज-रासो में पद्मावती, शशिव्रता और संयोगिता नामक तीन राजकुमारियां चौहान द्वारा हरण की जाती हैं ।[१]

---

१. डॉ० रवीन्द्र भ्रमर-हिन्दी भक्तिसाहित्य में लोकतत्व, पृ० ११६

तुलसी की रामकथा में दोनों में से प्रथम रूप ही व्यवहृत है । सीता का हरण राक्षसराज रावण करता है । पंचवटी से आगे की समस्त घटनाओं का एकमात्र कारण सीता-हरण ही है । इसी घटना ने सम्पूर्ण राक्षसों को राम का शत्रु बना दिया अन्यथा लंका तक जाकर राक्षसों को मारने की घटनाएं एकदम निराधार लगतीं । इससे लगता है कि सीता-हरण मूलकथा का नहीं अपितु विकसित कथा का अंग है और रचयिता का कौशल है ।

डॉ० सत्येन्द्र इस पर विचार करते हुए लिखते हैं --'सीताहरण भी मूलकथा में अन्यत्र से आया है । स्मिथ थामसन ने बताया है कि इस मूल कथा के बहुत से संस्करणों में दानव अथवा दैत्य द्वारा सुन्दरीहरण का अभिप्राय रहता है । रामायण की यह कथा उसी सुन्दरी वाली लोककथा का रूपान्तर ही हो सकती है । इस हरण विषयक मूल कथा के कई अन्यतत्व भी इस रामकथा में दिखाई पड़ते हैं ।'[१]

२७. छाया रूप का हरण -

सुन्दरी स्त्री के अपहरण के साथ-साथ उसमें यह एक चमत्कारिक अभिप्राय भी किन्हीं-किन्हीं कथाओं में पाया जाता है । तुलसी की रामकथा भी उनमें से एक है --रावण जिस सीता को हरण कर ले गया उसे तुलसी 'मायासीता' कहते हैं --

पुनि माया सीता कर हरना । श्री रघुवीर बिरह कछु बरना ।।

रा० ७।६६

वस्तुत: माया सीता का तात्पर्य छाया सीता से भिन्न नहीं है । दोनों का एक ही अर्थ है वास्तविक एवं सत्य रूप के अतिरिक्त कल्पित या असत्य रूप । एक लघु प्रसंग का सृजन करके उसमें राम और सीता का गुप्त वार्तालाप कराकर तुलसी ने छायारूप की स्थिति को पुष्टकर दिया है । लक्ष्मण जब कन्दमूलफल इत्यादि लेने वन की ओर जाते हैं उसी समय राम सीता को गुप्त निर्देश देते हैं - कि तुम तब तक अग्नि में वास करो जब तक कि मैं राक्षसों का संहार न कर लूं ।

---

१. डॉ० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० ४२८

लछिमन गए बनहिं जब लैन मूल फल कंद ।

तुम पावक महुँ करहु निवासा । जौं लगि करौं निसाचर नासा ।। रा० ३।२३-४

डॉ० एल०पी०टेसीटरी ने इसकी समानता ग्रीक आख्यानों की चर्चित नायिका "हैलैन" से सम्बद्ध वृत्तान्त से करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार स्टीकौरस के पालीनोड की हैलैन ट्राय कभी नहीं गई उसी प्रकार सीता ने भी कभी लंका में प्रवेश नहीं किया ।[1] पेरिस नकली हैलैन का हरण कर ट्राय ले गया था[2]। आदि रामकथाकार वाल्मीकि ने भी इस अभिप्राय का उल्लेख नहीं किया है । चन्द्रभान ने इस कथाभिप्राय का गहराई से अध्ययन करते हुए पाश्चात्य साहित्य में वर्णित "हैलैन" के छायारूप से इसकी समानता व्यक्त की है ।[3] सीता और हैलैन के इस कृत्रिम रूप के हरण से कथा की आवश्यकता भी पूरी हो जाती है और उनके उदात्त चरित्र में भी दोष नहीं आता ।

२८. यज्ञ एवं यज्ञ विध्वंस -

भारतीय कथाओं में यज्ञ के प्रकरण बहुत मिलते हैं । यज्ञ भारतीय संस्कृति की एक विशिष्ट क्रिया है, और उस रूप में वह सत्य भी है पर कवि एवं कथाकार राजाओं के यहाँ यज्ञ का आयोजन एकाकार उसमें महत्वपूर्ण घटनाएं घटित करते हैं तथा आवश्य-कतानुसार यज्ञ को सफल एवं विफल कर देते हैं ।

---

१. डॉ० राधिकाप्रसाद त्रिपाठी-डॉ० एल०पी० टैसीटरी कृत वाल्मीकि रामायण तथा रामचरितमानस, पृ० ३४

२. द्रष्टव्य-उपर्युक्त पुस्तक की अनुवादकीय, टिप्पणी, पृ० ३४

३. आश्चर्य की बात तो यह है कि न जाने विकास के किन क्रमों में होकर हैलैन की स्वेच्छा से जाने वाली बात हैलैन के मायारूप के हरण पर आकर रुकती है । बाद में हैलैन को भक्तों ने देवी का रूप दिया और मायारूप (फिडोलीन)मायामयी मूर्ति या छाया) हैलैन का रूप अपहृत हुआ, इसको स्पष्ट किया । भारतीय सीता का विकास भी अन्त में पवित्रता एवं सतीत्व की उज्ज्वल भावना से प्रेरित होकर मायारूप सीता का अपहरण भी भारत में कराया गया । इस विवरण से स्पष्ट होता है कि कि मूलत: लोक अभिप्राय (फोक मोटिफ) किस प्रकार विकसित होकर साहित्यिक अथवा शिष्ट साहित्य में स्थान पाता है ।"

--रामचरितमानस की लोकवार्ता, पृ० १२७

जो भी राजा होता है, वह यज्ञ का आयोजन तुरन्त करता है । सती के पिता दक्ष भी प्रजापति होते ही यज्ञ करने की तैयारी करते हैं किन्तु उनका यज्ञ सफल नहीं होता । अपनी और शिव की उपेक्षा से क्षुब्ध सती यज्ञकुण्ड में कूदकर अपना प्राणत्याग देती हैं और यज्ञ विध्वंस हो जाता है । इसी तरह नायक के विरोधीपक्ष द्वारा सम्पन्न होने वाली यज्ञ प्राय: नायक -पक्ष के लोगों द्वारा विध्वंस कर दी जाती है ।

तुलसी की कृतियों में नायक पक्ष की ओर से होने वाली दो यज्ञ है । (१) दशरथ की पुत्रेष्ठि यज्ञ (२) जनकपुरी में धनुषयज्ञ । ये दोनों यज्ञ सफल रहे हैं । नायक-पक्ष के विरोधी लोगों द्वारा सम्पन्न सभी यज्ञ विफल हो गए हैं जैसे -- १. दक्ष का यज्ञ , २. मेघनाद का यज्ञ ३. रावण का यज्ञ । नायक पक्ष को शक्ति एवं सिद्धि देने के लिए कथाकार उससे सफल यज्ञ करवाता है जबकि शत्रुपक्ष की यज्ञ का कथाओं में प्राय: विध्वंस हो जाता है । तुलसी ने भी ऐसा ही किया है ।

२६. राजा के यहां ऋषि का आना और सन्तान का भविष्य बताना ।

ऋषिमुनि,महात्माओं द्वारा की गयी भविष्यवाणी भारतीय पुरा-संस्कृति में ब्रह्मवाक्य की तरह प्रमाण मानी जाती थी । काव्य के रचयिताओं ने भी इस मान्यता का लाभ उठाया । कथाकार को नायिका का विवाह जिससे कराना होता है, भविष्य-वक्ता से वह उसी की रूपरेखा, परिचय इत्यादि का संकेत करा लेता है । यह तो हुआ इस कथाभिप्राय का परम्परित प्रयोग । इसके अतिरिक्त कभी कभी कथाकार इस अभिप्राय को मौलिक प्रयोग के आधार पर भिन्न प्रकार से भी प्रस्तुत करता है ।

तुलसी की रचनाओं में इस अभिप्राय के दो स्थल हैं --

१. हिमांचल के यहां नारद का आना और उमा का हाथ देखकर उसके भावी पति (शंकर) का संकेत करना ।
२. मायानगर के राजा शीलनिधि के यहां नारद का आना और विश्वमोहिनी नामक राजकुमारी का भविष्यविचार करना ।

पहला प्रयोग परम्परित है और दूसरा नवीन एवं मौलिक । दोनों ही रचनात्मक उद्देश्य से प्रेरित हैं ।

३०. सेवक(शिष्य-कुमार)द्वारा सेव्य(गुरु-स्वामी) की पूजा हेतु पुष्प चयन करने जाना-

कविजन इसे भी कथाभिप्राय के रूप में प्रयोग करते हैं । सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा में रोहिताश्व जब स्वामी की दैनिक पूजा के लिए पुष्प लेने वाटिका जाता है तो वहीं उसे सर्प डस लेता है और कथा मनोनुकूल दिशा में आगे बढ़ जाती है ।

रामचरितमानस के बालकाण्ड में राम-सीता के मध्य जिस पूर्वानुराग की योजना कवि ने की है उसमें इस कथाभिप्राय का बहुत बड़ा हाथ है । राम को तुलसी कवि चातुरी के द्वारा गुरु विश्वामित्र की दैनिक पूजा के लिए फूल लाने पुष्प-वाटिका में भेज देते हैं - समयजानि गुरु आयसु पाई । लेन प्रसून चले दोउ भाई ।।रा०।१। सीता की सखियाँ यद्यपि राम के आने का प्रयोजन ठीक ठीक नहीं समझतीं और कहती हैं कि दो कुमार वाटिका देखने आए हैं ।[१] एक और कथाभिप्राय के अनुसार कवि ने सीता को भी वहीं गौरी-पूजन के लिए भेज दिया है । कवि जब इतना यत्न करता है तब कहीं जाकर यह पूर्वराग सम्पन्न होता है । यदि राम पुष्प लेने वाटिका न जाते तो यह भव्य प्रसंग उत्पन्न ही न होता । वाटिका से लौटने पर राम ने मुनि को पुष्प दिए और उन्होंने पूजा करके राम को आशीष भी दिया ।[२]

३१. युद्ध-क्षेत्र में भूत-प्रेत योगिनियों का आना -

यह कथाभिप्राय विशेषत: कृति की रचनात्मकता से सम्बद्ध रहता है । कथाओं में युद्धों का प्रसंग आता है और युद्ध के मैदान में रक्तमांस का साम्राज्य हो जाता है । कवि भूतप्रेत योगिनियों को रक्तपान और मांसभक्षण करते हुए दिखाते हैं । इस कल्पित वीभत्स लीला के चित्रण से कवि वीभत्स रस की उद्भावना हेतु सरंजाम जुटाता है ।

रामचरितमानस और कवितावली में युद्धों के अनेक प्रसंग हैं । ऐसे युद्ध राम और राक्षसों के बीच ही अधिकहुए हैं जिसमें भीषणरक्तपात के ऐसे दृश्य दिखाए गए हैं और उसके सम्बल पर वीभत्स रस की योजना की गई है ।

रामचरितमानस के लंकाकाण्ड से एक उदाहरण प्रस्तुत है --

---

१. देखन बाग कुंवर दोउ आए । बय किसोर सब भाँति सुहाए ।। रा०।१।२२६

२. सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही । पुनि असीस दुहुं भाइन्ह दीन्हीं ।। रा०१।२३७

बीर परहिं जनु तीर तरु मज्जा तरु बह फेन ।

काक कंक लै भुजा उड़ाहीं । ~~xxxx~~ प्रमथ महा फोटिंग कराला ।।

जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहिं । भूतपिसाचबधू नभ नंचहिं ।। रा०।६।८७-८८

इस तरह के कई उदाहरण तुलसी-साहित्य में मिलते हैं ।

३२. मार्ग में राक्षस-राक्षसियों का मिलना --

कथा में किसी गतिशील पात्र के शौर्यनिर्माण और उसको फलागम तक पहुंचाने की प्रक्रिया को जीवन्त एवं प्रभविष्णु बनाने के लिए कथाकार उसके मार्ग में विघ्न पैदा करने वाले राक्षस-राक्षसियों की उद्भावना कर देता है ।

मानस की कथा में हनुमान के समक्ष ऐसी परिस्थितियां आती हैं --

हनुमान को सीता की खोज में लंका की ओर जाते समय सुरसा, लंकिनी नामक राक्षसियों का मिलना तथा सिंधु में एक राक्षस का मिलना और लक्ष्मण मूर्छा के अनन्तर संजीवनी लेने जाते हुए हनुमान को मुनि के छद्मवेश में कालनेमि नामक राक्षस का मिलना ।

अनेक विघ्न-बाधाओं को जीतते हुए जो असम्भव कार्य राम के लिए हनुमान ने कर दिखाया उससे उनका चरित्र बहुत ही ऊंचा उठ गया है । यह कथाभिप्राय मोड़क संकेत के रूप में भी व्यवहृत हो सकता है ।

३३. जंगल में सुन्दर राजकुमारों का दिखायी पड़ना --

यह अभिप्राय कभी कभी कुछ परिवर्तित रूप में भी तब प्रयुक्त होता है जब जंगल में कोई सुन्दरी स्त्री दिखायी देती है ।

तुलसी की रामकथा में वन-वन घूमने वाले राजकुमार राम और लक्ष्मण कामदेव के सौन्दर्य को भी लज्जित करने वाले हैं साथ ही सीता का सौन्दर्य रति से भी बढ़कर है । वन में तीनों जहां भी जाते हैं लोग अनायास ही आकृष्ट हो जाते हैं और कवि को सौन्दर्य चित्रण करने का अवसर मिलता है । तुलसी की रामकथा में इस कथाभिप्राय पर आधारित तीन प्रसंग बहुत उल्लेखनीय हैं --

१. सती और शिव का सीता की खोज में रत राम लक्ष्मण को देखना ।

२. ग्रामाङ्गनाओं का राम, लक्ष्मण और सीता को देखकर उनकी रूपमाधुरी पर मुग्ध

होना ।

३. राम और लक्ष्मण को मनाने जा रहे भरत और शत्रुघ्न के रूप सौंदर्य पर मार्ग केलोगों का मुग्ध होना ।

तीनों में प्रथम अभिप्राय ही शुद्धता की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है । दूसरे पर निर्मित कथा-प्रसंग यद्यपि काव्य की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है तथापि वह शुद्ध वन्य परिवेश की घटना नहीं है । राचरितमानस के भूगोल में कानन चित्रकूट या पंचवटी के दक्षिण प्रतीत होता है जब कि यह घटना उसके पूर्व की है । राम, सीता और लक्ष्मण जब गांवों के समीप से गुजरते हैं तब ग्रामवधूटियों का उन्हें देखना चित्रित किया गया है । इसी तरह तीसरा उदाहरण भी शुद्ध वन्य परिवेश से सम्बद्ध नहीं है ।

इसकथाभिप्राय की मूल काव्य-चेतना सौन्दर्य और सौकुमार्य का बोध कराने में निहित है और वह वन्य परिवेश के अतिरिक्त ग्रामीण परिवेश में भी प्रतिफलित हो सकती है । कुशल कलाकार तुलसी ने तो ग्रामीण परिवेश में उसे वन्यपरिवेश की अपेक्षा अधिक जीवन्त बनाकर दिखा दिया है । सुन्दर पुरुष और सुन्दरी स्त्रियां कोमल और सुकुमार होती हैं जबकि वन की जलवायु कर्कश होती है और वहां आतप-वात वृष्टि सब कुछ सहन करना पड़ता है । सुकुमार प्राणी का कठोर परिस्थिति में पड़ना उसके सौकुमार्य को पाठक के हृदय में सौगुना तीव्र और मार्मिक बना देता है । किष्किन्धा में हनुमान विप्र रूप धारण कर राम और लक्ष्मण का परिचय प्राप्त करने आते हैं और पूछते हैं -"हेस्वामी ! आपके चरण बहुत कोमल हैं और यहां की धरती बहुत कठोर है । आप यहां किस हेतु विचरण कर रहे हैं ।[१] कवितावली और गीतावली में कठोर तथा कंटकाकीर्ण धरती पर बिना पदत्राण के राम लक्ष्मण और सीता का चलना ग्रामीण नारियों की हार्दिक व्यथा का कारण है ।[२]

----

१. कठिन भूमि कोमल पद गामी । कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ।।रा०४।१

२ (क) पायन तो पनही न प्यादेहि क्यों चलिहैं सकुचात हियो है । क०।२।२०

(ख) पथिक प्यादे जात पंकज से पाय हैं ।

मारग कठिन कुस कंटक निकाय हैं ।। गी०।२।२८-१

३४. भविष्यसूचक स्वप्न--

यह बहुत ही चर्चित और लोक प्रचलित अभिप्राय है । बहुधा दिखाई पड़ने वाले स्वप्न जीवन में घटित नहीं होते, किन्तु साहित्य में यह पात्र के जीवन में अवश्य घटित होता है । कवि भावी घटनाओं की पूर्व सूचना किसी पात्र को स्वप्न के रूप में देता है । भावी घटनाओं का पूर्वाभास देने वाला यह कथाभिप्राय बड़ी सफलता के साथ कथा को गति देता है ।

रामचरितमानस में आए हुए तीन स्वप्न भविष्यसूचक हैं और कथायोजक भी (तीनों ही भावी घटना का पूर्वाभास कराते हैं और यथार्थजीवन में घटित होते हैं --

१. भरत का ननिहाल में भयानक सपने देखना[१]

२. सीता का चित्रकूट में भरत के आने का स्वप्न देखना [२]

३. त्रिजटा का स्वप्न [३]

जीवन में स्वप्न असत्य का ही पर्याय माना जाता है । यह सपने की संपत्ति है जैसे वाक्यों में सपना मिथ्यात्व का द्योतक है । रचना के लिए रचनाकार सत्य को नजरअन्दाज भी कर देता है, और तुलसी ने भी किया है । अपने ज्ञानदर्शन की परिधि में वे स्वीकार करते हैं कि जागरण ही सत्य होता है स्वप्न नहीं ।

---

१. देखहिं राति भयानक सपना । जागि करहिं कटु कोटि कलपना ।। रा०२।१५७

२. उहाँ राम रजनी अवसेषा । जागे सीय सपन असदेखा ।
सहित समाज भरत जनु आए । नाथ बियोग ताप तन ताए ।। रा०२।२२६

३. त्रिजटा नाम राच्छसी एका । रामचरन रति निपुन बिबेका ।।
सबलों बोलि सुनायसि सपना । सीतहिं सेइ करहु हित अपना ।
सपने बानर लंका जारी । जातुधान सेना संहारी ।।
खर आरूढ़ नगन दससीसा । मुंडित सिर खंडित भुजबीसा ।। रा०।५।११

मानस में वे शिव की वाणी में उमा से कहते हैं - हे उमा , मैं अपने अनुभव के आधार पर कहता हूं कि मात्र हरिभक्ति ही सत्य है, बाकी सम्पूर्णजगत सपना (अर्थात् असत्य) है ।[१] विनयपत्रिका में वे कहते हैं कि सोते समय जगत के सन्ताप एवं भ्रम से उत्पन्न दोष दुख जगने पर चले जाते हैं ।[२] रामचरितमानस में ही अन्यत्र तुलसी ने कहा है --

सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ ।

जागे हानि न लाभ कछु जग प्रपंच जिय सोइ ।रा०२।६२

दार्शनिकों की तरह स्वप्न को इस प्रकार मिथ्या निरूपित करने वाले तुलसी अपनी कवित्वसाधना के लिए उसका प्रत्याख्यान भी करते हैं और स्वप्न की सत्यता को व्यापक रचनाधर्म स्वीकार करते हैं । जगत की नश्वरता का बोध कराने के लिए जो तुलसी स्वप्न को असत्य कहते हैं वही तुलसी भावी घटनाओं की सूचना देते समय उसे सत्य मानकर अपनाते हैं । यह एक कवि की क्रिया है,ज्ञानी और दार्शनिक अथवा भक्त की नहीं । साहित्य में दोनों ही रचनाधर्म है और दोनों अपने-अपने स्थान पर पर सत्य भी हैं ।

३५. भावी घटनाओं का आधार- शकुनापशकुन --

इस अभिप्राय का लोक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । यह भावी घटनाओं को आधार देकर निश्चयात्मक बनाता है । इसके दो पक्ष हैं --

१. प्रिय घटनाओं की पृष्ठभूमि में शकुन दिखाना ।

२. अप्रिय घटनाओं की पृष्ठभूमि में अपशकुन दिखाना ।

लोक में तो शकुनापशकुन की मान्यता है ही, साहित्य में विशेष रूप से है । लोक में तो ऐसे उदाहरण बहुत मिल जाते हैं, कि प्रस्थान के समय शकुन होने पर भी सिद्धि-समृद्धि न मिले अथवा अपशकुन होने पर भी कोई अकल्याण न

---

१. उमा कहौं मैं अनुभव अपना । सत हरिभगति जगत सब सपना ।। रा०३।३६

२. सोवत सपने मे सहै संसृति सन्ताप रे । बूड्यो मृगवारिखायो जेवरीको साँपरे ।
कहैं बेद बुधतू तो बूझि मन माँहि रे । दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाँहि रे ।।
वि०प० । ७३

हो, किन्तु साहित्य में ऐसा नहीं होता, क्योंकि साहित्य में यह ऐतिहासिक सत्य न होकर रचनात्मक सत्य है । तुलसी की एक चौपाई इस रचनाधर्म का रहस्योद्घाटन करने में पर्याप्त होगी -

जासु सकल मंगलमय कीती । तासु पयान सगुन यह नीती ।।रा०५।३५

अर्थात् जिसकी कीर्ति मंगलमयी है, उसके प्रस्थान पर शकुन होते ही हैं ऐसी नीति है । इस कथन में एक प्राकृतिक क्रिया का प्रभाव न होकर एक नीतिसम्मत सिद्धान्त का प्रभाव आभासित होता है, जो काव्यरचना में साहित्य-सिद्धान्त बन जाता है ।

तुलसी ने इस कथाभिप्राय को बहुल मात्रा में अपनाया है । उनके रामचरितमानस की घटनाओं का विश्लेषण करने से पूर्ण शकुन शास्त्र ही प्रत्यक्ष हो जाता है । कुछ उद्धरणों के आधार पर आवश्यक विवेचन यहां किया जा रहा है ।

प्रस्तुत अभिप्राय के दोनों रूपों के तुलसीकृत प्रयोगों का पृथक पृथक परिचय यहां प्रस्तुत है --

१. शकुन - इसके दो आधारभूत लक्षण हैं --

क. शकुन की वस्तुएं मिलना   ख. अनुकूल अंगों का फड़कना

क. <u>शकुन की वस्तुएं मिलना</u> - इसके अन्तर्गत अनेक वस्तुओं के मिलने का उल्लेख अयोध्या से बारात के प्रस्थान के समय है --

बनै न बरनत बनी बराता । होहिं सगुन सुंदर सुभदाता ।
चाराचाषु बाम दिसि लेई । मनहुं सकल मंगल कहि देई ।।
दाहिन काग सुखेत सुहावा । नकुल दरस सब काहूं पावा ।।
सानुकूल बह बिबिध बयारी । सघट सबाल आव नर नारी ।।
--रा०।१।१०३ ।

अर्थात् चाष का बाम दिशा में चारा ग्रहण करना, दाहिने भाग में कौआ, समक्ष नेवले का दर्शन, अनुकूल शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर का चलना, नर-नारियों का बच्चों और भरे हुए घड़े के साथ आना, लौवा का पुन: पुन: दर्शन सामने सुरभी गाय का बछड़े को दुग्धपान कराना, दक्षिणभाग में मृगमाला का होना, क्षेमकरी का दर्शन, दधि और मछली का समक्ष मिलना, तथा पुस्तक लिए हुए दो विप्रों का मिलना,

भावी मंगलयुक्त घटनाओं को एकदम निश्चित कर देताहै । इनमें से कोई एक -दो शकुन भी इसे व्यक्त करने के लिए पर्याप्त थे पर ऐसा लगता है कि शकुन प्रकट करने वाले पशु,पक्षी,और मानव सभी आपस में होड़ लगाए हुए हैं । कोई भी इस गौरव से अपने को वंचित नहीं करना चाहता । इसीलिए शकुनों की एक बड़ी भीड़ प्रस्थान करते समय बारात के समक्ष दिखायी देती है ।

ख. अनुकूल अंगों का फड़कना -- इससे भी अनेक बार अभिव्यक्ति का चारु प्रयास किया गया है । स्त्रियों का वाम और पुरुषों का दक्षिणाङ्ग फड़कना मंगल-विधायक समझा जाता है । पुष्पवाटिका में रामके शुभदायक अंग फड़कने लगे थे । सीता का विवाह के पूर्व वाम अंग फड़कना शुभसूचक है --

जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरष न जातकहि ।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे ।। रा०।१।२३६

राम जब अयोध्याको प्रस्थान करते हैं तब नन्दिग्राम में तपस्यारत भरत के दक्षिणांग फड़कने लगते हैं --

भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार ।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार ।। रा० ।७।१

तुलसी की रामकथा में अधिक प्रिय घटनाओं की सूचना में अनुकूल अंग के फड़कने का ही अभिप्राय व्यवहृत है । कुल मिलाकर शकुन-प्रयोग के बीसों उदाहरण तुलसी की रचनाओं में प्राप्त होते हैं ।

२. अपशकुन :-- शकुन की ही तरह इसके भी दो वर्ग किए जा सकते हैं --

क. अपशकुन सूचक घटनाएं होना तथा
ख. प्रतिकूल अंगों का फड़कना ।

(क) अपशकुन सूचक घटनाएं -- शकुनशास्त्र में तो इन घटनाओं की एक बड़ी सूची देखने को मिलती है, किन्तु कवि एवं कथाकार यथावसर कुछ का प्रयोग करते हैं । तुलसी ने रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर अनेक अपशकुन सूचक घटनाओं को चित्रित किया है यथा नाक कान से हीन अशुभरूपा शूर्पणखा को सामने करके खरदूषण का युद्ध के लिए प्रयाण, मन्दोदरी के श्रवण ताटंक का अचानक गिरना,अन्तिम बार राम से युद्ध के लिए जाते समय रावण के हाथ से आयुधों का गिरना तथा उसकी भुजाओं पर गिद्धों का बैठना आदि कई अपशकुन सूचक घटनाएं हैं ।

भरत के ननिहाल से लौटते समय अयोध्या में हुए अनर्थ का आभास उन्हें मार्ग में मिलने वाले अपशकुनों से ही मिलने लगता है —

असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभांति कुखेत करारा ।।
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला । सुनि सुनि होइ भरत मन सूला ।
श्रीहतसरसरिताबन बागा । नगरु बिसेषि भयावन लागा ।।
-- रा०२।१५८ ।

यहां अग्रिम समचारों का पूर्वाभास तो भरत को होता ही है, साथ ही कवि वातावरण की भयानकता का चित्रण भी सफलतापूर्वक करता है ।

ब) प्रतिकूल अंगों का फड़कना — स्त्रियों का दक्षिणाङ्ग और पुरुषों का वामांग फड़कना अशुभसूचक माना जाता है । मन्थरा जब कैकेयी को अपनी कूटनीति से सहमत कर लेती है तो कैकेयी को उसकी बातों पर विश्वास उपजता है और वह कहती है —

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी । दहिनि आंखि नित फरकइ मोरी ।।
--रा० । २।२०

इसतरह के प्रयोग अपेक्षाकृत विरल हैं ।

शकुनापशकुन का सम्मिलित प्रयोग — तुलसी ने कहीं-कहीं शकुन और अपशकुन दोनों का सम्मिलित प्रयोग किया है जो रचनाधर्मिता को और भी उजागर कर देता है । ऐसे प्रयोग समन्वित प्रभाव की सृष्टि करते हैं और बहुत ही भव्य बन पड़े हैं । उदाहरण के लिए हम एक प्रसंग को लेते हैं । रामचरित मानस के सुन्दरकाण्ड में जब हनुमान सीता का पता लगाकर वापस आ जाते हैं और रावण से युद्ध करने के हेतु राम अपनी पूरी सेना के साथ प्रस्थान करते हैं । उसी समय सीता के वाम अंग फड़क कर शुभ व्यक्त कर देते हैं तथा सीता के लिए जो-जो शकुन होता है, रावण के लिए वही अपशकुन होता है —

प्रभु प्यान जाना बैदेही । फरकि बाम अंग जनु कहि देहीं ।
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई । असगुन भयउ रावनहि सोई ।।
-- रा० । ५।३५

सीता और रावण दोनों के वामांग जब फड़के तो वह सीता के लिए जितना शुभ हुआ रावण के लिए उतना ही अशुभ । शकुनशास्त्र में और भी ऐसी वस्तुएं या क्रियाएं हो सकती हैं जो नारी के शुभ और पुरुष के लिए अशुभ हों, पर यहां

उनका विस्तृत उल्लेख तुलसी ने नहीं किया है ।

अब तक कुछ प्रमुख कथाभिप्रायों की गवेषणा तुलसी साहित्य के परि-प्रेक्ष्य में की गई जो उनकी कथावस्तु को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं । उक्त कथाभिप्रायों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे स्फुट कथाभिप्राय हैं जो तुलसी की रामकथा में पदे-पदे प्रयुक्त हैं और अस्थिपंजर की तरह उसे बलिष्ठ बनाते हैं । स्थानाभाव के कारण यहाँ उनका विस्तृत परिचय दे पाना कठिन है ।

अस्तु आगेसंक्षेप में ही उनका उल्लेख किया जा रहा है ।

स्फुट कथाभिप्राय—

१. पाषाण का जल में तैरना —यह वरदान पर आधारित कथाभिप्राय है,

श्री रघुबीर प्रताप ते सिन्धु तरे पाषान ।
तेमतिमंद जे रामतजि भजहिं जाइप्रभु आन ।। रा०६।३

२. भोजन में घृणित वस्तुओंका मिलाया जाना - राजा प्रतापभानु की रसोई में कपटी मुनि द्वारा विप्रों के भोजन में मांस का मिश्रण ।

उपरोहित जेवनार बनाई । छरस चारि बिधि जस श्रुतिगाई ।।
मायामय तेहि कीन्ह रसोई । बिंजन बहु गनि सकै न कोई ।।
बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा । तेहिं महं बिप्र मांस खल साँधा ।।
रा० ।१।१७३

३. माया परक क्रिया-कलाप

क. मायानगर की रचना - विष्णु द्वारा नारद के मार्ग में मायानगर की सृष्टि

श्रीपति निज माया तब प्रेरी । सुनहु कठिन कारन जेहि केरी ।।
बिरचेहु मग महं नगर तेहि सत जोजन बिस्तार ।
श्रीनिवासपुर ते अधिक रचना बिबिध प्रकार ।। रा० १।१२६

ख. माया समेटना - नारद द्वारा शाप पाकर विष्णु का अपनी माया समेटना-

श्राप सीस धरि हरषि हिअँ प्रभु बहु बिनती कीन्ह ।
निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि ।।रा०।१।१३७

ग. शत्रु की माया काटना - रामद्वारा रावण के अनेक रूप धारण-की माया काटना

प्रभु छन महुं माया सब काटी । जिमि रबि उएं जाहिं तम फाटी ।।
- रा०।६।६७

४. लौटने का वादा

क. वनगमन के समय राम ने माँ कौशिल्या के समक्ष लौटने का वादा किया ।

बरस चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान ।
आइ पाइ पुनि देखिहौं मनु जनि करसि मलान ।। रा०।२।५३

ख. कपटी मुनि 'एकतनु' द्वारा अपने सखा से चौथे दिन लौटने का वादा —

परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई । बिनु औषध बिआधि बिधि खोई ।
कुलसमेत रिपुमूल बहाई । चौथे दिवस मिलब मैं आई ।। रा०१।१७१

ग. सुरसा से हनुमान का वापस लौटने का वादा-

रामकाज करि फिरि मैं आवौं । सीता कै सुधि प्रभुहिं सुनावौं ।
-- रा० ५।२

५. कार्यारम्भ के समय गणपति-गौरी का स्मरण

क. अवध को प्रस्थान करते समय दशरथ द्वारा गणेश का स्मरण

सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना । मंगलमूल सगुन भए नाना ।। रा०१।३३६

ख. रामजब धनुष तोड़ने चले तो सीता ने गणनायक का स्मरण किया ।

मनहीं मन मनाव अकुलानी । होहु प्रसन्न महेस भवानी ।।
करहु सफल आपनि सेवकाई । करि हित हरहु चाप गरुआई ।।
गननायक बरदायक देवा । आजु लगे कीन्हिउ तुव सेवा ।।
बार-बार बिनती प्रभु मोरी । करहु चाप गुरुता अति थोरी।।
--रा० १।२५६

ग. गए सुभाय राम जब चाप समीपहिं । सोच सहित परिवार बिदेह महीपहि ।।
कहि न सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ ।
गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ ।। जा०मं० । ११२

घ. सुमिरि गनेस गुरु गौरि हर भूमि सुर
सोचन सकोचत सकोचि बानि धरी है । गी०।१।६०

६. भ्रमवश किसी अवध्य को बध्य समझना —

संजीवनी लेने जाते हुए हनुमान को भरत ने भ्रमवश राक्षस समझकर प्रहार किया । हनुमान मुर्च्छित होकर गिर पड़े और कवि ने इसी बहाने राम और भरत का

प्रेमचित्रित किया तथा भरत को राम के समाचारों से अवगत कराया ।

७. एक साथ कई रानियों को पुत्र होना — दशरथ की तीनों रानियों को लगभग एक ही समय में पुत्र हुए । उधर राम जन्मोत्सव की तैयारियां आरम्भ ही होती हैं कि कवि बीच में ही सूचना देता है —

कैकयसुता सुमित्रा दोऊ । सुंदर सुत जनमत भै ओऊ ।। रा०।१।१९५

चूंकि पुत्रेष्टि यज्ञ की हवि खाकर सभी रानियों ने साथ ही अप्राकृतिक विधि से गर्भ धारण किया था अस्तु तीनों रानियों द्वारा एक साथ ही पुत्रों को जन्म दिया जाना औचित्यपूर्ण ही कहा जायगा ।

८. एक साथ सभी भाइयों का विवाह -- जनकपुर में यद्यपि राम के विवाह का ही कार्यक्रम था पर राम के अन्य तीनों भाइयों को भी अपनी कन्याओं के अनुरूप वर देखकर जनक ने उसी विवाह मंडप में अपनी कन्या उर्मिला, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति का विवाह भी क्रमश: लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के साथ कर दिया -

तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह साज संवारि कै ।
मांडवी श्रुतकीरति उर्मिला कुंवरि लईं हंकारि कै ।।

× ×

जेहि नाम श्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी ।
सो दई रिपुसूदनहिं भूपति रूप सील उजागरी ।। रा० १।३२५

गीतावली में मात्र राम-सीता और लक्ष्मण-उर्मिला के विवाह का उल्लेख मिलता है । प्रबन्धात्मक न होना इसका मुख्य कारण है ।

९. शैलशिखर पर स्थित वृक्ष पर विद्वान पक्षी -- रामचरितमानस में कागभुशुण्डि की कथा में यह कथा-रूढ़ि प्रयुक्त है । वे अशेष आध्यात्मिक ज्ञान से मंडित हैं और सुमेरु शैल पर विशाल वट और बड़े सरोवर के समीप रहते हैं । उस स्थान का परिचय शिव ने उमा को इस प्रकार दिया -

गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी । नील सैल एक सुंदर भूरी ।।
तासु कनकमय सिखर सुहाए । चारि चारु मोरे मन भाए ।।
तिन्ह पर एक-एक बिटप बिसाला । बट पीपर पाकरी रसाला ।।
सैलोपरि सर सुन्दर सोहा । मनि सोपान देखि मन मोहा ।।

सीतल अमल मधुर चल जलज बिपुल बहुरंग ।
कूजत कलरव हंसगन गुंजत मंजुल भृंग ।।

तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई । जासु नास कल्पांत न होई ।।

--रा० ।७।५६-५७

१०. रहस्यात्मक शब्दोच्चारण -- इसका आभास मारीचि - वध के प्रसंग में मिलता है । वह मरते समय हा लक्ष्मण ! कह कर चीत्कार करता है जिससे सीता और लक्ष्मण को राम के संकट में पड़े होने की आशंका होती है । सीता हठपूर्वक राम की सहायता हेतु लक्ष्मण को भेजती है और उसी समय आश्रम को सूना पाकर रावण आता है और सीता का अपहरण करके चल देता है ।

तब तकि राम कठिन सर मारा । धरनि परेउ करि घोर पुकारा ।।

लछिमन कर प्रथमहिं लै नामा । पाछे सुमिरेसि मन महुं रामा ।।

< <

जाहु बेगि संकट अति भ्राता । लछिमन बिहंसि कहा सुनु माता ।।

< <

क्रोधवन्त तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ ।

चला गगन पथ आतुर भयरथ हांकि न जाइ ।। रा० ३।२७-२८

गीतावली में भी मारीचि द्वारा लक्ष्मण के नामोच्चारण की रहस्यात्मक घटना उल्लिखित है ।[१]

११. संकेत से बात कहना -- शूर्पणखा ने जब पंचवटी में जाकर-राम से विवाह का प्रस्ताव किया तो राम ने उसकी उपेक्षा कर दी । तब शूर्पणखा ने लज्जित होकर अपना भयंकर रूप प्रकट किया जिससे सीता डर गयीं । रामने सांकेतिक भाषा में लक्ष्मण से शूर्पणखा के नाक और कान काटने को कहा । मानस और बरवै रामायण में इसका उल्लेख है --

क. सीतहिं सभय देखि रघुराई । कहा अनुज सन सयन बुझाई ।।

लछिमन अति लाघव सों नाक कान बिनु कीन्ह ।

ताके कर रावन कहं मनो चुनौती दीन्ह ।। रा० ३।१७

---

१. रघुबर दूर जाइ मृग मार्यो ।

लखन पुकारि,राम हरुए कहि मरतहु बैर सम्हार्यो ।। गी०।३।६

ख.   बैद नाम कहि अँगुरिनि खंडिअकास ।

पठयौ सूपनखाहि लखन कै पास ।। ब०रा०।२८

१२. नायक और सहायक - कथाओं में नायक का कोई अभिन्न सहायक होता है जो हर क्षण सुख और संकट में सर्वत्र उसकी छाया की तरह साथ रहता है । रामकथा में लक्ष्मण ऐसे ही सहायक हैं । वन जाते हुए राम का साथ ही उन्होंने इसी व्रत के पालन हेतु किया था ।

१३. हजारों मनुष्यों से भी न हिलने वाला धनुष-- तुलसी की रामकथा में इसकथा-भिप्राय का उदाहरण जनकके यहां रखा गया शंकर का धनुष है । उसकी गुरुता का कथन करते हुए कवि ने जैसे इसी कथाभिप्राय को उस पर आरोपित कर दिया है --

भूप सहस दस एकहिं बारा । लगे उठावन टरै न टारा ।। रा०।१।२५१

१४. पशु-पक्षियों की भाषा --इस कथाभिप्राय के दो विभाग किए जा सकते हैं--

क . पशु-पक्षियों की जातीय प्राणियों से वार्तालाप

ख. पशुपक्षियों का विजातीय प्राणियों से वार्तालाप

काव्य की कथाओं में भाषागतअभिज्ञता के बावजूद भी मनुष्य, पशु,पक्षी आदि परस्पर भावाभिव्यक्ति करते हैं । मनुष्य पशु से कैसे विचार व्यक्त करता है इस पर कथाकार बिल्कुल ध्यान नहीं देता । किन्तु तुलसी ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में एक अर्द्धाली के द्वारा इस पर ध्यान दिया है --

खग समुझइ खग ही की भाषा ।। रा० ७।६२

तथापि इस आधार का पालन पूरे काव्य में नहीं हुआ है । दो जातियों के मध्य निर्विघ्न वार्तालाप सर्वत्र आवश्यकतानुसार कराया गया है ।

क. मनुष्य और पशुयोनि के प्राणियों का अभिव्यक्तिगत सम्पर्क रामचरितमानस में सर्वत्र देखने को मिलता है । नर, वानर और भालुओं का अतिशय सान्निध्य एक विचित्र मनोवैज्ञानिक व रोमांचक घटना है । यद्यपि वानर जाति को पशु के अन्तर्गत रखने की विचारधारा सर्वमान्य नहीं है तथापि इतना तो निश्चित ही है कि वे एकदम न तो मनुष्य के समान है और न उनके पास मनुष्य के समान प्रस्फुटित भाषा ही है । इतना सब होने पर भी हनुमान, अंगद और सुग्रीव आदि वानर न केवल राम के सेवक और सहयोगी थे अपितु सखा और सलाहकार भी थे ।

वानर से अतिरिक्त भालु जाति का प्रतिनिधित्व भी राम की सैना में

था । जाम्बवन्त उस जाति के वरिष्ठतम सदस्य थे । हनुमान को उड़ते हुए दिखाकर उनमें पक्षी का भी प्रमुख गुण आरोपित कर दिया गया है । अन्य पक्षियों में जटायु का नाम उल्लेखनीय है जो राम से वार्तालाप करता है –

तब कह गीध बचन धरि धीरा । सुनहु नाथ भंजन भय भीरा ।।
नाथ दसानन येहि गति कीन्हीं ।तेहि पुनि जनकसुता हरिलीन्ही ।।

जटायु का भाई संपाती वानर भालुओं से वार्तालाप करता है और उनसे अपनी कथा सुनाता है । यह वार्ता दो क्रमानुसार विजातीय प्राणियों के बीच हुई है । संपाती ने अपनी कथा वानर भालुओं को सुनाई । पशु-पक्षियों ने ~~अप~~ अपनी जाति के अन्तर्गत तो परस्पर संभाषण किया ही है जैसे कि गीतावली में शुक-सारिका का वार्तालाप । मनुष्य की तरह अभिव्यक्ति की कोई समर्थ भाषा पशुपक्षियों के पास नहीं देखी जाती तो भी साहित्यकार उनके इस अभाव को दृष्टि में न रखते हुए उनमें परस्पर विचारों का यथावश्यक आदान-प्रदान चित्रित करते हैं जो कथाभिप्राय का ही एक अंग है । कागभुशुण्डि और गरुड़ के मध्य सम्पूर्ण राम कथा का संवाद सम्पन्न हुआ , इस की चर्चा हम इसके पूर्व कर चुके हैं ।

१६. अभिमंत्रित रेखा का विलक्षण प्रभाव -- मन्त्रों से अभिषिक्त क्रिया द्वारा खींचीगई रेखा अथवा तन्त्रद्वारा खींची गई ऐसी रेखा जिसमें कोई विशेष शक्ति हो, इसकथाभिप्राय का तात्पर्य है ।

रामकथा में 'लक्ष्मणरेखा' इसके लिए प्रसिद्ध है जो लक्ष्मण ने रामके सहायतार्थ जाते हुए पंचवटी आश्रम में सीता के चतुर्दिक् खींच दी थी । कोई भी दुष्ट, आततायी दैत्य या छली उस रेखा को लाँघकर सीता का कोई अनिष्ट नहीं कर सकता था । रावण ने षडयन्त्रपूर्वक सीता को उस रेखा से बाहर आने हेतु विवश किया, जिससे वह सीता का अपहरण कर सका । रामचरितमानस में इस 'लक्ष्मण-रेखा' का कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु गीतावली में इसकी सूचना अवश्य प्राप्त होती है –

आरत बचन कहति बैदेही ।
बिलपति भूरि बिसूरि दूरि गए मृग संग परम सनेही ।
कहे कटु बचन रेख नांघी मैं तात क्षमा सो कीजै ।
देखि बधिक बस राजमरालिनि लषनलाल छिनि लीजै ।। गी०।३।७

कथाभिप्रायों का वर्गीकरण-

कथाभिप्रायों का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने अनेक प्रकार से इसका वर्गीकरण किया है। इनका एकदम सूक्ष्म और विशुद्ध वर्गीकरण काफी कठिन कार्य है। क्योंकि प्रत्येक स्थिति में एक वर्ग दूसरे में हस्तक्षेप अवश्य करता है। यहाँ हमारा उद्देश्य मात्र तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त कथाभिप्रायों का वर्गीकरण करना है।

स्थूलरूप से हम तुलसी साहित्य में पाए जाने वाले कथाभिप्रायों के दो वर्ग कर सकते हैं --

१. लोक प्रचलित कथाभिप्राय

२. कविकल्पित कथाभिप्राय

१. लोक प्रचलित कथाभिप्राय -ये कथाभिप्राय लोक में जीवित रहते हैं। किसी न किसी रूप में ये लोक जीवन के अंग हैं। कवि या साहित्यकार के कल्पनालोक में उद्भूत कथाभिप्रायों के अतिरिक्त शेष सारे कथाभिप्राय इसी वर्ग में सरलता से समाहित हो जाते हैं। मात्रा की दृष्टि से यह वर्ग अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध और समय की दृष्टि से अधिक प्राचीन है।

विवेच्य विषय (तुलसी-साहित्य में कथाभिप्राय) को दृष्टि में रखते हुए इसे हम निम्नलिखित उपवर्गों में विभाजित कर सकते हैं -

क. रीति रिवाजों एवं लौकिक विश्वासों पर आधारित कथाभिप्राय

ख. पुराकथाओं पर आधारित कथाभिप्राय

ग. चमत्कारिक घटनाओं पर आधारित कथाभिप्राय

घ. प्राणियों के स्वभाव और प्रकृति पर आधारित कथाभिप्राय

क. इसके अन्तर्गत भविष्यसूचक स्वप्न, शकुन अपशकुन से होने वाले फल से सम्बद्ध कथाभिप्रायों को रखा जा सकता है। तुलसी की कृतियों में इनकी प्रचुरता है।

ख. इसके अन्तर्गत भविष्यवाणी, पुनर्जन्म, अमृतवर्षा से जीवित होना, प्रेमपरीक्षा, तपस्या विषयक अभिप्राय वरदान, शाप, देव, ऋषि एवं राक्षस आदि से सम्बद्ध कथाभिप्राय लिए जा सकते हैं। तुलसी-साहित्य में मात्रा की दृष्टि से यह वर्ग प्रथम स्थान रखता है।

ग. चमत्कारिक घटनाओं पर आधारित कथाभिप्राय- इसमें योनिपरिवर्तन, रूपपरिवर्तन

काया प्रसार लघुरूप धारण, परकायप्रवेश आदि कथाभिप्राय ग्रहण किए जा सकते हैं। ये कथाभिप्राय वैचित्र्य एवं कौतूहल भाव से पूर्ण होते हैं तथा कथा में रोचकता उत्पन्न करते हैं।

घ. प्राणियों के स्वभाव और प्रकृति पर आधारित अभिप्राय - इसमें वस्तु को देखकर सम्बन्धित व्यक्ति का स्मरण, नायक, नायिका के प्रस्थान के समय पालित पेड़, पौधों का मुरझाना तथा पशुपक्षियों का दुखी होना लौटने का वादा, आदि ऐसे कथाभिप्राय हैं जो प्राणियों के स्वभाव एवं प्रकृति से सम्बद्ध हैं।

२. कवि कल्पित कथाभिप्राय - कवि कल्पित कथाभिप्राय केवल शिष्ट साहित्य अर्थात् कवि या कथाकार द्वारा रचित कथाओं में मिलने वाले ऐसे अभिप्राय हैं, जो विशुद्ध रूप से कल्पना की उपज होते हैं। इनका आधार लोक प्रतीति नहीं होती। लोकप्रिय होने के कारण ये काव्यों में बार-बार दुहराए जाते हैं। तुलसी की रामकथा में एक ही वाटिका में नायक का पुष्प चयन और नायिका का गिरिजापूजन हेतु जाना और साक्षात्कार करना, कपटी मुनि का मार्ग में मिलना, दूत द्वारा सन्देशप्रेषण, युद्ध क्षेत्र में भूत, प्रेत और योगिनियों का आना और वीभत्सलीला करना जंगल में सुंदर राजकुमारों का दिखाई पड़ना, रहस्यात्मक शब्दोच्चारण तथा संकेत से बात कहना आदि कथाभिप्राय कवि की कल्पना से ही उद्भूत हैं। यह आवश्यक नहीं कि वे कवि तुलसी के ही कल्पनालोक की उपज हों, पर इतना अवश्य है कि उनका प्रचलन कविपरम्परा में दिखायी पड़ता है, लोकजीवन में नहीं।

डॉ० ब्रजविलास श्रीवास्तव के अनुसार कविकल्पित रूढ़ियां केवल अलौकिकता और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए होती है। वे अधिकतर मध्ययुगीन समाज के कवियों की देन हैं जबकि रोमानी कथाओं की रचना केवल मनोरंजन के लिए होती थीं और उनमें जिज्ञासु को जाग्रत रखने के लिए संयोग या भाग्य के सहारे रोमांचक घटनाओं की कल्पना की जाती थी।[१]

साहित्यिक रचनाओं में प्रयुक्त होने वाले कथाभिप्राय सर्वांश में साहित्यिक अभिप्राय के अंग बन कर रचना में आते हैं। चाहे वे लोक प्रचलित कथाभिप्राय हों अथवा कविकल्पित कथाभिप्राय। दोनों से साहित्यकार को एक ही उद्देश्य (रचना-

---

१. डॉ० ब्रजविलास श्रीवास्तव, पृथ्वीराज रासो में कथानक-रूढ़ियाँ, पृ० ५६

तृतीय अध्याय

तुलसी-साहित्य में पौराणिक अभिप्राय

पौराणिक अभिप्राय का आशय -

अपनी रचनात्मक उपादेयता के कारण पौराणिक अभिप्राय भी साहित्यिक अभिप्राय के महत्वपूर्ण अंग बने हुए हैं । पौराणिक अभिप्राय को और भी स्पष्टता के साथ पुराकथात्मक अभिप्राय अथवा पुराख्यानक अभिप्राय कहा जा सकता है । ये प्राचीन कथाएं प्राचीन ग्रन्थों, विशेषत: धर्मग्रन्थों से सम्बद्ध होती हैं और इनकी मान्यता पूर्णरूपेण आस्तिक बुद्धि-विश्वास पर आधारित है । पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के वृत्तों के उद्भव का जो विषयक्षेत्र है उसे 'माइथालोजी' कहते हैं । 'माइथालोजी' से सम्बद्ध वस्तु को 'मिथिकल' कहा जाता है और इसी को आधुनिक गवेषणा में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार 'मिथकीय' कहा जाता है । यदि 'पौराणिक' शब्द को मात्र अष्टादश पुराणों की कथाओं के सूचक तथ्यों से ही सम्बद्ध न मानकर उसे समग्र प्राचीन धार्मिक कथाओं के सूचक तथ्यों का वाचक माना जाय और इस प्रकार 'पौराणिक' शव्द को किंचित् व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाय तो पौराणिक और मिथिकल दोनों समानार्थी ही हैं । पौराणिक तथ्यों को मिथक कहा जाता है और इसी आधार पर पौराणिक अभिप्राय को दूसरे शव्दों में मिथकीय अभिप्राय (मिथिकल मोटिफ) कहा जा सकता है । इन्हीं को कभी-कभी पौराणिक रूढ़ियां भी कहा जाता है जो वस्तुत: पौराणिक अभिप्राय की परिपक्वावस्था का नाम है । चूंकि मिथक तत्वों से सम्बद्ध ये अभिप्राय बहुत ही प्राचीन हो चुके हैं, अस्तु यदि इन सबको पौराणिक रूढ़ियां कहा जाय तो भी अनु-चित न होगा । प्रस्तुत अध्ययन में साहित्यिक अभिप्राय के एक विशिष्ट अंग के रूप में हमने इसे पौराणिक अभिप्राय कहना ही उचित समझा है । संक्षेप में पौराणिक

अभिप्राय से हमारा आशय उन विश्वासों से है जो सीमातीत चमत्कार से युक्त होने के कारण प्रकट रूप से तो सत्य नहीं प्रतीत होते, किन्तु जिन्हें हम अपनी आस्तिक भावना के कारण सत्य ही मानते हैं । ऐसी बातें मात्र पुराणों में ही न होकर अन्य पुराणेतर धार्मिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थों में भी है, किन्तु अधिकांश पुराणों में ही होने से इसकी 'पौराणिक अभिप्राय' संज्ञा सार्थक है । पौराणिक या मिथिकल से सामान्यत: काल्पनिक का ही अर्थ ग्राह्य है ।

पौराणिक अभिप्राय और काव्य का सत्य —

कल्पना कविता की विभूति है, काव्य में उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता । मिथकों को काल्पनिक होने के कारण यदि असत्य भी मानें तो उनकी असत्यता रचयिता को अपेक्षाकृत अधिक सचेष्ट प्रमाणित करती है । मिथकों की काव्यगत सत्यता असंदिग्ध है, विशुद्ध ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में वह संदिग्ध हो सकती है ज्ञान-विज्ञान द्वारा कभी-कभी मिथकीय भावना का प्रत्याख्यान होता है । उदाहरणार्थ विज्ञान ने यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसकी परिक्रमा करती है, जब कि पौराणिक धर्मगाथाएं कहती हैं कि सूर्य ही चलता है । इतना ही नहीं वह सात घोड़ों वाले रथ पर बैठकर चलता है । कुछ अन्य देवता भी उसका अनुगमन करते हैं । अरुण नामक पंगु सारथी सूर्य के रथ को हांकता है ।[१] इसी प्रकार अन्य मिथक जैसे पृथ्वी शेषनाथ के फण पर स्थित है, चन्द्रमा राहु नामक राक्षस द्वारा ग्रस्त होता है, शारदा और शेष बहुत समर्थ वक्ता है, आदि हैं जो प्रत्यक्षत: विश्वसनीय नहीं हैं । सुमेरु स्वर्ण निर्मित है , क्षीरसागर दुग्ध का समुद्र है, दैव और दानवों ने मिलकर समुद्र - मंथन किया था , अगस्त्य जे समुद्र को पी लिया था , आदि पुरा कथाएं भी इसी तरह की हैं । इनकी सत्यता पर नहीं बल्कि काल्पनिकता पर ही विश्वास होता है । मिथक की मान्यता का आधार मात्र आस्तिक बुद्धि का विश्वास है । आस्तिकता से

रहित बुद्धि प्रकट और विश्वसनीय साक्ष्यों के अभाव में ऐसे मिथकीय वृत्तों में कदापि विश्वास नहीं करती और इन्हें विशुद्ध काल्पनिक वृत्त मानती है । मिथकों का अधिकांश आज भी काल्पनिक ही प्रतीत होता है । आधुनिक विज्ञान ने अपने चमत्कारिक आविष्कारों के द्वारा कुछ मिथकों को एक सीमा तक विश्वसनीय बना दिया है । पुराकथाओं में आकाशवाणी का सुना जाना, दोनों का आकाश में विमान पर बैठ कर बिहार करना, तथा एक बाण से ही पृथ्वी को जलमय एवं अग्निमय कर देना, आदि मिथकवृत्त आज रेडियो, वायुयान तथा आणविक शस्त्रास्त्रों के आविष्कार के कारण अब उतने काल्पनिक नहीं रह गए हैं । पर चूंकि ऐसा होने से उन वस्तुओं या क्रियाओं के प्रति मानव-मन की मिथकीय भावना समाप्त हो जाती है, अत: मिथक पौराणिक अभिप्राय को असत्यमूलक तथा काल्पनिक ही मानना चाहिए । यदि उसमें कहीं सत्यांश होता है तो वह कल्पना और अतिरंजना की प्रचुरमात्रा से आवृत्त रहता है । पौराणिक अभिप्रायों की अनेकरूपता तथा उनमें निहित सम्भावनाओं का भेद इस तथ्य का पोषक है कि मिथकों का अंशमात्र ही सत्य हो सकता है शेष कल्पना और अतिरंजना पर आधारित है ।

मैक्समूलर ने सौर कथाओं के सन्दर्भ में मिथकीय भावना से प्रेरित रीतियों और प्रथाओं का विवेचन करते हुए लिखा है 'यदि हम यह मान लें कि आज जितने भी रीतिरिवाजों के स्पष्टार्थ का पता हमको नहीं है, उनका कभी न कभी कोई तात्पर्य था और बाद में लोग उनको भूल गए तो हमारे लिए अनेक बातें अनेक रहस्य अपने आप ही सुलझ जांयगे । इस व्यापक अस्पष्टता में मानव प्रवृत्ति का भी कम हाथ नहीं है । बात यह है कि मानव की आस्था स्पष्ट रीतियों में कम परन्तु अस्पष्ट रीतियों में अधिक प्रतीत होती है और यदि वे पुराकाल की हों तो कहना ही क्या । इसलिए जिन प्रचलनों एवं पुराकथाओं के प्रारम्भ बिन्दु हमारी पहुंच के सर्वथा बाहर रहते हैं, उनके विषय में विचार करते समय हमें उनकी समानान्तर कथाओं एवं रीतियों के रहस्य को जानने का प्रयत्न करना चाहिए, भले ही वे कथाएं या रीतियां दूरदेशीय हों । यह बात नैतिक मनोवैज्ञानिक पुराकथा शास्त्र

को बल देती हैं ।"[१] इससे स्पष्ट है कि मिथकों की अस्पष्टता मानव प्रवृत्ति के अनुरूप है । मनुष्य की यह प्रवृत्ति सत्यांश पर चमत्कार और अतिरंजना का इतना आवरण डालती रही कि वह सम्पूर्ण रूप में काल्पनिक और असत्य प्रतीत होने लगा । इसीकारण लोग इसे दूसरे रूप में मानने लगे जिसे हम मिथकीय रूप कह सकते हैं किन्तु जिस रूप में उसे तर्क बुद्धि मानवत्र मान्यता देने को तैयार नहीं होता ।

भौतिक जगत में मिथक भले ही असत्य माने जायं किन्तु काव्य में वे सत्य ही हैं । काव्य में सत्य के रूप में उनकी रचनात्मक उपादेयता ही इसका आधार है । कविजन इस विवाद में नहीं पड़ते कि मिथक सत्य हैं या असत्य । वे उसे सत्य मानकर काव्य में अपनी अभिव्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध करते हैं तथा कवित्वविषयक अन्य कार्य भी यथासंभव संपादित करते हैं । काव्य का उपादान बनने वाले ऐसे मिथकों की एक दीर्घ परम्परा और समूह है । काव्य में बहुत समय से इसका व्यवहार होता रहा है, अत: मिथक या पौराणिक रूढ़ियां भी काव्य-रूढ़ियों के ठीक समानान्तर प्रतीत होती हैं और काव्य में तो वे काव्य रूढ़ियों का अंग ही बन जाती हैं, इसी प्रकार 'अभिप्राय' संज्ञा के साथ विषय को ग्रहण करने पर पौराणिक अभिप्राय भी साहित्यिक अभिप्राय का महत्त्वपूर्ण अंग जान पड़ता है ।

साहित्यिक अभिप्राय के अन्तर्गत मिथकों (पौराणिक रूढ़ियों) के अध्ययन का औचित्य

मिथकों के अध्ययन की एक प्रधान समस्या यह है कि इसका विवेचन किस वर्ग के अन्तर्गत किया जाय । यदि काव्य में आने वाले मिथकों का आकलन स्वतंत्र रूप से करना चाहें तो उसे हमें कवि या काव्य पर पौराणिक प्रभाव के रूप में उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा । परन्तु यहां मिथकों के रचनात्मक मूल्यों का विवेचन अभीष्ट है जो इसे काव्य के प्रचलित उपादानों से जोड़ता है । मिथक काव्य के अभिप्राय बनकर अपनी कलागत उपादेयता सिद्ध करते हैं, इसलिए साहित्यिक अभि

---

१. मैक्समूलर कृत -पुराणाशास्त्र एवं जनकथाएं, पृ० १

प्राय के अन्तर्गत ही मिथकों का वर्ग निर्धारण उचित है ।

साहित्यिक अभिप्राय के कई प्रकारों का उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है । उनके साथ मिथकों को मिलाकर देखने से इनका स्वतन्त्र रूप अस्पष्ट रह जाता है । इधर कुछ विद्वानों ने कवि-समय के अन्तर्गत पौराणिक कवि समय का एक उप वर्ग बनाकर उसमें मिथकों को समाविष्ट कर लिया है । यद्यपि यह संगत नहीं है क्योंकि मिथकों का क्षेत्र कवि-समयों की अपेक्षा अधिक व्यापक है । यह सच है कि कुछ मिथक कवि-प्रसिद्धि बन गए हैं, पर सम्पूर्ण मिथकों को कवि-प्रसिद्धि मान लेना ठीक नहीं है । जैसे शिव के ललाट पर स्थित चन्द्रमा को सदैव बालचन्द्र (द्वितीया का चन्द्रमा) कहा जाता है । यह एक कवि समय है, पर शिव से ही सम्बद्ध अन्य वृत्त जैसे उनके शीश पर गंगा है, गले में सर्प है, वे कुवेषधारी है तथा त्रिशूलधारी हैं आदि बातें मिथक(पौराणिक रूढ़ियां) हैं कवि-प्रसिद्धियां नहीं । दोनों में सूक्ष्म अन्तर है । राजशेखर ने कवि समय (कविप्रसिद्धि) के लिए अशास्त्रीय होने की शर्त रखी है जबकि मिथकों का अशास्त्रीय होना आवश्यक नहीं है । मिथक प्राचीन ग्रन्थों, वेदों, उपनिषदों और पुराणों में ही विशेष रूप से पाये जाते हैं फिर उनके अशास्त्रीय होने का प्रश्न बहुत कम उठता है इसी अन्तर के कारण यहां मिथकों का विवेचन कविसमय से पृथक् करके ही करना ठीक है । यद्यपि दोनों ही साहित्यिक अभिप्राय के अंग हैं, किन्तु दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व भी है । जो मिथक लोकजीवन में घुलमिल गए हैं उनका अध्ययन हम लोकरूढ़ियों के अन्तर्गत कर सकते हैं किन्तु इस रीति से भी सम्पूर्ण मिथकों का अध्ययन सम्भव नहीं है । अस्तु काव्यरचना के विशिष्ट सन्दर्भ में साहित्यिक अभिप्रायों के अन्तर्गत मिथकीय अभिप्रायों का स्वतंत्र वर्गविधान उनके व्यवस्थित अध्ययन के लिए आवश्यक है ।

तुलसी के काव्य में मिथकों का प्रयोग

तुलसी के काव्य में मिथकों का विपुल प्रयोग पाया जाता है । हम स्पष्ट कर चुके हैं कि भक्तिकाल में मिथकों की मान्यता आज की तुलना में बहुत अधिक थी । बिना बौद्धिक चिन्तन किए पौराणिक धर्मगाथाओं में आस्था रखने वाले इस युग में इसका प्रयोग-बाहुल्य स्वाभाविक था इसी युग में तुलसी का आविर्भाव हुआ । तुलसी का युग मिथकों के प्रयोग के लिए अधिक उपयुक्त था । वैष्णव भक्ति-

आन्दोलन के प्रभाव से तत्कालीन समाज में पौराणिक धर्मगाथाओं के प्रति विशेष ममत्व था , जिसका लाभ कुशल भक्त कवियों ने मिथकों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर उठाया । यह तो मिथकों की प्रयोग बहुलता का वह प्रधान कारण है जो भक्तिकाल के सभी कवियों पर घटित होता है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक कवि के काव्य में मिथकों के बहुविध प्रयोग के कुछ वैयक्तिक कारण भी है, इन पर हम यहां विचार करेंगे ।

प्रयोग-बाहुल्य के कारण -- तुलसी के काव्य में पौराणिक रूढ़ियों के प्रचुर प्रयोग के तीन मुख्य कारण निम्नलिखित हैं --

१. कवि का भक्त रूप -- तुलसीकृतित्व से कवि हैं साथ ही भावना से भक्त । भक्त होने के कारण वे आस्तिक हैं, धर्मशास्त्रादि में आस्था रखते हैं और तत्सम्बन्धी मान्यताओं को भी स्वीकार करते हैं । अपने काव्य के माध्यम से वे अपने और पौराणिक युग के बीच अटूट सम्बन्ध जोड़ते हैं । डॉ० रमेश कुन्तल मेघ का विचार है - "तुलसी ने कवि से अधिक एक सन्त और भक्त की दृष्टि से काव्य रचना की है । उन्होंने अकबर , जहांगीर काल में जीवित रहते हुए एक मिथक कथा को गुप्तकालीन संस्कृति के वृत्त में संवारा है । इस तरह उन्होंने अपने युग का मिथकीकरण किया तथा पौराणिक युग का मध्यकालीनीकरण"[१] । तुलसी ने मिथकीय चेतना को अपने युग के साथ अपनी कविता में एकाकार कर दिया है, इसका सर्वाधिक श्रेय उनके भक्त रूप को ही है ।

२. नाना पुराण निगमागम सम्मत काव्य रचना -- तुलसी के काव्य की वस्तु सम्पदा के स्रोत वही हैं जो मिथकों के स्रोत हैं । निगम आगम और पुराणादि ग्रन्थ की पौराणिक रूढ़ियों के जनक और पोषक हैं और तुलसी ने भी अपनी कथा का आधार वहीं से ग्रहण किया है । रामचरितमानस में कवि ने मंगलाचरण में इस तथ्य की स्पष्ट उद्घोषणा की है कि उसकी वर्ण्यवस्तु नाना पुराण निगमानम -

---

१. डॉ० रमेश कुंतल मेघ - तुलसी आधुनिक वातायन से, पृ० १

सम्मत है ।[१] पौराणिक कथाओं और पात्रों के साथ संश्लिष्ट मिथकतत्वों को भी तुलसी ने बहुत कुछ ग्रहण कर लिया है । डॉ० विजयबहादुर अवस्थी तथा डॉ० गनौरी महतो प्रभृति विद्वानों ने उनकी पौराणिक काव्यभूमि का स्पष्टीकरण अपने शोधग्रन्थों में कर दिया है ।[२] पुराणकथाओं की तथाकथित वस्तु-सम्पदा को ग्रहण करने के कारण उनके काव्य में दिव्य और लोकोत्तर तथा असाधारण शक्ति सम्पन्न पात्रों का समावेश भी हुआ जो कि मिथकों के प्राचुर्य का एक प्रमुख कारण है ।

३. रामकथा को काव्य का विषय बनाना - तुलसी की अधिकतर रचनाओं का वर्ण्यविषय रामकथा ही है । भारतीय संस्कृति राम को ईश्वरत्व से मंडित करती है । वैष्णवभावना उन्हें अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी विष्णु का अवतार मानती है । सुदूर अतीत से आस्था और भक्तिभावना की भित्ति पर रामकथा अधिष्ठित है । राम का आविर्भाव धार्मिक ग्रन्थों में उल्लिखित कथाओं के आधार पर त्रेता युग में माना जाता है, जो कि कई युगों पूर्व की घटना है और जिसे सहज रूप से अनुमानित न किए जा सकने के कारण अब मिथक तुल्य ही माना जाने लगा है । इस प्रकार राम को प्रभुता सम्पन्न मानने की भावना और रामकथा की अत्यधिक प्राचीनता ने रामकथा को पौराणिक अभिप्रायों से बोझिल बना दिया है । पुराण और रामायण आदि ग्रन्थों में तो रामकथा का विस्तार मिलता ही है, वेदों में भी रामकथा के बीज पाए जाते हैं ।[३] राम को ईश्वर मानने के कारण जनमानस न केवल उनके असम्भव और चमत्कारिक कृत्यों को उसी रूप में मानता रहा, अपितु उसमें इस प्रकार की और वस्तु भी जोड़ता रहा । यही व्यवहार रामकथा से सम्बद्ध अन्य पात्रों के साथ भी कुछ न कुछ मात्रा में हुआ । परिणामस्वरूप दीर्घकाल से

---

१. नानापुराण निगमागम सम्मतं यत्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतो पि । रा०।१।मं० ७

२. द्रष्टव्य-डॉ० विजय बहादुर अवस्थी लिखित 'रामचरित मानस पर पौराणिक प्रभाव' तथा डॉ० गनौरी महतो लिखित 'नानापुराण निगमागम सम्मत रामचरितमानस' शीर्षक शोध प्रबन्ध ।

३. द्रष्टव्य पं० रामकुमारदास लिखित पुस्तक 'वेदों में रामकथा'

प्रवाहित रामकथा का जो रूप तुलसी को प्राप्त हुआ, वह पौराणिक अभिप्रायों की सघन परतों से आवृत था। यद्यपि तुलसी ने सम्पूर्ण रूप में उसे ग्रहण नहीं किया तथा अपनी काव्यदृष्टि के अनुरूप ही मिथकों को स्वीकार किया, तथापि उनके काव्य में मिथकतत्वों की बहुलता दृष्टिगोचर होती ही है।

......पौराणिक अभिप्रायों का प्रयोग और तुलसी की रचना-दृष्टि –

तुलसी-साहित्य में पौराणिक अभिप्रायों के इस प्रचुर प्रयोग के पीछे एक विशिष्ट और मूलभूत प्रवृत्ति काम करती है वह है रचना की प्रवृत्ति। काव्य-रचना की प्रवृत्ति या दूसरे शब्दों में जिसे रचनात्मक प्रवृत्ति कहा जा सकता है, रचयिता अथवा कविस्वभाव के कारण है। पौराणिक अभिप्रायों की जो राशि तुलसी ने अपनी कविता में उतारी है, उसका अधिकांश साहित्यिक दृष्टि से प्रेरित है। मिथकों को बहुधा तुलसी एक कवि की भाँति ग्रहण करते हैं, भक्त और धार्मिक की भाँति नहीं। मिथकों के प्रति उनकी निष्ठा एक कवि की निष्ठा है, भक्त की निष्ठा नहीं। वे कभी-कभी अभिव्यक्ति के प्रयोजन से और कभी-कभी काव्य में सौष्ठव उत्पन्न करने के लिए पौराणिक अभिप्रायों को अपना लेते हैं। विविध भावों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने पौराणिक अभिप्राय के भिन्न भिन्न पहलुओं पर भी दृष्टि डाली है। इसीलिए तुलसी द्वारा इनका ग्रहण एकरूपता से आगे बढ़कर विविधरूपता तक पहुँच गया है। पौराणिक अभिप्रायों का रसमूलक और अलंकारमूलक प्रयोग भी तुलसी ने बहुत किया है, जिसे विशुद्ध साहित्यिक प्रयोग मानने में कथमपि विवाद नहीं हो सकता। काव्य रसों के स्थायी भावों, अन्य स्थूल भावों के अतिरिक्त कभी-कभी अत्यन्त सूक्ष्म भावों की उद्भावना भी व तुलसी ने पौराणिक अभिप्रायों की सहायता से दक्षतापूर्वक की है। पात्रों के रूपांकन में, विशेषत: सत्पात्रों के सौन्दर्याङ्कन में भी इन अभिप्रायों का महत्वपूर्ण योगदान है। अपनी इसी उपादेयता से पौराणिक अभिप्राय तुलसी के काव्य में साहित्यिक अभिप्राय के विशिष्ट अंग बन सके हैं।

एक कवि की तरह तुलसी ने निर्भीकता से पौराणिक अभिप्रायों को ग्रहण किया है। वे भीरुता और धर्मान्धता के कारण मिथकतत्व के प्रति होने वाली सहज श्रद्धा से सदैव मुक्त रह सके हैं। अभिव्यक्ति का प्रयोजन सफल करने के

लिए उन्होंने राम को राहु तक कहने में संकोच नहीं किया है[१], तथा शारदा और शेषनाग को नितान्त अक्षम कहते हुए भी उनका हृदय खिन्न नहीं हुआ है[२]। यदि उनका भक्त और धार्मिक रूप विशिष्ट होता तो वे निश्चय ही ऐसा न करते। उनकी इसी रचना-दृष्टि के प्रकाश में उनके द्वारा ग्रहीत पौराणिक अभिप्रायों की गवेषणा हम यहाँ करेंगे।

काम और रति –

काम और रति काव्य में उत्कृष्टतम मानवीय सौन्दर्य के आदर्श हैं। इस मिथक का अध्ययन दो वर्गों में किया जा सकता है –

(क) पुरुष-सौन्दर्य का आदर्श - काम

(ख) स्त्री-सौन्दर्य की आदर्श- रति

तुलसी ने दोनों मिथकों का प्रचुर व्यवहार अपनी रचनाओं में किया है। यहाँ दोनों का पृथक् पृथक् विवेचन प्रस्तुत है –

(क) पुरुष-सौन्दर्य का आदर्श- काम

पुरुष सौन्दर्य-बोध के लिए कामदेव का रूप ही सर्वाधिक प्रचलित रहा है। तुलसी ने भी इसे व्यापक रूप से अपनाया है। अपने नायक राम के सौन्दर्य का बोध कराने के लिए वे कामदेव को ही आधार बनाते हैं। कागभुशुण्डि गरुड़ से राम के बालरूप की छवि का वर्णन करते हुए कहते हैं –

मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रतिछबि बहु कामा।।
रा०७।७६

विचारणीय है कि यह मिथक तो प्राचीन ग्रन्थों में भी प्राप्त हैं, तो फिर इसमें कवि की रचनाशीलता कहाँ निहित है। राम के सौंदर्य का आभास देने के लिए तुलसी ने काम का शताधिक बार प्रयोग किया है किन्तु 'राम काम की भाँति

---

१. भगवान-राकेस ग्रासन विधुंतुद। वि०५०।५८

२. कहत सारदउ कर मति हीचे। सागर सीपकि जाहिं उलीचे।। रा०२।२८३

सुन्दर हैं, ऐसे कथन कम ही मिलेंगे । कहने का तात्पर्य यह कि कवि का कथन सर्वत्र नाना प्रकार की भंगिमाओं से युक्त है । वह काम के सहारे कितने प्रकार से राम के मनोहारी रूप की अभिव्यंजना करता है, नीचे द्रष्टव्य है --

(१) राम का सौन्दर्य शतकोटि कामदेवों के सौन्दर्य के तुल्य है -

इष्टदेव मम बालक रामा ।
सोभा वपुष कोटि सत कामा ।।रा०।७।७५

(२) राम का सौन्दर्य अनेक कामदेवों के सौन्दर्य के तुल्य है --

सुखधाम राम नमामि काम अनेक छवि रघुनायकं । रा०६।११३

(३) राम के सौन्दर्य पर करोड़ों कामदेवों का चित्त मुग्ध हो जाता है -

तरुन तमाल बरन तन सोहा । देखत कोटि मदन मन मोहा ।।
-रा०२।११५

(४) राम के श्यामल रूप सौन्दर्य से कोटि कामदेव लज्जित हो जाते हैं --

स्याम सरीरु सुभाय सुहावन ।
सोभा कोटि मनोज लजावन ।। रा० । १।३२७

(५) राम ने काम की मनोहरता जीत ली है -

सांवरे गोरे सलोने सुभायं मनोहरता जिति मै न लियो है । क०२।१८

इस प्रकार तुल्यता, मोह, लज्जा और पराजय आदि भावों को काम के ऊपर आरोपित कर तुलसी राम का सौन्दर्य बोध कराना चाहते हैं । यही नहीं, जिस राम को वे अपना आराध्य मानते हैं उन्हें अनायास ही काम को लज्जित करने, उसका सौन्दर्यापहरण करने का दोष लगाकर सौन्दर्यांकन में प्रयत्नशील होते हुए वे विशुद्ध कवि कर्म का परिचय देते हैं । मिथक का आधार ग्रहण करते हुए भी तुलसी कवि स्वभानुकूल सौन्दर्य निरूपण में अल्पता से अधिकता की ओर, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर चलते हुए सचेष्ट दिखायी पड़ते हैं । वे राम के सौन्दर्य को कहीं कामदेव के तुल्य[१] कहीं कोटि कामदेवों के तुल्य[२] कहीं सतकोटि कामदेवों के तुल्य[३]

---

१. बलकल बसन जटिल तनु स्यामा । जनु मुनि वेष कीन्ह रति कामा ।।रा०२।२३६
२. रघुपति राजीव नयन सोभा तनु कोटि मयन । गी०७।३
३. रोम रोम पर सोम काम सत कोटि वारि फेरि डारे । गी०।१।६६

और कहीं अगणित कामदेवों के तुल्य[१] कहते हैं । संख्या अथवा मात्रा के आधार पर हम इसमें रचयिता की रचना-दृष्टि का स्पष्ट आभास पा सकते हैं । स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उनकी गति का आभास इससे लगता है कि कहीं तो वे राम के सम्पूर्ण स्वरूप को कामदेव के सदृश कहते हैं, पुन: रामरूप में कोटि कामदेवों की छवि बतलाते हैं और फिर कहीं राम के एक-एक अंग पर करोड़ों कामदेवों को न्यौछावर कर देते हैं ।[२] यह सौन्दर्य बोध कराने का विविध प्रयत्न है । एक ओर तो यह सचेष्टता और दूसरी ओर राम और काम दोनों पर नानाविध भावों का आरोपण करते हुए कवि सौन्दर्य-विधान में दत्तचित्त दिखायी पड़ता है । भावों का आरोपण भी दो प्रकार का है -- (१) अनुकूल भावारोपण (२) विपरीत भावारोपण ।

(१) अनुकूल भावारोपण - काम का राम के सौन्दर्य पर मुग्ध होना, तथा राम द्वारा कामसौन्दर्य का जीता जाना ।

(२) विपरीत भावारोपण-काम का लज्जित होना,राम द्वारा काम का सौन्दर्यापहरण ।

इसे कवि तुलसी की विशेष दक्षता ही कहा जा सकता है कि उन्होंने विपरीत भावारोपण के द्वारा भी सौन्दर्यबोध कराया है । एक का अनुकूल भाव दूसरे के लिए विपरीत भाव होता है । कवि का रमणीय उद्देश्य विपरीत भावों की कटुता को भी नष्ट कर देता है । साज-सज्जा से रहित राम का रूप भी इसी मिथक के आधार पर चित्रित किया गया है जो उनके सहज सौन्दर्य को उभारने वाला है ।[३] इस मिथक के प्रयोग में तुलसी ने कुछ मनोरम कल्पनाएं भी की हैं जैसे राम का सौन्दर्य इतना मोहक है कि स्वयं कामदेव उनके रूप का

---

१. कन्दर्प अगणित अमित छवि नव नील नीरज सुंदरं । वि०प० ४५

नील जलदाभ तनु स्याम बहु काम छवि । वि०प० ।४६

२. डारौं बारि अंग अंगनि पर कोटि-कोटि सत मार ।।गी०।१।२६

३. तापस हूं वेष किए कोटि काम फीके हैं । गी०।२।३०

वर्णन करने लगता है ।[१] मूल मिथक तो यह है कि कामदेव काम और सौन्दर्य का देवता है । मिथकों के स्रोत-ग्रन्थों में ऐसा कथन नहीं प्राप्त होता कि काम स्वयं किसी के सौन्दर्य पर मोहित होता हो, अथवा किसी के सौन्दर्य को देखकर लज्जित होता हो, इसे कवित्व कहना चाहिए क्योंकि ऐसी कल्पनाएं कवि हृदय से निष्पन्न हैं ।

तुलसी ने अपने काव्य में सर्वाधिक प्रयोग इसी मिथक का किया है । स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत विवेचन में सबका समावेश सम्भव नहीं है ।

(ख) स्त्री-सौंदर्य का आदर्श - रति

स्त्रियों में तुलसी ने मात्र सीता के सौन्दर्य का अंकन विशेष रूप से किया है । जिस तरह से पुरुष-सौन्दर्य विधान के लिए काम का मिथकीय प्रयोग काव्य में प्रचलित है उसी तरह स्त्री सौन्दर्य-विधान के लिए काम की स्त्री रति के सौन्दर्य को प्रतिमान माना गया है । काम की भांति रति की मान्यता भी उतनी ही प्राचीन है ।

तुलसी ने सीता-सौन्दर्य के अतिरिक्त मिथिला और अयोध्या की नारियों का सौन्दर्यबोध भी इसी पौराणिक अभिप्राय के आधार पर कराया है । सर्वत्र मिथक को आधार बनाने के साथ ही भावारोपण भी किया गया है ।

सीता का सौन्दर्य — पूत सपूत पुनीत प्रिया
निज सुंदरता रति को मद नाए । क०।७।४५

मिथिला की नारियों का सौन्दर्य- बिधुवदनी सब मृग लोचनि ।
सब निज तन छबिरति मृदु मोचनि ।।रा०१।३१८

अयोध्या की नारियों का सौन्दर्य -
जूथ-जूथ मिलि चलीं सुआसिनि ।
निज छबि निदरहिं मदन बिलासिनि ।रा०१।३४५

---

१. करत छांह घन, बरसैं सुमन सुर, छबिबरनत अतुलित अनंग । गी०।१।५१

शूर्पणखा जब रावण के समक्ष राम,लक्ष्मण और सीता का परिचय देती है तो सीता-सौन्दर्य की विशिष्टता रति के आधार पर व्यक्त करती हैं ।[१] कल्पना का योग भी इस मिथक में कवितावली में मिलता है, जहाँ वन को जाती हुई सीता के सौन्दर्य की सूचना देते हुए तुलसी कहते हैं कि सीता ने अपना रंचमात्र रूपसौन्दर्य रति को दान कर दिया है ।[२]

काम और रति का यह मिथक पुरुष और स्त्री की सौन्दर्याभिव्यक्ति के साथ ही अपने दाम्पत्य सम्बन्ध के आधार पर राम और सीता के दाम्पत्य, और सह-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी करता है । यह मिथक-युग्म सुन्दरतम मनुष्य दंपति को साहित्य में चित्रित करने का एक सुन्दर उपादान है । राम और सीता को इसके आधार पर अनेकशः चित्रित किया गया है[३] –

(२) चन्द्रमा – चन्द्रमा से सम्बद्ध तीन प्रकार के मिथक प्रचलित हैं –

(क) राहु नामक ग्रह चन्द्रमा को ग्रसता है ।
(ख) चन्द्रमा में कलंक है ।
(ग) चन्द्रमा में अमृत है ।

(क) राहु द्वारा चन्द्रमा का ग्रहण – इस मिथक का प्रयोग अधिकतर रामचरित मानस और विनयपत्रिका में हुआ है । मिथक का मूल पुराणों में वर्णित समुद्रमंथन के सुप्रसिद्ध आख्यान में निहित है । इस प्रसंग को पुराणों में कहीं से समुद्रमंथन और कहीं क्षीराब्धिमथन कहा गया है । समुद्रमंथन के फलस्वरूप निकले हुए चौदहरत्नों में अमृतमुख्य था । इसी के लिए विशेष रूप से सागर-मंथन किया गया था । विष्णु जब एक मोहिनी नारी के रूप में देवों के बीच अमृत वितरण कर रहे थे

---

१. रूपरासि बिधि नारि सँवारी । रतिसत कोटि तासु बलिहारी ।। रा०।३।२२
२. सँगलिए बिधुबैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो है । क०।२।१६
३. बल्कल बसन जटिलतनु स्यामा । जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा ।।रा०२।२३६
४

बालमृग-मंजु खंजन-बिलोचनि चन्द्र-वदनि छबि कोटि रति मार लाजैं ।। वि०प०।१

तभी चोरी से राहु नामक राक्षस ने अमृत पी लिया । चन्द्रमा ने विष्णु से संकेत किया और विष्णु ने तत्काल अपने चक्र से राहु का शिरच्छेद कर दिया । ऐसा कहा जाता है कि उसी वैरभाव के कारण राहु चन्द्रमा को समय-समय पर ग्रसता है ।

तुलसी ने इस मिथक का प्रयोग दो प्रकार से किया है जिसमें वैरभाव का निरूपण प्रमुख है --

(१) सम्बन्धबोधक प्रयोग - इसके अन्तर्गत यह मिथक मात्र शत्रुता बोधक है ।

बन दिसि देव सौंपि सब काहू ।
चले जहां रावन ससि राहू ।। रा० ।३।२८

(२) नीति बोधक प्रयोग- टेढ़ जानि संका सब काहू ।
बक्रचंद्रमहिं ग्रसइ न राहू ।। रा०।१।२८१

(३) अलंकारमूलक प्रयोग -- नृप भुज बल बिधु सिवधनु राहू ।
सांगरूपक गरुअ कठोर विदित सब काहू ।। रा०।१।२५०

विनय पत्रिका में राहु के लिए विधुंतुद पर्याय[१] का प्रयोग हुआ है[१]। उक्त उदाहरणों में अभीप्सित अभिव्यंजना के लिए कवि ने राम और शिव धनुष को राहु कहा है । अन्यत्र रावण के बाहुओं को राहु कहा गया है ।[२] उल्लेखनीय है कि यहां अभिव्यक्ति का लक्ष्य ही वरेण्य है अन्यथा तुलसी रामको राहु न बनाते ।

(ख) चन्द्रमा का कलंक - राम को वन जाते देख कर ग्रामवासिनी नारियां कहती हैं -- कि विधाता कितना निरंकुश और निष्ठुर है जिसने चन्द्रमा को भी कलंक से युक्त बनाया ।[३] इस मिथक के प्रयोग दो तरह से मिलते हैं --

---

१. अग्यान-राकेस ग्रासन विधुंतुद । वि०प० ।५८

२. जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु ।
लोकपाल बल बिपुल ससि ग्रसन हेतु सब राहु ।। रा० ६।२२

३. निपट निरंकुस निठुर निसंकू । जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ।।रा०।२।११६

(१) विकृति बोधक प्रयोग - रिषि पुलस्त्य जस बिमल मयंका ।
तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका ।। रा०।५।२३

(२) सौन्दर्य बोधक प्रयोग - बहुरि बिचार कीन्ह मन माँही ।
सीय बदन सम हिमकर नाँही ।।
जनमसिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ।।रा०१।२३७

उक्त सौन्दर्य बोधक प्रयोग प्रतीप अलंकार पर आधारित है । विष को चन्द्रमा का बंधु कहना भी एक मिथक है जिसका आधार समुद्र-मंथन का लोकविश्रुत आख्यान ही है । इसी कलंक को लक्ष्य करके मानस के लंकाकाण्ड में शशि केसरी रूपक का एक मनोरम प्रसंग निर्मित है ।

(ग) चन्द्रमा में अमृत का होना --

तुलसी के ऐसे कुछ प्रयोग निम्नलिखित हैं -

१. तत्त्व बोधक प्रयोग - सुनि भूपाल भरत व्यवहारू ।
सोन सुगंध सुधा ससि सारू ।।रा०२।२८८

२. चेतना बोधक प्रयोग - यह उत्प्रेक्षा अलंकार पर आधारित है -
जाइ सुमंत्र दीख कस राजा ।
अमित रहित जनु चंद विराजा ।।रा०२।१४८

३. सौन्दर्य बोधक प्रयोग - अरुन पराग जलज भरि नीके ।
ससिहि भूष अहि लोभ अमी के ।। रा०।१।३२५

उपदेशात्मक एवं बोध परक कथनों में भी इस मिथक का व्यवहार हुआ है[1]।

कल्पतरु - पौराणिक रूढ़ि के अनुसार कल्पतरु मनोवांछित फल को देने वाला है । समुद्रमंथन से उद्भूत चतुर्दश रत्नों में कल्पवृक्ष का भी उल्लेख मिलता है[2]।

---

१. नरमुख सुंदर मन्दिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि ।
सखि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर जल कहँ धावहि ।। वि०प०।२३७

२. द्रष्टव्य,श्रीमद्भागवत् ८।८।६

ऐसा कहा जाता है कि कल्पवृक्ष की छाया में बैठकर जो भी इच्छा की जाय वह पूर्ण हो जाती है "कल्पद्रुम:कल्पित मेव सूते ।" किन्तु उसकी दानशक्ति अर्थ, धर्म और काम तक सीमित है । तुलसी ने मोक्षदायक रामनाम को इसकी तुलना में श्रेयठ कहा है ।[१]

तुलसी ने इसके अनेक पर्याय शब्दों जैसे कामतरु[२], सुरतरु[३], देवतरु[४], बिबुध तरु[५], सुररूख[६] आदि का प्रयोग अपनी सुविधानुसार किया है । कवि ने अनेक बार शिव और राम को तथा रामनाम को सुरतरु अथवा उससे भी बढ़कर बताया है । वह कुछ उल्लेखनीय प्रयोग जो प्रभावबोधक एवं अलंकार मूलक हैं, अधोलिखित हैं --

(क) प्रभावबोधक (१) सेवत सुलभ सदार कलपतरु
पारबती पति परम सुजान । वि०प० ।२

(२) जासु भवन सुरतरु तर होईं ।
सह कि दरिद्र जनित दुख सोईं ।। रा० ।१०८

(ख) अलंकारमूलक प्रयोग —

(१) उपमा- देव देवतरु सरिस सुभाऊ । रा०२।२६७

(२) उत्प्रेक्षा- व्याकुल राउ सिथिल सब गाता ।
गिरिनि कलपतरु मनहुं निपाता ।। रा०२।३५

(३) उदाहरण- जथा दरिद्र विबुधतरु पाई ।
बहु संपति मांगत सकुचाई ।। रा०१।१४६

----

१. रामनाम काम तरु देत फल चारि रे । वि०प० । ६७
२. सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु, सुमिरत होत कलिमल छलछीनता ।वि०प०२६
३. जो मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु । वि०प० ।२०३
४. अभिमत दानि देवतरुवर से ।। रा०।१।३२
५. जथा दरिद्र बिबुध तरु पाई । बहु संपति मांगत सकुचाई ।।रा०।१।१४६
६. नव पल्लव फल सुमन सुहाए ।निज संपति सुररूख लजाए ।। रा०१।२२७

राम के स्वभाव का बोध भी कल्पतरु से कराया गया है ।[1] दोहावली के अनेक दोहों में इस मिथक का बार-बार प्रयोग हुआ है । पार्थिव वन-वृक्षों के पल्लवित पुष्पित रूप का सौन्दर्य भी कल्पतरु पर लज्जा का भावारोपण करके प्रकट किया गया है ।[2] जो कि विशुद्ध कवि कर्म है । प्रस्तुत मिथक में कल्पना का सम्मिश्रण करके उन वृक्षों की महनीयता चित्रित की गई है जिनके नीचे वन जाते हुए राम थोड़ी देर के लिए बैठ जाते हैं । कल्पतरु ऐसे वृक्षों की स्वयं प्रशंसा करने लगता है ।[3]

प्रयोगाधिक्य की दृष्टि से यह काम और रति-सौन्दर्य के बाद दूसरा मिथक है जिसका सर्वाधिक प्रयोग तुलसी ने किया है । प्रयोगों की संख्या इतनी अधिक है कि प्रस्तुत विवेचन में सबका सन्निवेश कठिन है । विभिन्न दृष्टियों से प्रयुक्त होने के कारण प्रचुर प्रयोग के बावजूद भी नीरसता नहीं आने पाई है ।

कामधेनु –

पुरा कथाओं के अनुसार कामधेनु भी मनोवांछित फल को देने वाली है । इस का उद्भव समुद्र-मंथन से हुआ था ।[4] जब यह प्रकट हुई तो ब्रह्मवादी ऋषि-गणों ने ब्रह्मलोक के मार्गतक पहुँचाने वाले यज्ञीय पवित्र घृत के लिए उस अग्निहोत्री धेनु को ले लिया ।

तुलसी ने अपने प्रयोगों में इसे कामधेनु के अतिरिक्त सुरधेनु,[5] बिबुधधेनु,[6] कामदगाई,[7] कामदुहा,[8] आदि भी कहा है । 'कामधुक' शब्द गीतावली में प्राप्त

---

१. तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सों ज्यों दरपन मुख कांति । वि०प०।२३३
२. नवपल्लव फल सुमन सुहाए । निज संपति सुररूख लजाए ।। रा० ।१।२२७
३. जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाईं । करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ।। रा०।२।११३
४. श्रीमद्भागवत् ८।८।६
५. कहु खगेस अस कवन अभागी । खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी ।। रा०७।११०
६. जाहिर जहान में जमानो एक भांति भयो,
   बेंचिए बिबुध धेनु रासभी बेसाहिए ।। क०।७।७६
७. रामकथा कलि कामद गाई । सुजन सजीवनि मूरि सुहाई ।।रा०।१।३१
८. न तु और सबै बिष बीज बए हरहाटक कामदुहा नहिकै ।।क०।७।३३

है ।[१] कल्पतरु विषयक मिथक की जो मुख्य अभिव्यंजना है, वही कामधेनु से भी व्यक्त की गई है । तुलसी की कविता में इसका प्रयोग सर्वत्र एक सा दिखायी देता है कुछ दृष्टान्त प्रस्तुत हैं ।

१. भरत कहेउ सुरसरितव रेनू । सकल सुखद सेवक सुरधेनू ।। रा०२।१६७

२. रामराज भइ कामधेनु महि सुख संपदा लोक छार ।। गी० ।६।२३

३. सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलिकासी । वि०प० ।२२

अलंकार पर आधारित प्रयोगों में उपमा के उदाहरण मिलते हैं —

२. गजरथ तुरग दास अरु दासी । धेनु अलंकृत कामदुहा सी । रा०१।३२६

२. सीतापति सेवक सेवकाई । कामधेनु सय सरिससुहाई ।।रा०२।२६६

तुलसी ने भगवान राम को शतकोटि कामधेनु के सदृश बताया है ।[२] कई उद्धरण ऐसे भी हैं जहां कामधेनु और कल्तरु का सम्मिलित प्रयोग हुआ है ।[३]

समुद्र-मंथन —

पौराणिक ग्रन्थों में इस आख्यान का अनेक स्थानों पर वर्णन हुआ है । समुद्रमंथन, क्षीरोदमथन, क्षीराब्धिमथन आदि नामों से इस कथा को सविस्तार प्रस्तुत किया गया है । सर्वत्र इस आख्यान में अमृत की प्राप्ति के लिए देवों और असुरों द्वारा समुद्र के मथे जाने का वृत्तान्त बड़े रोचक ढंग से कहा गया है । मन्दराचल को उठाकर लाना, नागराज वासुकि को रस्सी बनाना और कई हजार वर्षों तक समुद्र का मंथन करना आदि ऐसी घटनाएं हैं जो आज हमें नितान्त विस्मय में डाल देती हैं सम्भव है युगों पहले इसके समरूप कोई लघु घटना घटी हो और बाद में धीरे-धीरे विष्णु और देवताओं की महनीयता को बढ़ाने और दुर्दान्त असुरों की शक्ति की तीव्रानुभूति कराने के लिए चमत्कार और अतिरंजना मिश्रित वर्णन करने

---

१. कामधुक महिकामतरु तरु उफल मनिगत लाल । गी०। ७।१

२. कामधेनु सत कोटि समाना । सकल काम दायक भगवाना ।।रा० ७।९२)

३. चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै ।। वि०प०।१२५

की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने इसे इस रूप तक पहुँचा दिया हो । आज यह घटना एक मिथक बन गई है ।

तुलसी ने रामचरित मानस में तीन स्थानों पर इस मिथक के आधार पर भाव व्यंजना की है । तीनों प्रयोग अलंकार के आधार पर हुए हैं किन्तु तीनों की अपनी कुछ भिन्न विशेषताएँ भी हैं —

१. यह उपमालंकार के अन्तर्गत सादृश्यविधान हेतु किया गया साधारण प्रयोग है--

लंका द्वौ कपि सोहहिं कैसे ।
मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे ।।रा० ।६।४५

२. यह सांगरूपक के आधार पर किया गया तत्वप्राप्तिबोधक प्रयोग है ।

ब्रह्मपयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं ।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि ।। रा०।७।१२०

३. यह भी सांगरूपक के आधार पर किया गया विशुद्ध सौन्दर्य बोधक प्रयोग है जिसमें सीता के सौन्दर्य का बोध कराना कवि को अभीष्ट है —

जो छवि सुधा पयोनिधि होई । परम रूप मय कच्छपु सोई ।।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ।।
यहि बिधि उपजै लच्छि जब ,सुंदरता सुखमूल ।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल ।। रा०।१।२४७

सीता-सौन्दर्याङ्कन के इस प्रयास पर, जो मात्र मिथकीय आधार पर सम्पन्न हुआ है, काव्यरसिकों की दृष्टि प्राय: आनन्दविभोर होकर कुछ क्षण के लिए रुक जाती है । डॉ० बचनदेवकुमार ने इस प्रसंग को उद्धृत करते हुए कहा है " मानस में गोस्वामी जी ने अलंकारों की सहायता से पौराणिक जीर्ण बिम्बों (Mythological Trite Images) का कायाकल्प किया है । संभावना के द्वारा पौराणिक आख्यान पर आधारित बिम्ब के नवीनीकरण से सीता के सौन्दर्य के अनन्वित रूप बिम्ब का परिदर्शन करें ।[१] डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन ने इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए इसे कविमानस की सौन्दर्यानुभूति की सम्प्रेषणीयता के लिए ही अभिव्यक्त कलापूर्ण शब्दविधान माना है जो सीता के लिए उपयुक्त उपमान भले न

---

१. डॉ० वचनदेव कुमार - रामचरितमानस में अलंकार योजना, पृ० २६४

प्रस्तुत कर सका हो किन्तु यह पाठक को सीता के सौन्दर्य की अनुभूति अवश्य करा देता है ।[१] उक्त दोनों सांग रूपकों में एक विशेष तथ्यपूर्ण बात यह है कि जहाँ तत्व की निष्पन्नता का बोध कराना था वहाँ कवि ने समुद्रमंथन से निकले चौदह रत्नों में से सुधा की ओर संकेत किया और जहाँ स्त्रीसौन्दर्य का बोध कराना था वहाँ लक्ष्मी की ओर ।

अगस्त्य का समुद्र पान -

अगस्त्य के समुद्र-पान की कथा पद्मपुराण, स्कन्द पुराण तथा महाभारत आदि में मिलती है । देवासुर संग्राम के कारण जब बहुत से राक्षसों का संहार हो गया और थोड़े राक्षस शेष रहे तो उन्होंने दूसरा कपट-मार्ग अपनाया । वे दिन में सागर में छिपे रहते और रात्रि में सागर से निकलकर ऋषि मुनियों का भक्षण करते थे ।[२] इस स्थिति से चिन्तित देवों को विष्णु ने परामर्श दिया कि वे अगस्त्य ऋषि से समुद्र शोषण के लिए प्रार्थना करें । देवता अगस्त्य के पास गए । ऋषि ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर समुद्र को पी लिया । स्कन्दपुराण के अनुसार अगस्त्य जी ने एक वर्ष तक विशोषिणी विद्या का आराधन भी किया और जब वह प्रसन्न हुई तो उससे समुद्र शोषण करने की क्षमता का वरदान मांगा[३]।

---

१. तुलसी वाङ्मय विमर्श, पृ० २६४

२. समुद्रं से समासाद्य वारुणं त्वम्भ सन्निधिम् ।
कालेयास्समपद्यन्त त्रैलोक्यस्य विनाशनैः ।।
तैरात्रौ समभिक्रुद्धा बभक्षुस्तां तदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ।। पद्मपुराण । सृष्टिखण्ड।१६

३. यदि देवि प्रसन्ना मे तदास्यं विशसत्वरम् ।
येन संशोषयाम्याशु समुद्रं दवि वाग्यतः ।।
स्कन्द पुराण । नागर खण्ड, ३५ ।

यह वरदान पा जाने पर अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया । अगस्त्य के पीताब्धि और समुद्रचुलुक नामों का यही रहस्य है ।

तुलसी ने अगस्त्य के अतिरिक्त उनके अन्य नामों में कुंभज, कुम्भजातं , घट-योनि, घटसम्भव का प्रयोग किया है जो अगस्त्य से सम्बन्धित एक दूसरे मिथक की ओर संकेत करते हैं । पद्मपुराण के एक आख्यान के अनुसार मित्र और वरुण ने एक घड़े में अपने तेज को स्थापित किया जिससे अगस्त्य की उत्पत्ति हुई ।[१] 'बाल्मीकि नारद घटजोनी' का अर्थ विश्लेषण करते समय मानसपीयूष कार श्री - अंजनीनन्दन शरण जी ने धर्मास्त्रशास्त्र रहित योनि (घट) से जन्म होने के कारण इसे नीचयोनि से जन्माहुआ अर्थात् हीनता का सूचक बताया है ।[२] तुलसी के प्रयोगों में दोनों मिथक वृत्तान्तों के आधार पर व्यंजना निहित है -

सामर्थ्यबोधक प्रयोग --	कंह कुंभज कहं सिंधु अपारा ।
	सोखेउ सुजसु सकल संसारा ।। रा० ।१।२५६
सम्बन्धबोधक प्रयोग	सचिव सुभट भूपति बिचार के ।
	कुंभज लोभ उदधि अपार के ।।रा०।१।३२
अलंकार मूलक प्रयोग : उपमा -	बचनमन कर्म गत सरन तुलसीदास
	त्रास-पाथोधि इव कुंभजातं ।।वि०प०।५३
रूपक	भववारिधि कुंभज रघुनायक ।। रा०।७।३५
व्यंजना पर आधारित प्रयोग	गोपद जल बूड़हिं घटजोनी । रा० । २।२३२
वक्रोक्ति पर आधारित प्रयोग-	कुंभज के किंकर बिकल बूड़े गो खुरनि ।
	ह०बा०।३८

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से राम की शक्ति प्रताप आदि की अभिव्यक्ति हुई है, तथा इस मिथक से इस तथ्य को वाणी मिली है कि निम्नस्थिति का प्राणी भी दृढ संकल्प केवल के बल पर महान से महान कार्य सम्पादित कर सकता

---

१. पद्मपुराण । सृष्टिखंड, २२।३-४८

२. अंजनीनंदनशरण, मानस पीयूष (प्रथमभाग),पृ० ११२

है । पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने इस मिथक की वास्तविकता की खोज करते हुए लिखा है कि चातुर्मास्य जब समाप्त हो जाता तब अगस्त्य तारा आकाश में दिखायी देने लगता है । यह अगस्त्योदय इस बात को सूचित करता है कि अब वर्षा के योग्य जल नहीं रहा अर्थात् अगस्त्य तारा अन्तरिक्ष में रक्षित जल का शोषण कर गया । यही अगस्त्य का समुद्रपान है ।[1] मानस में किष्किंधाकाण्ड में वर्षा-निवर्णन में यही बात कही गई है ।[2]

सुमेरु -

भुवनकोश पुराण का एक महत्वपूर्ण विषय है । पौराणिक मान्यता है कि सुमेरु सम्पूर्ण भूवृत्त का केन्द्र स्थानीय पर्वत है । इस पर्वत के सम्बन्ध में कई मिथक प्रचलित हैं (१) यह अखिल ब्रह्माण्ड का एक विराट् पर्वत है । (२) यह हिरण्यमय (स्वर्णयुक्त) है (३) इस पर देवों का वास होता है इत्यादि । वायुपुराण में पृथ्वी को पद्म और मेरु पर्वत को उसकी कर्णिका माना गया है ।[3] अन्यत्र उसे प्रजापति का हिरण्मय पर्वत माना गया है । अग्निपुराण 'इलावृतं तुतन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रित:' के अनुसार इसे इलावृत्त वर्ष के मध्य में मानता है । विष्णु पुराण में इस कनकमय पर्वत का जम्बूदीप में होना कहा गया है ।[4] पुराणों में मेरु पर्वत के मिलने वाले विस्तृत विवरणों से हम उसे एकदम कल्पना-प्रसूत पर्वत नहीं मान सकते हैं । इसकी पुराण वर्णित भौगोलिक स्थिति के आधार पर डा० हर्ष प्रभृति विद्वानों ने इसकी खोज की है और पश्चिमी साइबेरिया में वर्तमान अल्टाई पहाड़ को ही पुराकालीन सुमेरु माना है ।

---

१. पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पुराण परिशीलन, पृ० ३८०
२. उदित अगस्त्य पंथ जल सोखा । जिमि लोभहि सोखइ संतोषा ।। रा० ४।१६
३. अव्यक्तात् पृथिवी पद्मं मेरु पर्वत कर्णिकम् । वायु पुराण । ३४।३७
४. जम्बूदीप: समस्तानामेतेषां मध्य संस्थित: ।
तस्यापि मेरु मैत्रेय मध्ये कनक पर्वत: ।। विष्णु पुराण । प्रथम भाग २।७८

तुलसी द्वारा इस मिथक के ये उल्लेखनीय प्रयोग हुए हैं --

गुरुताबोध प्रयोग - पन पिनाक, पविमेरु ते गुरुता कठिनाई । गी०।१।१०१

विशालताबोधक प्रयोग- निज दुख गिरि सम रज करि जाना ।

मित्र क दुख रज मेरु समाना ।।रा० ४।७

अलंकारमूलक प्रयोग - उपमा - कोट कंगूरन्हि सोहहिं कैसे ।

मेरु के सृंगनि जनु घन जैसे ।। रा० ।६।४१

सन्देह - सुखमा को ढेरु कैधौं सुकृत सुमेरु कैधौं , क० ७।१३६

व्यंजना पर आधारित प्रयोग- मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई ।

होइन नृपमद भरतहिं भाई ।। रा०।२।२३२

काम विषयक मिथक से इसे जोड़कर कवि ने राम का शोभाविधान भी किया है[१]। कवितावली में इसकी स्वर्णमयता का भी कवि ने अनुमोदन किया है ।[२] घोरता और भयंकरता का बोध भी सुमेरु को चलायमान कह कर कराया गया है ।[३]

सूर्य की रथ-यात्रा --

सूर्य रथ पर बैठकर उदयाचल से अस्ताचल की ओर चलता है । यह बात अनेक पुराणों में मान्य है । इस मिथक के साथ अन्य कुछ तथ्य भी पुराणानुमोदित हैं जैसे उसके रथ में सात घोड़े हैं , उसका सारथि पंगु है । विष्णु पुराण में सूर्य रथ संस्थान, सूर्य का उदयास्त, सूर्य रथ के अधिष्ठाता आदि की चर्चा है ।[४] वायु-पुराण में सूर्यरथ के अधिष्ठान के साथ ही सूर्य के अश्वों की गति भी उल्लिखित है[५]

---

१. मनहुं हर-उर जुगल मारध्वज के मकर

लागि श्रवननि करत मेरु की बतकही । गी०।७।६

२. तिन सोने के मेरु से ढेरु लहे ,मन तौ न भरै घर पै भरिया । क०।७।४६

३. महाबली बालि को दबत दलकत भूमि

तुलसी उछरि सिंधु मेरु मसकत है । क०।६।१६

४. विष्णुपुराण । द्वितीय भाग । अध्याय ८ से १० तक

५. वायुपुराण । ५२

भविष्य पुराण में पूरे आठ अध्यायों में सूर्य के रथ, रथ के साथ देवों का गमन, रथ के अश्व, सारथि, छत्र ध्वजा आदि का वर्णन है । मत्स्यपुराण के अन्तर्गत नानादेव प्रतिमा प्रमाण वर्णन के अन्तर्गत 'सूर्यवर्णन' प्रकरण सूर्य का सम्पूर्ण मिथकीय स्वरूप स्पष्ट कर देता है ।[1] मैक्समूलर महोदय ने ग्रीस की पुराकथाओं में भी इस प्रकार के मिथक की चर्चा की है ।[2] तुलसी ने भी 'सारथि पंगु दिव्य रथ गामी' आदि कह कर इस मिथक को ग्रहण किया है । तुलसी ने इस मिथक के आधार पर औत्सुक्य व्यंजना का सफल प्रयास किया है । राम जन्मोत्सव होते देखकर सूर्य का रथ आकाश में रुक जाता है --

मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोय ।
रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन बिधि होय ।। रा० ।१।१९५

ऐसी उक्तियों को ध्रुवसत्य मानने वाले भक्त टीकाकारों ने तरह-तरह से बुद्धि व्यायाम पूर्वक अर्थ निकाल कर तुलसी के कवि रूप की अवहेलना की है । इसमें विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि का प्रयोग हुआ है जिससे एक साथ सूर्यादि के औत्सुक्य तथा जन्मोत्सव की अतिशय शोभा का अंकन हो सका है । सूरदास ने चन्द्र-रथ के मिथकीय आधार पर वियोग व्यंजना की है ।[3]

निगम, शेष, शारदा की वाचालता --

एक प्रद्धि पौराणिक कथा है कि साधु महिमा का वर्णन करने के लिए

---

१. प्रभा करस्य प्रतिमामिदानीं शृणुत द्विजा: ।
रथस्य कारयद्देवं पद्महस्तं सुलोचनम् ।।१।।
सप्ताश्वचैक चक्रस्य रथस्तस्य प्रकल्पयेत्।
मुकुटेन विचित्रेण पद्मगर्भसमप्रभम् ।।२।।

अरुण: सारथिश्चास्य पद्मिनी पत्र सन्निभ: ।
अश्वौ सुवलयग्रीवावन्तस्थौतस्य पार्श्वयो: ।। मत्स्यपुराण ।२६०

२. मैक्समूलर कृत -पुराणशास्त्र एवं जन कथाएं, पृ० १२६

३. रथ थाक्यौ मानौ मृग मोहे, नाहिंन होत चन्द्र को ढरिबौ ।।सूरसा०, दशम०।३३५

क्रमश: ब्रह्मा, शंकर और कार्तिकेय को नियुक्त किया गया पर साधुमहिमा इतनी अनन्त है कि सभी हार कर बैठ गए । अन्त में यह वर्णन शेषनाग को सौंपी गई । इनको भी कहते कहते जब कई कल्प बीत गए और इन्होंने भी हार मान ली तथा पाताल में सर झुकाकर बैठ गए । वर्णन सामर्थ्य से सम्बद्ध ऐसे कई मिथक पुराकथाओं में प्रचलित हैं ।

उपर्युक्त कथा में वर्णन क्षमता का आरोपण मात्र मुखों की संख्या के आधार पर हुआ है पर तुलसी ने यह आरोपण अन्य पौराणिक मान्यताओं के आधार पर निगम,शेष और शारदा के ऊपर किया है । निगम साक्षात् ब्रह्म की वाणी है, और शारदा वाणी की देवी है इस कारण से इन दोनों को परम सामर्थ्यवान् वक्ता माना गया है । शेष के एक हजार मुख हैं और उनकी क्षमता के वही आधार हैं ।

तुलसी ने अनिर्वचनीयता के व्यंजक इस मिथकीय आधार का बोध, रूप, स्वभाव,वस्तुसौन्दर्य, गुणकथन महिमावर्णन आदि विविध उद्देश्यों के लिए किया गया है । ऐसे आस्थापूर्ण कथन दो एक ही हैं जिसमें इनको सफल कहा गया हो अधिकांश कथन ऐसे ही हैं जिनमें इन वक्ताओं का अक्षम सिद्ध होना,[1] सकुचा जाना[2] कह न सकना[3] आदि ही उल्लिखित हैं । यह सनातन आस्था पर कवि प्रकृति का आरोप है । महनीय पात्रों की महिमा का कथन इस रूढ़ि के सहारे अधिकतर किया गया है । मानव सौन्दर्यांकन के अतिरिक्त कभी-कभी मानवेतर प्राणियों की श्रेष्ठता भी इस मिथक से चित्रित की गई है - यथा राम का घोड़ा --

जेहि बर बाजि राम असवारा । तेहि सारदो न बरनै पारा ।। रा०१।३१७

निगम, शेष, शारदा का साथ-साथ प्रयोग कुछ ही स्थानों पर हुआ है, यथा--

बहु सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस ।
बरनइ सारद सेस श्रुति सो रस जान महेस ।।रा० । ७।१२

----

१. श्रीरामरावन समरचरित अनेक कलप जो गावहीं ।
सत सेष सारद निगम कवि तेउ तदपि पार न पावहीं ।।रा०।६।१०१

२. कहत सारदउ कर मति हीचे । सागर सीप की जाहिं उलीचे ।।रा०२।२८३

३. तुलसीदास रबिकुल-रबि छबिकबि कहि न सकत सकसंभ सहसफन ।। गी०।७।१८

इन समर्थ वक्ताओं में प्राय: दो की और कभी कभी एक की ही योजना तुलसी करते हैं। अभिव्यक्ति को तीव्र बनाने के लिए कभी तो वे वक्ताओं की संख्या बढ़ा कर शत से कोटि[1] और कोटि से सतकोटि[2] कर देते हैं और कभी वक्ताओं का समय बढ़ाकर युग से क्रमश: अनेकयुग[3] शतकल्प[4] कर देते हैं। इस मिथक का प्रयोग बहुत बार हुआ है, पर इसे रचनादृष्टि से निर्लेप नहीं माना जा सकता।

शेष,कूर्म, दिग्गज, बाराह,भूधर आदि द्वारा पृथ्वी-धारण –

हिन्दू माइथालोजी के अनुसार शेषनाग ,कूर्म, दिग्गज,वाराह, भूधर आदि ही पृथ्वी का संभार किए हुए हैं। पृथ्वीधारकों में शेषनाग का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है विष्णुपुराण में 'यस्यैषा सकला पृथ्वी फणामणि शिखारुणा' उल्लेख शेष के लिए ही है।[5] समुद्रमंथन के अवसर पर एक विशेष उद्देश्य से राम ने कूर्मावतार धारण करके मन्दराचल को अपनी पीठ पर रोका था।[6] पुराणों में अष्टदिशाओं में पृथ्वी का सम्भार और संतुलन बनाये रखने के लिए ऐरावत, पुण्डरीक, वामन,कुमुद,अंजन, पुष्पदन्त ,सार्वभौम तथा सुप्रतीक इन अष्ट-दिग्गजों की स्थिति बतायी गई है। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में यद्यपि इनकी संख्या एवं नामों में भेद पाया जाता है किन्तु इनका पौराणिक अस्तित्व कुत्रापि विवादास्पद नहीं है। हिरण्याक्ष जब पृथ्वी-हरण करके पाताल को चला गया, उस समय विष्णु ने पृथ्वी के उद्धारहेतु वाराह रूप धारण किया। मत्स्यपुराण में

---

१. सारदकोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा।रा०२।२००
२. भरतभाग्य प्रभु कोमलताई। सेषकोटि सत सकहिं तन गाई।। रा०७।११
३. मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहिं पावै। वि०प० ।६२
४. तीन सिराहिंकलपसत लगि प्रभु कहा एकमुख गावों।।वि०प०।१४२
५. विष्णुपुराण। प्रथमभाग,अध्याय ६
६. राम: कूर्मोऽभवत्पूर्वं लक्षयोजन विस्तृत:।
समुद्रमथने पृष्ठे दधार कनकाचलम्।। अध्यात्मरामायण।६।१०।४७

इसका प्रमाण प्राप्त है कि वाराह भगवान के वाम कर्पूर परमेदिनी स्थित है -

> महां वराहंवक्ष्यामि पत्रहस्तं गदाधरम् ।
> तीक्ष्णां दृष्टांगधोणास्यं मेदिनींवाम कर्पूरम् ।।

भू विज्ञान के अनुसार भूमण्डलीय परिवृत्त को सुस्थिर एवं संतुलित रखने के लिए पर्वतों का होना आवश्यक है । पर्वतों के भूधर (भूमि को धारण करने वाला) नाम की संगति यही है । सम्भव है पर्वतों द्वारा पृथ्वी को धारण किए जाने का भी कोई मिथक प्राचीन ग्रन्थों में प्रचलित रहा हो। प्रस्तुत विवेचन शेष, कूर्म, वाराह, दिग्गज,भूधर आदि द्वारा धरा-धारण का पौराणिक स्वरूप स्पष्ट कर देता है ।

तुलसी ने उक्त मिथक को रचनात्मक अवयव के रूप में अनेकश: ग्रहण किया है । घोरता, भयंकरता,शक्तिमत्ता, भाराधिक्य आदि का प्रचुर प्रभविष्णुता के साथ बोध कराने हेतु इन मिथकों का तुलसी ने खुलकर प्रयोग किया । ऐसी स्थिति-यों की सफल अभिव्यंजना वीररस,रौद्ररस तथा भयानक रस के अनुभावों एवं संचारी भावों को पृष्ठभूमि प्रदान करती है और उसके विकास में सहायक होती है । राम के द्वारा धनुषभंग , वानरसेना का चलना, रावण का प्रस्थान एवं गर्जना, लक्ष्मण का रोष कुम्भकर्ण का युद्ध आदि दृश्यचित्र इस मिथक के आधार पर तुलसी ने बनाए हैं । कुछ उदाहरण ये हैं --

लक्ष्मण का बोलना	बचन सकोप लखन जब बोले ।
(क्रोध)	डगमगानि महि दिग्गज डोले ।। रा० १।२५४
रावण का गिरना	डोली भूमि गिरत दसकंधर ।
(भाराधिक्य)	क्षुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर ।।रा०६।१०३

ऐसे प्रयोग विशुद्ध रूप से भावबोधक हैं और रस-सामग्री का संयोजन करते हैं पौरा-णिक रूढ़ि का यह रचनात्मक रूप बहुत कुछ परम्परागृहीत भी है । लक्ष्मण दिग्गजों, कूर्म, शेष और कोल सबको धनुषभंग के पूर्व यह आदेश देते हैं कि वे अत्यन्त धैर्य पूर्वक धरती को धारण करें, क्योंकि राम शिवधनुष को तोड़ना चाह

रहे हैं ।[१] यह प्रसंग ठीक इसी तरह हनुमन्नाटक में देखा जा सकता है -

पृथ्वी स्थिराभव भुजंगम धारयैनां त्वंकूर्मराजतदिदं द्वितयं दधीथा: ।
दिक्कुंजरा: कुरुत तत् त्रितयेदधीषां राम: करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ।।

१।२१

सौन्दर्यबोधक, समय बोधक, प्रयोग भी इस रूढ़ि के आधार पर कवि ने किये हैं -

सौन्दर्यबोधक प्रयोग	मत्त सहस दस सिंधुर साजे ।
(मानवेतर सौन्दर्य)	जिनहिं देखि दिसिकुंजर लाजे ।। रा०।१।३३३
समयबोधक प्रयोग	अति सप्रेम सिय पाइ परि बहु बिधि देहिं असीस ।
	सदा सोहागिनि होहु तुम जब लगि महि अहि सीस ।
	रा० २।११७

तुलसी ने वक्रोक्ति के आधार पर अनिर्वचनीयता का कथन शेषनाग को लक्ष्य करके किया है ।[२] कहीं कहीं इसे उपमान भी बनाया गया है किन्तु सर्वाधिक प्रयोग ओजपूर्ण भावों के अंकन में ही किया गया है ।[३]

विरंचि का सृष्टि-नैपुण्य -

मिथकीय भावना ब्रह्मा को सृष्टिकर्त्ता, मानती है । विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानी गई है । स्वयं उद्भूत होकर ब्रह्मा ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि की । वेदों के प्रजापति और पुराणों के ब्रह्मा में पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है । पुराकथाओं की यह मान्यता कि ब्रह्मा ही सृष्टि के रचयिता हैं, कवियों के सौन्दर्य बोध के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुई है । कवियों के एतद् विषयक कथन की आधारभूत भावना यह है कि सुन्दररूप, सुन्दर दृश्यादि के निर्माण में

---

१. दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला । धरहु धरनि धरि धीर न डोलों ।।
राम चहहिं संकर धनु तोरा । होउ सजग सुनि आयसु मोरा ।। रा०१।२६०

२. सो मैं कहौं कवन बिधि बरनी । भूमि नाग सिर धरइ कि धरनी ।। रा०१।३५५

३. भरेभुवन घोर-कठोर रव रवि बाजि तजि मारग चले ।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ।। रा०१।२६१

विरंचि विशेष ध्यान देते हैं और अपने सम्पूर्ण रचना-कौशल का प्रयोग कर डालते हैं ।

तुलसी ने रूप की भव्यता के अंकन के लिए उस मिथक को दो रूपों में प्रयोग किया है (१) समर्थक रूप (२) विरोधी रूप

(१) समर्थक रूप - इसमें मिथकीय भावना का समर्थन है, किन्तु उसके साथ,साथ कवि अभिव्यंजना को चारु एवं तीव्र बनाने के लिए कल्पना का सम्मिश्रण करता है । विरंचि ने अपनी सारी निपुणता लगा दी, सारी सुषमा का भाण्डार खपा दिया, अपने हाथ से संवारा,आदि कथन कवि की ओर से इस मिथक पर आरोपित किए गए हैं । मानव के रूप सौंदर्यांकन में ऐसी कुछ उक्तियां द्रष्टव्य हैं —

राम-लक्ष्मण का सौन्दर्य - स्यामल गौर किसौर मनोहरता निधि ।
सुषमा सकल सकेलि मनहुं बिरचे बिधि ।। जा०मं०।३५

सीता-सौन्दर्य जनु बिरंचि सब निज निपुनाई ।
बिरचि बिस्व कहं प्रगटि देखाई ।। रा०।१।२३०

राम-लक्ष्मण कहा एक मैं आजु निहारे ।
(का सौन्दर्य) जनु बिरंचि निज हाथ संवारे ।।रा०१।३११

पुराण भावना के अनुसार समस्त सृष्टि रचना विरंचि की प्रेरणा से होती है, वह शिल्पी की भांति रचना में हाथ नहीं लगाता , इसीलिए निज हाथ से संवारना भी मिथकों का रचनात्मक कथन है । विधाता के कौशल पर लघुता और सीमा का आरोपण करके भक्ति भावना से किंचित् दूर हट कर भी तुलसी वस्तु सौन्दर्य-बोध कराने में नहीं चूकते -

नगर-सौन्दर्य-वर्णन पुर सोभा अवलोकि सुहाई ।
लघु लागै बिरंचि निपुनाई ।। रा०।१।६४
कहि न जाइ कछु नगर बिभूती ।
जनु एतनिअ बिरंचि करतूती ।।रा०२।१।१

(२) विरोधी रूप - इसके अन्तर्गत राम और लक्ष्मण के सहज और सीमातीत सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए कटिबद्ध कवि पुराणभावना का विरोध भी कहीं कहीं कर बैठता है , यथा --

राम का सौन्दर्य — एक कहहिं ये सहज सुहाए ।
आपु प्रगट भए बिधि न बनाए ।। रा०२।१२०

— तुलसीदास रघुनाथ रूप-गुन
तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाए ।। गी०।१।२३

एक ही व्यक्ति कहीं राम-सीता को सम्पूर्ण कौशल के साथ विधि रचित बनाए और फिर कहीं संतोष न होने पर अपनी बात से साफ मुकर जाय तो इसे रचनाशील कवि का ही स्वभाव माना जा सकता है भक्त और दार्शनिक का नहीं ।

लोकपाल, दिक्पाल --

लोकपाल और दिक्पालों के पौराणिक अस्तित्व को भी तुलसी ने स्वीकार किया है और इसके आधार पर व्यापकता महानता, शक्ति, बलविक्रम, और आतंक आदि की अभिव्यक्ति की है । प्राय: राम और रावण के व्यक्तित्व के सृजन में यह मिथक सहायक हुआ है । इससे राम के लोकोत्तर रूप की व्यापकता, महानता तथा रावण की शक्ति, विक्रम, आतंक आदि का चित्रण हुआ है । ये प्रयोग निम्नलिखित हैं --

व्याप्तिबोधक प्रयोग- अधर लोभ जम दसन कराला ।
माया हास बाहु दिगपाला ।। रा० ६।१५

महिमा एवं प्रभाव बोधक प्रयोग. बिधि हरिहरु दिसिपति दिनराऊ ।
जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ ।।रा०।१।३२१

शक्तिबोधक प्रयोग — कंपहिलोकप जाकी त्रासा ।
तासुनारि सभीत बड़ि हासा ।।रा०।५।३७

आतंक एवं भयबोधक प्रयोग — दिगपालन्ह मैं नीरु भरावा ।
भूप सुजसु खल मोहि सुनावा ।।रा०६।२८

हर्ष और ईर्ष्या आदि भावों का आरोप करके इस रूढ़ि के आधार पर आनन्दोत्सव[1] एवं विभूति[2] का चित्रण भी तुलसी ने किया है ।

---

१. समउ समाज राज दसरथ को लोकप सकल सिहाहिं ।। गी०।१।२

२. लोकपाल अवलोकि सिहाने । लीन्ह अवधपति सब सुखमाने ।। रा०१।३२६

अप्सरा, गन्धर्व, किन्नरादि का नृत्य-गान -

अप्सराएं देवलोक में नृत्यगान से देवों का मनोविनोद करती हैं । रम्भा और उर्वशी आदि अप्सराओं का नाम अनेक पुरा कथाओं से जुड़ा हुआ है । इन सुन्दरियों की कल्पना दिव्यलोक के लिए हुई । कुछ लोग इन्हें सत्य भी मान सकते हैं किन्तु इस भौतिक जगत से इनका कोई लगाव नहीं है । ठीक इसी तरह गन्धर्व लोक के बारे में प्राचीन कथाओं में वृत्तान्त मिलते हैं । गन्धर्वगान विद्या में निपुण कहे जाते हैं । अध्यात्मरामायण में गन्धर्व राम की स्तुति करते हुए अपना परिचय इस प्रकार देते हैं -

वयं संगीतनिपुणा गायन्तस्ते कथामृतम् ।
आनन्दामृत सन्दोहे युक्ता: पूर्णा: स्थिरा: पुरा: ।।[1]

पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने गन्धर्व लोक को कल्पित न मानकर वास्तविकता से युक्त माना तथा वर्तमान फिलीपाइन द्वीप समूह को ही पुराण कालीन गन्धर्व लोक माना है ।[2] गन्धर्वों का अत्यन्त रूपवान होना भी पुराणप्रसिद्ध तथ्य है । किन्नरों के परिचय में यह सूचना ज्ञात होती है कि किन्नर एक प्रकार के देवता हैं जिनका मुख घोड़े के समान होता है ये संगीत विद्या में बड़े निपुण होते हैं ।[3]

कहने का तात्पर्य यह कि अप्सराओं का नाचना - गाना तथा गन्धर्व और किन्नरों का गायन मिथकीय एवं अलौकिक क्रियाएं हैं । देवलोक से संबद्ध होने से ये जातियां विशिष्ट महिमा सम्पन्न हैं । काव्य में इनका रचनात्मक रूप प्रकट होता है । लौकिक घटनाओं की महिमा, सौन्दर्याकर्षण, रोचकता एवं विशिष्टता को अंकित करने हेतु कविजन उन पर इन अलौकिक वृत्तों का आरोप कर देते हैं ।

---

१. अध्यात्म रामायण ६।१५।६८
२. पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी-पुराणपरिशीलन, पृ० ३११
३. हिन्दी कथाकोष , पृ० ३८

तुलसी ने ऐसा अनेक अवसरों पर करके अपने रचनात्मक अभिप्राय का परिचय दिया है । रामजन्मोत्सव, सीता की अग्नि परीक्षा और राम राज्याभिषेक की बेला में अप्सराएं,गन्धर्व किन्नरादि नृत्यगान में व्यस्त और मुग्ध दिखाई पड़ते हैं ,सभी प्रयोग सुख मूलक हैं --

(१) गगन बिमल संकुल सुरजूथा ।
गावहिं गुन गन्धर्व बरूथा ।। रा० ।१।१६१

(२) हरषि सुमन बरषहिं बिबुध बाजहिं गगन निसान ।
गावहिं किन्नर अपछरा,नाचहिं चढ़ी बिमान ।।रा०।६।१०६

(३) नभ दुंदुभी बाजहिं बिपुल गंधर्व किन्नर गावहीं ।
नाचहिं अपछरावृंद परमानंद सुरमुनि पावहीं ।।रा०।७।१२

उक्त मिथक का अधिकतर प्रयोग हर्षानुभूति के प्रसंगों में हुआ है किन्तु कहीं कहीं पाताल लोक के नागों को साथ लेकर घटना के प्रभाव का प्रसारबोध भी कराया गया है । घटना का प्रभाव ऐसे प्रयोगों में पाताल लोक से लगाकर गन्धर्वलोक और देवलोक तक अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समझा जाता है ।

गरुण का द्रुत वेग --

गरुण भगवान विष्णु के वाहन हैं । आस्तिक बुद्धि, धार्मिक कथाओं के आधार पर यह विश्वास करती है कि गरुण का वेग अकल्पनीय है । तुलसी ने भी ऐसा विश्वास करके राम के वेगवान घोड़े की गति तथा पवनसुत हनुमान की गति का बोध कराया है --

त्वराबोधक प्रयोग   जेहि तुरंग पर राम बिराजे ।
गति बिलोकि खग नायक लाजे ।।रा०।१।३१६

मारुत नंदन मारुत को मन को
खगराज को बेग लजायो ।।क०६।५४

दूसरे दृष्टान्त में एक विलक्षणता यह है कि इसमें एक मिथकीय कार्यव्यापार का बोध कराने के लिए एक दूसरे मिथक को अप्रस्तुत विधान के रूप में ग्रहण किया गया है ।

देव, दनुज, नाग, सिद्ध, यक्ष, किन्नर, गन्धर्वादि का अस्तित्व

इन मिथकीय व्यक्तित्वों को स्वरूपवान और प्राणवान मान कर घटनाओं के प्रभाव की व्यापकता निरूपित की गई है। इस प्रकार इनका सामूहिक प्रयोग प्रसार-बोध के लिए तुलसी ने अनेकबार किया है। ऐसे सामूहिक प्रयोगों में सर्वत्र प्रभाव विस्तार-चित्रित किया गया है और सर्वत्रसकलत्व एवं बहुत्व का भाव पाया जाता है। अधोलिखित उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा -

१. देव दनुज मुनि ,नाग, मनुज, सब
　　　　माया बिबस बिचारे　　। वि०प०।१०१

२. किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा ।
　हठि सबही के पंथहिं लागा ।। रा०१।१८२

३. सुर नर असुर नाग नर किन्नर, सकल करत मेरो मन भायो । गीता६।३

सकलत्व का यह भाव ब्रह्माण्ड के तथाकथित लोकों के आधार पर है जो एक किनारे से दूसरे किनारे तक विस्तृत है जिसमें पाताल (नागों का लोक) से लेकर द्युलोक (देवों का लोक) तक सम्मिलित है बीच में यक्ष, सिद्ध, किन्नर, दानव, नर, पक्षी आदि के लोक हैं, इसमें नरलोक और पक्षियों का लोक (आकाश) ही वास्तविक और परिचित है, शेष मिथकीय भावना पर ही आधारित हैं।

प्राकृतिक उपादानों की मानुषी क्रियाएं --

प्राचीन आख्यानों में धार्मिक भावना के आधार पर विराट मानवीकरण के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यह कहना असंगत न होगा कि कथाकारों ने ऐसे विश्वासबोधगत स्थापित्व के लिए प्रचलित किए थे और उनमें निश्चय ही रचना के अंकुर मिलते हैं। काव्य में मिथकीय भावना के ऐसे प्रसंगों को ज्यों का त्यों उठाकर रख देने से भी एक विलक्षण काव्यसौष्ठव उत्पन्न होता है। तुलसी-साहित्य में इस प्रकार के तीन प्रसंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं --

(१) वन जाते हुए सीता द्वारा गंगा-पूजन तथा प्रत्युत्तर में गंगा का सीता के प्रति आशीर्वचन बोलना।

(२) पार्वती के पिता हिमांचल का एक पर्वत (अचल एवं जड़) होते हुए भी राजा के रूप में चेतन सदृश व्यवहार करना ।
(३) समुद्र लंघन के पूर्व राम-लक्ष्मण के कुपित होने पर समुद्र का आना, और राम के चरण पकड़कर विनीत वचन बोलना ।

इन तीनों प्रसंगों में क्रमश: नदी, पर्वत, एवं समुद्र के ऐसे कार्यव्यापार चित्रित हैं जो केवल मनुष्यों में ही पाए जाते हैं । भौतिक सत्यता यह है कि हम भक्ति भावनाप्रवण होकर किसी नदी के प्रति भले ही प्रणाम करें और हाथ जोड़ें किन्तु नदी प्रत्युत्तर में न तो कुछ बोलती है और न किसी विशिष्ट चैतन्य का प्रदर्शन ही करती है किन्तु भावजगत में कवि एवं कथाकार ऐसे दृश्यों को व्यापक मानवीकरण के सहारे सजीव बना देता है । सीता गंगा की प्रार्थना हाथ जोड़कर करती हैं और फलस्वरूप गंगा के विमल जल से वाणी प्रस्फुटित होती है । मांगल्य और आशीष से आपूरित गंगा के बचन को सुनकर सीता सुरसरिता को अनुकूल समझते हुए अत्यन्त मुदित होती हैं ।[१]

मानवीकरण का इससे भी बड़ा प्रसंग उमा के पिता हिमांचल के कार्य-व्यापार में दृष्टिगत होता है । जब सप्तर्षि जाकर हिमांचल को शिव द्वारा मदन-दहन का वृत्तान्त सुनाते हैं तो वे अत्यन्त दुखी होते हैं, किन्तु जब रति के वरदान की चर्चा करते हैं तो बहुत सुखी होते हैं । विवाह की तैयारी हेतु हिमांचल विचित्र वितान की रचना रचते हैं । जगती पर स्थित छोटे बड़े सभी पर्वतों, वनों, सरिताओं समुद्रों को गिरिनायक अपनी कन्या के विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए आमन्त्रित

----

१. सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी । मातु मनोरथ पुरउबि मोरी ।।रा० २।१०३

सुनि सिय बिनय प्रेमरस सानी । भइ तब बिमल बारि बर बानी ।। रा० २।१०३

गंग बचन सुनि मंगल मूला । मुदित सीय सुरसरि अनुकूला ।।रा० २।१०४

करते हैं ।[१] हाथ में कुश ग्रहण करके कन्यादान करते हैं[२] और शिव के समक्ष हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं[३] अपनी कन्या के विवाह को सम्पन्न करने के लिए पिता जितने लौकिक व्यवहार करता है वे सभी हिमांचल को करते हुए देखा जा सकता है । रामचरितमानस के शिव विवाह प्रसंग में तथा पार्वती-मंगल में विस्तारपूर्वक यह कथा लिखी गई है ।

राम लक्ष्मण के क्रोधित होने पर सिंधु भयभीत होकर आता है और राम के चरण पकड़ लेता है ।[४] इस प्रसंग में समुद्र की उक्तियाँ स्वयं को जड़ बताती हैं यद्यपि उसका यह बताना ही चैतन्य का प्रतीक है ।[५] समुद्र संतरण का उपाय बताकर सिंधु अपने घर वापस लौट जाता है ।[६] ऐसे समस्त काव्य-व्यापारों को प्राकृतिक उपादानों की मानुषी क्रियाएं समझना ही ठीक होगा धर्मभावना के कारण गंगा को देवी तथा सिंधु और पर्वत को विशिष्ट प्राण सत्ता से युक्त समझना ही काव्य में मानवीकरण के ऐसे प्रसंगों का आधार बन सका है

---

१. सब प्रसंग गिरिपतिहिं सुनावा । मदन दहन सुनि अति दुख पावा ।।
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना । सुनि हिमवंत बहुत सुख माना ।।
इहां हिमांचल रचेउ बिताना । अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना ।।
सैल सकल जंह लगि जग माहीं । लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं ।
बन सागर सब नदी तलावा । हिमगिरि सब कंह नेवत पठावा ।। रा०।१।९१,९०

गिरि,बन,सरित , सिंधु, सर सुनइ जो पायउ ।
सब कंहँ गिरिवर-नायक नेवति पठायउ ।। पा०मं० ।६४

२. लोक-बेद बिधि कीन्ह,लीन्ह जलकुस कर ।
कन्यादान संकलपकीन्ह ,~~लीन्ह-जलकु-~~ धरनिधर ।। पा०मं०१४४

३. दाइज दियो बहु भांति पुनि कर जोरि हिम भूधर कह्यो । ~~रा०१।१०१~~
का देउं पूरन काम संकर चरन पंकज गहि रह्यो ।। रा०।१।१०१

४. सभय सिंधु गहि प्रभु पद केरे । छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ।। रा०।५।५९

५. गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ।। रा०५।५९

६. निज भवन गवनेउ सिंधु श्री रघुपतिहि यह मत भायऊ । रा०५।६०

आज भी हमारे देश में सर, सरिताओं, वन-वृक्षों और पर्वतों का धार्मिक परिचय, उनसे सम्बन्धित भौगोलिक ज्ञान से कहीं अधिक सर्वविदित है । मिथकीय भावना का यह काव्यात्मक रूप तुलसी के भव्य कथाशिल्प में सहायक सिद्ध हुआ है ।

देवों द्वारा दुन्दुभिवादन एवं पुष्प वृष्टि –

रामचरितमानस और गीतावली में ऐसे प्रसंगों की भरमार है जिसमें देवताओं को पुष्टवृष्टि और दुन्दुभिवादन करते हुए दिखाया गया है । तुलसी ने आमोद, हर्ष, विजय एवं कार्यसिद्धि के क्षणों में देवों को दुन्दुभि बजाते और फूल बरसाते हुए प्रस्तुत किया है । ऐसे अवसरों को सामान्य क्षणों से विशेष प्रभविष्णुता के साथ चित्रित ~~किया~~ करने के लिए ही उसमें इन क्रियाओं का समावेश किया गया है । ऐसा चित्रण यद्यपि पौराणिक विश्वासों के ही आधार पर हुआ है, किन्तु इसका रचनात्मक अवदान भी है जो निम्नांकित है –

(१) पात्रों के कार्यों की महत्ता एवं सराहनीयता को सूचित करने में यह मिथक सहायक है ।

(२) लोकव्यापी एवं लोकोत्तर घटना के प्रभावों के अंकन में एक सुन्दर उपकरण के रूप में इस मिथक का प्रयोग हुआ है ।

पुष्प वृष्टि एवं दुन्दुभि वादन विशेष अवसरों पर ही दिखाया गया है, यथा रामजन्म,[१] रावण-वध,[२] रामराज्याभिषेक,[३] हनुमान द्वारा लंकादहन,[४] विभीषण की शरणागति[५] राम सीता-विवाह ।[६] गीतावली में सामान्य दशाओं में

---

१. सुर दुंदभी बजावहिं गावहिं हरषहि बरसहिं फूल । गी० १।२

२. सुर सिद्ध मुनि गंधर्व हरषे बाज दुंदुभि गहगही ।
संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही ।। रा० ६।१०६

३. सिंघासन पर त्रिभुवन साईं । देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं ।।रा०।७।१२

४. हनुमान हांक सुनि बरषि फूल । सुरबार-बार बरनहिं लंगूर ।।गी०।५।१६

५. हरषत सुर बरसत प्रसून प्रभु सगुन कहत कल्यान हैं । गी० ५।३५

६. सुर हरषत बरसत फूल बार-बार
सिद्ध मुनि कहत सगुन सुभ घरी है । गी०।१।६०

भी ऐसी दिव्य क्रियाएं देखी जाती हैं ।[1] पर सामान्य दशाओं के ऐसे प्रसंग भी किसी सुस्थित सुख एवं आनन्द की अभिव्यंजना करते हैं जो वास्तव में विशिष्ट हैं । डॉ० श्रीकृष्णालाल ने ऐसी क्रियाओं से युक्त प्रसंगों की बहुलता पर अपनी खीझ व्यक्त की है और कहा है कि देवताओं का दुन्दुभिवादन और पुष्पवृष्टि के अतिरिक्त कोई काम ही नहीं है । वे नंदनवन का फूल बटोरकर बरसाने को उद्यत हैं और मौका ढूंढ़ते रहते हैं । दानवों के अत्याचार से त्रस्त धरती और भयभीत देवों ने आर्त होकर विष्णु की स्तुति की और अवतार लेकर राक्षसों का विनाश करने की प्रार्थना की । फलस्वरूप आततायी रावण के संहार हेतु रामावतार धारण कर भगवान ने नानाप्रकार की लीलाएं कीं । लोक की इस संकटापन्न स्थिति में त्राता भगवान राम के एक-एक कार्य पर देवों की दृष्टि पड़ना स्वाभाविक था । इसलिए देवों को दुन्दुभिवादन एवं पुष्पवृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य न भी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । राम का प्रत्येक कार्य दोनों की प्रसन्नता के लिए है और उनका लीलामय जीवन ऐसे कार्यों से भराहुआ है इसलिए इस मिथक का प्रयोग-बाहुल्य भी बहुत असंगत नहीं है ।

आकाशवाणी -

इस मिथक का प्रयोग कथा को अभीष्ट गति देता है । इससे कई उद्देश्य सिद्ध होते हैं --

१. भावी घटना की पूर्व सूचना
२. कथा को मनोवांछित दिशा में मोड़ना
३. कथा की पृष्ठभूमि के रूप में इसका प्रयोग

आकाशवाणी विषयक मिथकों से युक्त धार्मिक कथाएं भारतीय साहित्य में बहुत हैं । रामचरितमानस में भी तुलसी ने अनेक स्थलों पर उक्त उद्देश्यों से प्रेरित होकर

---

१. घन ओट बिबुध बिलोकि बरसत फूल
अनुकूल बचन कहत नेह नए हैं । गी०।१।११

२. डॉ० श्रीकृष्णालाल -मानस दर्शन, पृ० ११४

आकाशवाणी का आधार ग्रहण किया है । बालकाण्ड में रामावतार की कारण कथाओं में प्रतापभानु की कथा में छल पूर्वक विप्रजनों के समक्ष भोजन के लिए मांस रखा गया तो आकाशवाणी हुई ।[१] भयाक्रान्त पृथ्वी और भयभीत देवों ने जब भगवान की स्तुति की तो भावी अवतार की सूचना उन्हें गगन गिरा से ही प्राप्त हुई ।[२] मानस के उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि ने गुरुणा को आत्मपरिचय देते हुए दो बार आकाशवाणी का होने की चर्चा की ।[३] आकाशवाणी के दृष्टान्त मानस में ही प्राप्त होते हैं क्योंकि एकमात्र प्रबन्ध होने के कारण कथासूत्रों की योगमूलक सचेष्टता भी इसी में आवश्यक थी । कथा विकास में यह रूढ़ि नितान्त उपादेय रही है ।

लघु एवं विविध पौराणिकअभिप्राय -

उपर्युक्त विवेचन में बहुलता से प्रयुक्त पौराणिक अभिप्रायों का विस्तृत पर्यवेक्षण किया गया । इनके अतिरिक्त भी पर्याप्त मात्रा में ऐसे पौराणिक अभिप्राय रचनाधर्म के रूप में प्रयुक्त हैं जिनका व्यवहार तुलसी ने अपेक्षाकृत कम किया है या कहीं एक, दो बार ही किया है । स्थानाभाव के कारण ऐसे अभिप्रायों की सूचीमात्र यहाँ दी रही है --

विष्णु - विष्णु का चतुर्भुज रूप (शंख, चक्र, गदा, पद्म से युक्त) क्षीरसागर में आवास ,अहिशय्या पर शयन,वक्ष पर द्विज पदाघात्,चरणों से गंगा की उत्पत्ति, मुख से चारों वेदों की उत्पत्ति ,नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति ,

लक्ष्मी - समुद्र की पुत्री और विष्णु की पत्नी ।

ब्रह्मा - सृष्टिकर्त्ता ,भाग्यलेखक,चतुरानन, और आठ नेत्रों वाले देवता ।

----

१. परुसन जबहिं लाग महिपाला । भइ अकासबानी तेहि काला ।। रा० ।१।१७३

२. जानि समय सुरभूमि सुनि बचन समेत सनेह ।
गगन गिरा गंभीर भइ, हरनि सोक संदेह ।। रा० १।१८६

३. मंदिर माँझ भई नभ बानी । रे हतभाग्य अज्ञ अभिमानी ।।रा०।७।१०७
सुनि बिनती सर्वज्ञ सिव देखि बिप्रअनुराग ।
पुनि मंदिर नभ बानी भइ द्विजवर बर मांगु ।। रा० ७।१०८

सरस्वती - ~~समुद्र~~ वाणी की देवी, ब्रह्मा की पत्नी

शिव - अमांगलिक वेष, भाल पर चन्द्रमा, शीश पर गंगा, वृषभवाहन, कैलाशवासी, नीलकण्ठ त्रिशूलधारी, तीन नेत्रों वाले, पांच मुख और पन्द्रह नेत्रों वाले ।

पार्वती - हिमांचल पर्वत की पुत्री ।

कार्तिकेय- शंकर के पुत्र, छः मुखों और बारह नेत्रों वाले, देव सेनापति ।

गणेश - शंकर के पुत्र, हाथी के समान मुख वाले ।

सीता - भूमि की पुत्री ।

हनुमान - वायु पुत्र, सागर लांघने एवं पर्वत लेकर उड़ने वाले, बत्तीस योजन तक मुंह फैलाने वाले और मसक रूप धारण करने वाले ।

इन्द्र - देवों के राजा, शची के पति, जयंत के पिता, असीम वैभव विलास से युक्त अमरावती में निवास करने वाले सहस्राक्ष एवं वज्रधारक ।

क्षीरसागर- दुग्ध का समुद्र, भगवान विष्णु का आवास-स्थल ।

अमरावती - इन्द्र की राजधानी, देवताओं की निवासस्थली ।

भोगावती- पाताल लोक में स्थित नागों की पुरी ।

कैलाश - शिव और पार्वती का आवासस्थल

कुबेर-धन के स्वामी और एक प्रमुख देवता

ययाति-स्वर्ग से अधः पतित होने वाले एक राजा

अमृत- अमरत्व प्रदान करने वाला, मधुर पेय ।

गंगा - विष्णु के चरणों से उत्पन्न, शंकर के शीश पर से प्रवाहित होनेवाली जह्नु की पुत्री, भगीरथ के द्वारा पृथ्वी पर लायी गई देवनदी, पवित्र एवं पाप-नाशिनी ।

यमुना - सूर्य की पुत्री

संजीवनी-प्राणरक्षक जड़ी अथवा प्राकृति औषधि

अक्षयवट - तीर्थराज प्रयाग का अंग एक पौराणिक वट वृक्ष जिसका कभी क्षय नहीं होता

अंभोज- सृष्टि के आरम्भ में विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल

आदि वाराह-हिरण्याक्ष से पृथ्वी का उद्धार करने हेतु विष्णु का लीला रूप

धूमकेतु - एक अनिष्टकारी ग्रह

रावण - दस मुंह और बीस नेत्रों तथा भुजाओं वाला राक्षस ।

इन सभी पौराणिक रूढ़ियों के उदाहरण राम चरितमानस और विनय पत्रिका में मिल जाते हैं । विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों में उनके पौराणिक स्वरूप का सर्वथा अनुमोदन विनयपत्रिका में मिलता है मानस के उत्तरकाण्ड की शिवस्तुति में शिव का सम्पूर्ण स्वरूप बिम्बित हुआ है ऊपर जिन मिथकों की सूची प्रस्तुत की गई है : तुलसी ने उनका ग्रहण प्राय: आलंकारिक उपादान के रूप में किया है । अमृतगंगा, संजीवनी, अमरावती, भोगावती आदि को अप्रस्तुतों के रूप में तुलसी ने अपनाया है । शंकर ब्रह्मा और कार्तिकेय के द्वारा क्रमश: पन्द्रह, आठ और बारह नेत्रों से राम दर्शन कौतूहल वृद्धि का कारण बन गया है । सभी उपर्युक्त मिथक न्यूनाधिक मात्रा में कविता का प्रयोजन सिद्ध करते हुए अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुए हैं ।

पौराणिक अभिप्राय पर आधारित कुछ बड़े प्रसंग -

यहाँ हम पौराणिक मान्यताओं पर आधारित तीन प्रसंगों की ओर विशेष रूप से संकेत करना चाहते हैं जिसमें राम के व्यक्तित्व, राम के हाथ की महिमा और सीता का सौन्दर्य क्रमश: रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली में चित्रित किया गया है । ये मिथकों के रचनात्मक प्रयोग के सर्वाधिक उल्लेखनीय दृष्टान्त हैं --

(१) रामका व्यक्तित्व-विधान -

यह प्रसंग रामचरितमानस में है । इसमें कवि ने राम के व्यक्तित्व निरूपण में मिथकों का एक समूह ही प्रस्तुत किया है । 'राम का शरीर शतकोटि कामदेवों की भांति है, उनकी शक्ति कोटि दुर्गा के तुल्य है, उनका वैभव विलास करोड़ों इन्द्र के तुल्य है । वे शतकोटि कामधेनुओं की भांति कामदायक हैं, उनका चातुर्य कोटि शारदा के सदृश हैं, उनका सृष्टि-रचना-कौशल सैकड़ों करोड़ों ब्रह्मा के समान है , वे करोड़ों विष्णु के समान पालक हैं, करोड़ों रुद्र के समान संहारक हैं, करोड़ों कुबेर के समान ऐश्वर्यवान है तथा शतकोटि शेषनाग के बराबर भारधारण, की क्षमता रखते हैं ।[१] ये सभी मिथक राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य आदि को प्रकट

---

१. रा० ७।९१-९२

करते हुए उनके समग्र एवं महान् व्यक्तित्व का आभास देते हैं ।

(२) राम का कर-वर्णन -

यह प्रसंग कवितावली के उत्तरकाण्ड में है, राम के करों की महत्ता कवि ने पौराणिक उपादानों के माध्यम से की है । इस प्रसंग का वैशिष्ट्य यह है कि कवि ने मिथक रूपों को काल्पनिक ढंग से क्रियाशील दिखाया है । उद्धरण इस प्रकार है -

कनक कुधर केदार बीज सुंदर सुरमनि बर,
सींचिकामधुक धेनु सुधामय पय बिसुद्धतर ,
तीरथपति अंकुर-सरूप यच्छेस रच्छ तेहि
मरकत मय साखा सुपत्र मंजरिय लच्छ जेहि

कैवल्य सकल फल कलपतरु,सुभसुभाव सब सुख सरिस ।
कह तुलसिदास रघुवंसमनि तौ कि होइ तुवकर सरिस ।। क०।६।११५

अर्थात् स्वर्णमय सुमेरु रूपी स्थल में सूर्यमणि के सुन्दर बीज का वपन किया जाय, उसे कामधेनु के विशुद्धतर सुधामिश्रित दुग्ध से सींचा जाय । उसमें से तीर्थराज रूपी अंकुर के निकलने पर यक्षेश (कुबेर) उसकी रक्षा करें । उसमें से मरकतमय शाखाएं और पत्तियां निकलें । लक्ष्मी रूपी मंजरी उसमें लगे ऐसे कल्पतरु में समस्त सुखों के सार स्वरूप कैवल्य के फल लगें, तो भी कवि उसे राम के हाथों के तुल्य मानने में हिचकिचाते हुए इनकार कर देता है । अनेक मिथकों के पोषक तत्वों से जिस कल्प-वृक्ष का विकास कवि ने किया है वह कितना मंजुल है यह कह पाना कठिन है । कवि एक के बाद दूसरे मिथक का सहारा लेते हुए निरन्तर भाव की गहराई में उत-रता चला गया है । स्वर्णमय सुमेरु, देवमणि, कामधेनु, तीर्थराज, यक्षेश, लक्ष्मी, और अन्त में कल्पतरु आदि समस्त उपकरण मिथक-जगत से ग्रहण कर तुलसी ने अपनी कल्पना के सम्मिश्रण से काव्यकला का जो चमत्कार दिखाया है वह देखने लायक है । इस प्रसंग में मिथकों का काल्पनिक एवं भव्य संगठन तुलसी ने कर दिखाया है ।

(३) सीता-सौन्दर्य-चित्रण -

सीता का सौन्दर्य बोध तुलसी ने दो स्थानों पर मिथकों के सहारे कराने की कोशिश की है । ये दोनों प्रसंग रामचरितमानस और गीतावली में हैं ।

रामचरितमानस में सीता-सौंदर्य निरूपण में काम को श्रृंगाररूपी मन्दराचल के द्वारा शोभा रूपी रज्जु से छवि-सुधा पयोनिधि का मंथन करते हुए दिखाया गया है --

> जौ छबि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छप सोई ।।
> सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ।।
> एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल ।
> तदपि सकोच समेत सम कहहिं सीय सम तूल ।। रा०१।२४७

उक्त प्रसंग का मिथकतत्व कला और कल्पना से मंडित है । समुद्र-मंथन के पुराण-प्रसिद्ध कार्य व्यापार की आधारभूमि पर कामदेव के पौराणिक व्यक्तित्व को क्रियाशील कल्पित किया गया है और कवि सीता के अतिशय रूप सौन्दर्य की अनुभूति कराने में सफल हुआ है । गीतावली में भी सीता की सौन्दर्यानुभूति कराने के प्रयोजन से तुलसी ने कामदेव को दुग्ध-दोहन और दुग्ध मंथन की विचित्र क्रिया में दत्तचित्त दिखाया है ।[१] वास्तव में अपनी कवि प्रतिभा से तुलसी ने पौराणिकता और काव्यकला को एकाकार कर दिया है । कविता में रचनात्मक उद्देश्यों द्वारा मिथकों का विलय कर दिया गया है ।

पौराणिक अभिप्रायों के रचनात्मक स्वरूप का वर्गीकरण --

पूर्व-प्रस्तुत विवेचन में हम पौराणिक अभिप्रायों के प्रयोग विस्तार की चर्चा करते हुए उनकी रचनाधार्मिता का संकेत दे चुके हैं । प्रत्येक पौराणिक रूढ़ि तुलसी की कविता में किस किस प्रकार के भावों की अभिव्यंजना करती है, कहां उसका अलंकार मूलक प्रयोग हुआ है और कहां मानवीकृत प्रयोग इसका विश्लेषण भी आवश्यकतानुसार प्रत्येक मिथक के सन्दर्भ में किया जा चुका है ।

नीचे हम उपर्युक्त विवेचन को आधार मानकर तुलसी द्वारा प्रयुक्त

---

१. सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो दही री ।
मथि माखन सिय राम संवारे सकल भुवन छबि मनहुँ मही री ।। गी०१।१०४

पौराणिक अभिप्रायों के रचनात्मक स्वरूप का वर्गीकरण प्रस्तुत करेंगे । काव्य-रचनाधर्म के रूप में तुलसी द्वारा गृहीत पौराणिक अभिप्रायों को हम मुख्यत: तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं --

(१) पौराणिक अभिप्रायों का भावबोधक एवं रसमूलक प्रयोग

(२) पौराणिक अभिप्रायों का अलंकृतिमूलक प्रयोग

(३) पौराणिक अभिप्रायों का मानवीकृत प्रयोग

०७७ ब १. पौराणिक अभिप्रायों का भावबोधक एवं रसमूलक प्रयोग -

किसी न किसी भाव का बोध कराने के लिए ,बहुधा पौराणिक अभिप्राय प्रयुक्त हुए हैं । भाव ही अनुकूल परिस्थितियों में अपनी चरम सीमा तक विकसित होकर रस बन जाते हैं । यद्यपि मिथकों के द्वारा व्यंजित सभी भाव स्थायी या संचारी भाव नहीं हैं, यद्यपि ०० इनसे लघु सत्ता वाले सामान्य भाव हैं तथापि वे रस के विस्तृत भाव जगत से परे नहीं है । पौराणिक अभिप्रायों को भावबोधक निरूपित करते हुए भाव से हमारा तात्पर्य स्थायी एवं संचारी भावों से न होकर मानव हृदय में व्याप्त उन सामान्य भावनाओं से है जिनसे हम वस्तु,रूप, क्रिया, स्थिति आदि का बोध प्राप्त करते हैं । ये भावनाएं रसनिष्पत्ति में सहायक भावों (स्थायी भावों, अनुभावों एवं संचारी भावों) से कहीं न कहीं जुड़ती हुई प्रतीत होती हैं, अधिकतर मिथकीय भावबोध अनुभाव एवं विभाव का रूप धारण कर लेते हैं ।

पौराणिक अभिप्रायों का भावबोधक प्रयोग -

विभिन्न भावों और उनके बोधक पौराणिक अभिप्रायों की एक सूची नीचे प्रस्तुत की जा रही है - सूची में पौराणिक अभिप्रायों के आगे उन्हीं भावों का उल्लेख है जिनका बोध प्राय: उन अभिप्रायों के सहारे हुआ है --

पौराणिक अभिप्राय	भावबोध
१. राहु द्वारा चन्द्रग्रहण	शत्रुता, सौन्दर्य
२. चन्द्रमा का कलंक	विकृति,सौन्दर्य
३. चन्द्रमा में अमृत	तत्वचेतना,सौन्दर्य
४. कलपतरु	मनोनुकूल प्रभाव
५. कामधेनु	,, ,,

पौराणिक अभिप्राय	भावबोध
६. समुद्र-मंथन	सौन्दर्य
७. अगस्त्य का समुद्र-पान	सामर्थ्य, शत्रुता, शक्ति
८. सुमेरु	विशालता, गम्भीरता, गुरुता
९. सूर्य की रथ-यात्रा	औत्सुक्य, कौतूहल, हर्ष
१०. निगम शेष, शारदा की वाचालता	अनिर्वचनीयता
११. शेष, कूर्म, दिग्गज, भूधर आदि द्वारा पृथ्वी धारण	भय, गुरुता, आतंक, शौर्य
१२. लोकपाल, दिक्पाल	व्याप्ति, महिमा, शक्ति, भय
१३. अप्सरा गन्धर्व, किन्नरादि का नृत्य-गान	हर्ष, उत्साह, कौतूहल
१४. विरंचि का सृष्टि-नैपुण्य	सौन्दर्य, भव्यता, चारुता
१५. गरुण की गति	त्वरा
१६. देव, दनुज, नाग, सिद्ध, यक्ष, किन्नर गन्धर्वादि का सामूहिक अस्तित्व	प्रसारबोध
१७. दुन्दुभिवादन एवं पुष्प वृष्टि	हर्ष, आमोद, उत्साह
१८. अमृत	सुख, आनन्द

पौराणिक अभिप्रायों का रसमूलक प्रयोग -

पौराणिक अभिप्रायों के द्वारा कई रसों की उद्भावना तुलसी ने की है बहुधा तुलसी की काव्य-कला में रस विवेचन में इन प्रसंगों को उद्धृत करते हुए इनके मिथक तत्त्व पर ध्यान नहीं दिया जाता । यदि ऐसे अंशों से मिथक तत्व का बहिष्कार करके देखा जाय तो पूरा प्रसंग एकदम नीरस और रस-रमणीयता से रहित लगने लगेगा । तुलसी के काव्य में रसोद्भावना में मिथक की उपादेयता का अनुमान हम इतने से ही कर सकते हैं । इस प्रकार मिथकों के सहयोग से शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसों का प्रतिफलन तुलसी ने किया है । सर्वत्र मिथक रस-विधान की सामग्री बनकर प्रस्तुत हुए हैं । नीचे हम सभी रसों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं ।

(१) श्रृंगार रस -

काम द्वारा दुग्ध-मंथन तथा समुद्र-मंथन आदि मिथकों के सहारे सौन्दर्य चित्रण और क्रमशः रतिभाव व्यंजित हुआ, जिसकी चरम परिणति शृंगार रस में होती है --

सुषमा सुरभि सिंगार छीरदुहि मयन अमियममय कियो दही री ।

मथि माखन सिय राम संवारे सकल भुवन छवि मनहुं मही री ।। गी०१।१०८

कभी-कभी छोटे से छोटा मिथक भी रसविकास में सहायक सिद्ध हुआ है । जैसे निमि का पलकों पर निवास, पुष्पवाटिका प्रसंग में --

भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहुं सकुचि निमि तजे दिगंचल ।।

रा० १।२३०

(२) वीर रस -

इसमें शक्तिबोध और उत्साहभाव व्यंजित हुआ है, इससे वीररस निष्पन्न होता है यथा धनुषभंग के कठोर रव को सुनकर सूर्य के घोड़े अपना मार्ग छोड़ देते हैं, दिग्गज चीत्कार करने लगते हैं, शेष, कूर्म और वाराह भय से प्रकम्पित हो जाते हैं, तथा पृथ्वी डोल उठती है -

भरे भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारग चले ।

चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ।।

सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं ।

कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं ।। रा०१०।२६१

(३) रौद्ररस -

इसमें शक्ति और शौर्य की उद्भावना के साथ क्रोध उत्पन्न करके रौद्र-रस की व्यंजना हुई है, यथा -

लषन सकल सकोप बचन जब बोले । डगमगानि महिं दिग्गज डोले ।रा०१।२५४

धरती का डगमगाना और दिग्गजों का डोलना मिथक है । ~~रा० १।२५४~~।

(४) भयानक रस --

इसमें शेष, कूर्म, दिग्गज, बाराह, लोकपाल, दिक्पाल आदि से सम्बद्ध मिथक गृहीत हुए हैं - यथा

मत्तभटमुकुट-दसकंध-साहस-सइल -
सृंगबिद्दरनि जनु बज्र टाँकी ।
दसनधरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ
सेष संकुचित संकित पिनाकी
चलित महि मेरु, उच्छलित सायर सकल
बिकल दिसि बधिर दिसिबिदिसि बाँकी । क० । ६।४४

(५) वीभत्स रस -

युद्ध के प्रसंगों में शव-संकुल धरती पर भूत, पिशाच, योगिनी, कालिका, चामुंडा आदि का रक्तपान करके आनंदित होना और नाचना भी मानस और कवितावली में है । ये भूत, प्रेतात्माएं और देवियां भी पुराकथाओं से ही सम्बद्ध हैं --

जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहिं । भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं ।
भटकपाल करताल बजावहिं । चामुंडा नाना बिधि गावहिं ।।रा०।६।८८

उपर्युक्त उद्धरण में वीभत्स रसानुभूति मिथक-सामग्री के आधार पर की गई है ।

(६) अद्भुत रस -

मिथकों से सर्वाधिक उद्भावना अद्भुत रस की ही होती है । इसका कारण यह है कि मिथकीय कार्यव्यापार इतने अलौकिक और अतिरंजना युक्त है कि आज उनमें से प्रत्येक के बारे में सोचा जाय तो अत्यधिक विस्मय होता है । यही विस्मय भावना अद्भुत रस का स्थायी भाव है।तुलसी के काव्य में कई पात्रों के ऐसे अनेक कार्य व्यापर चित्रित हैं जो पौराणिक प्रभाव से आवृत्त हैं । वे हमारे विस्मय के कारण बनते हैं और अद्भुत रस के सर्वोत्तम दृष्टान्त कहे जा सकते हैं यथा - कई पात्रों के रूप-परिवर्तन, युद्ध में रावण के करोड़ों रूप, अयोध्या आगमन के समय राम के असंख्य रूप, नारद का तीनों लोकों में सहज भाव से आना-जाना, सूर्य के पास तक संपाती और जटायु की गति , कुम्भकर्ण का कनकभूधराकार होना, सेतु-बंधन प्रसंग में शिलाओं का सिंधु में तैरना, राम के मुख में कागभुशुण्डि का प्रवेश और शतकल्प तक विविध ब्रह्माण्डों में भ्रमण, सुमेरु पर कागभुशुण्डि का सत्ताईस कल्प से

रहना, हनुमान का सागर लंघन, पर्वत लेकर उड़ना, बत्तीस योजन तक मुंह फैलाना और मसक रूप धारण करना आदि । समुद्रमंथन , अगस्त्य द्वारा समुद्रपान और शेष द्वारा पृथ्वीधारण आदि वृत्त भी हमारी विस्मय भावना के आलंबन हैं ।

मिथकों से अद्भुत रस की उद्भावना ही सर्वाधिक होती है । शृंगार,वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स आदि रस भी पर्याप्त मात्रा में मिथकतत्वों से पुष्ट हुए हैं । करुणा, शान्त, और हास्य रस के प्रसंगों में मिथक- सामग्री का उपयोग प्राय: तुलसी ने नहीं किया है । तुलसी द्वारा किए गए मिथकों के भावबोधक एवं रसबोधक प्रयोग उनकी कलागत उपयोगिता को सिद्ध करते हैं ।

2. पौराणिक अभिप्रायों का अलंकृतिमूलक प्रयोग –

तुलसी ने पौराणिक अभिप्रायों के रचनात्मक प्रयोग द्वारा अलंकारों की उद्भावना भी की है । पीछे हम यत्र-तत्र पौराणिक अभिप्रायों के अलंकृतिमूलक प्रयोग की ओर संकेत कर चुके हैं, यहां परिचय और दृष्टान्त के लिए कुछ सामान्य अलंकारों और उनके मिथकीय उदाहरणों की सूची प्रस्तुत की जा रही है –

सादृश्यमूलक अलंकार –

उपमा

रघुपति चित्रकूट बसि नाना ।
चरित किए श्रुति सुधा समाना
रा०३।३

रूपक

ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं ।
कथा सुधा मथि काढ़हि भगति मधुरता जाहिं । रा०७।१२०

उत्प्रेक्षा-

कुसमय देखि सनेह संभारा ।
बढ़त बिंध जिमि घटज निवारा ।। रा०२।२६७
भूप उसास लेहिं एहि भांती ।
सुरपुर तें जनु खंसेउ जजाती ।। रा०२।१४८

दृष्टान्त

भोगावति जस अहिकुल बासा ।
अमरावति जस सक्र निवासा ।।
तिन्हते अधिक रम्य अति बंका
जगविख्यात नाम तेहि लंका ।। रा० १।१७८

प्रतीप — जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक ।
सियमुख समता पावकिमि चंद बापुरो रंक ।।
रा०१।२३७

व्यतिरेक — बिष्णुचारि भुज बिधि मुख चारी ।
बिकट भेष मुख पंच पुरारी ।।
अपर देउ अस कोउ न आही ।
यह छवि सखी पटतरिय जाही ।। रा० १।२२७ ।।

परिकरांकुर — बहु करि कोटि कुतर्क जथारुचि बोलइ ।
अचल-सुता-मन अचल बयारि कि डोलइ ।। पा०मं०।६५

अर्थान्तरन्यास — धरनि सुता धीरज धरेउ समय कुसमय बिचारि ।।
रा० २।२८६

सम्बन्धातिशयोक्ति — जो सम्पदा नीच गृह सोहा । सो बिलोकि सुरनायक मोहा ।
रा० १।२८६ ।

उल्लेख - संकर राम रूप अनुरागे । नयन पंचदस अतिप्रिय लागे ।
हरिहित सहित रामु जब जोहे । रमा समेत रमापति मोहे ।।
निरखि राम छबि बिधि हरषाने । आठै नयन जानि पछिताने
सुरसेनप मन अधिक उछाहू बिधितेंडेवड़ लोचन लाहू ।
रा० १।३१६

संभावना — कनक कुधर केदार बीज सुंदर सुरमनि बर ।
सीधि कामधुक धेनु सुधामय पय बिसुद्ध तर ।

कैवल्य सकल फल कलपतरु सुभसुभाव सब सुख सरिस
कह तुलसिदास रघुबंसमनि तो कि होइ तुव कर सरिस ।।
क०।७।११५

विरोधाभास — बचन सुनत सुरगुरु मुसकाने ।
सहस नयन बिनु लोचन जाने ।। रा०।२।२१८

इन अलंकारों में अधिकतर सादृश्यमूलक हैं और उनमें सादृश्यविधायक सामग्री मिथकों से गृहीत है । अर्थान्तरन्यास अलंकार के इस उदाहरण में मिथकीय

आधार पर नीति कथन किया गया है । उल्लेख अलंकार में शंकर के पन्द्रह, ब्रह्मा के आठ और कार्तिकेय के बारह नेत्रों के होने के आधार पर एक विचित्र दृश्याकर्षण और कौतूहल उत्पन्न किया गया है । विरोधाभास अलंकार में सहस्राक्ष इन्द्र को चक्षुविहीन कहकर उनकी स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति का सूक्ष्म उपहास किया गया है । इन्द्र का हजार आँखों से युक्त होना मिथकीय तथ्य है । कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसीकृत मिथक-प्रयोगों में जैसे अभिव्यंजना का प्रमुख साहित्यिक प्रयोजन निहित है जैसे उनके भीतर रस-धारा प्रवाहित है इसी प्रकार मिथकों का प्रयोग अलंकारों से मंडित और रचनागत भव्यता से युक्त भी है । पौराणिक अभिप्रायों को काव्याभूषण बना लेने का पूर्ण श्रेय कवि की रचनादृष्टि को है ।

पौराणिक अभिप्रायों का मानवीकृत प्रयोग -

पाश्चात्य साहित्य में मानवीकरण को काव्यदृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा गया है । भारतीय मनीषा ने प्राचीनकाल से ही अमानवीय तत्वों अर्थात् नदी, समुद्र, वन, वृक्ष, पर्वत आदि को सजीव पात्र की भूमिका प्रदान की है । यह विराट मानवीकरण हमारे साहित्य के लिए कोई नई बात नहीं है, यहाँ उन्हें न केवल सजीव व्यक्तित्व दिया गया है अपितु लोकोत्तर महत्ता भी प्रदान की गई है ।

पौराणिक अभिप्रायों के मानवीकृत प्रयोग की चर्चा हम पीछे ही 'प्राकृतिक उपादानों की मानुषी क्रियाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं । विशिष्ट उद्धरण के रूप में गंगा का सीता के प्रति आशीर्वचन बोलना, हिमांचल का जड़ पर्वत हुए भी एक मनुष्य की तरह व्यवहार और समुद्र का विनीत होकर राम से अनुनय विनय करना इत्यादि प्रसंगों की व्यापक चर्चा की जा चुकी है । मिथकों के रचनात्मक स्वरूप की एक विशिष्ट दिशा के रूप में मानवीकरण की इस परम्परा को ग्रहण किया जा सकता है । वन में वन देवता और वनदेवी के अस्तित्व की कल्पना भी मिथकीय भावना पर आधारित है । वनदेव और वनदेवी को मानस में में यद्यपि बोलते हुए नहीं प्रस्तुत किया गया है, फिर भी देव और देवी मानकर उन्हें मिथकीय चेतना युक्त रखा गया है ,सीता जी ने उन्हें अत्यन्त उदार और सास श्वसुर के समान स्नेह देने वाला कहा है ।[1] मानवीकृत प्रयोगों, जिसमें निर्जीव वस्तु

---

१. बनदेवी बनदेव उदारा । करिहहिं सासु ससुरसम सारा ।। रा०२।६६

को सजीव करके माना जाता है, के बारे में विचार करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है "हम जानते हैं कि पुराणशास्त्र में प्रत्येक निर्जीव वस्तु सजीव करके मान लिया गया है किसी भी नदी या चन्द्रमा को जीवनमय रूप क्यों दिया गया है ? इस प्रश्न का सामान्य समाधान केवल यही हो सकता है कि ऐसा हुआ है या किया गया है किन्तु हम जानते हैं कि ऐसा होना स्वाभाविक या अनिवार्य था । भाषा के ऐतिहासिक विकास के क्रम में ऐसा होना ही चाहिए था जो वास्तव में हमारे विचार विकास का इतिहास है"[१] तात्पर्य यह कि प्राणहीन वस्तुओं की प्राणवत्ता उनके शब्दार्थ विचार के विकास पर आधारित है । मैक्समूलर ने सर से सरिता (चलने वाली) नदी से गर्जन करने वाली आदि अर्थ विश्लेषण कर इन शब्दों की भावगत सजीवता को सिद्ध किया है ।

पौराणिक अभिप्रायों का स्वतंत्र रूप --

तुलसी के काव्य में प्रयुक्त मिथक-राशि (पौराणिक अभिप्राय) अधिकतर कवि की रचना दृष्टि से प्रेरित है । मिथकों के स्वतंत्र रूप रचनात्मक रूप की तुलना में बहुत ही कम है । सर्वत्र छोटे बड़े सभी मिथकों से रचनाकार कुछ साहित्यिक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए संकल्पबद्ध दिखाई देता है । इसलिए ज्यों के त्यों रखे हुए मिथक प्राय: प्राप्त नहीं होते । मूलग्रन्थ अथवा स्रोतग्रन्थों में मिथकविशेष का जो रूप है ठीक वही और वैसे ही, कवि ने ग्रहण किया हो, ऐसा बहुत कम देखने में आता है । यद तुलसी ने अधिकतर पुराकथाओं के मिथकों का अविकृत संकलन मात्र किया होता तो हम उन्हें पौराणिक कहने को बाध्य होते और कवि कहने में संकोच करते , किन्तु स्वतन्त्र मिथकों के होते हुए भी स्थिति ऐसी नहीं है कि तुलसी के कवित्व पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सके ।

तुलसी के काव्य में स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त पौराणिक अभिप्रायों में स्वर्ग,

---

१. पुराण शास्त्र एवं जन कथाएं , पृ० ६

नरक की मान्यता , देवों के रूपों, राम और विष्णु के कुछ महिमाबोधक लक्षणों को गिना जा सकता है, किन्तु इनमें भी कहीं न कहीं रचनात्मक पुट कवि ने दे ही दिया है । शंकर को निर्लज्ज, निर्गुण, कुवेशधारी, कुलगेहहीन, दिगम्बर और सर्पधारी रूप में जब कवि, चित्रित करता है तो यहां तक हम देव विशेष का रूपसमझकर इसे अविकृत अर्थात् स्वतन्त्र मिथक मान सकते हैं, पर तुलसी जब शंकर के इस दिव्यरूप का समग्र मूल्यांकन करते हुए 'असिव बेष सिवधाम कृपाला' जैसी उक्ति करते हैं तो उसमें रचना-सौंदर्य टपक पड़ता है तथा यह काव्योक्ति लगने लगती है और भक्तिकथन, कविकथन में अन्तर्हित हो जाता है । ठीक इसी प्रकार कवि जब ईश्वर को पैर बिना चलने वाला कान बिना सुनने वाला, कर के बिना कर्म करने वाला, मुख बिना भक्षण करने वाला और वाणी बिना बोलने वाला कहता है तो वह आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ विभावना का सरंजाम जुटाता हुआ दिखाई देता है और मिथक का स्वतन्त्र रूप कवि दृष्टि से प्रभावित हो जाता है । कुछ मिथक ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग कहीं,तो स्वतंत्र रूप से है और कहीं रचना-दृष्टि से प्रभावित है, उदाहरणार्थ विनय पत्रिका में 'सारथि पंगु दिव्यरथ गामी' कहकर जिस मिथक् का स्वतन्त्र रूप प्रस्तुत किया गया है, मानस में राम जन्मोत्सव के प्रसंग में उसी मिथक को रचनात्मक रूप उस समय मिलता है जब उत्सव-दर्शन से आनन्दविभोर होकर सूर्य का रथ आकाश में रुक जाता है ।[१] ऐसी स्थितियों में भी रचनात्मक प्रयोगों की, संख्या ही अधिक है, स्वतन्त्र रूपों का प्रयोग अत्यल्प है । मिथकों के प्रयोक्ता तुलसी ने रचनात्मक रूपों की अधिकता के कारण प्रधानत: साहित्यकार प्रमाणित होते हैं । कथा प्रसंगों के बीच में आए हुए मिथक काव्योद्देश्य की पूर्ति करते हैं, और रचनात्मक रूप धारण करते हैं । स्तुति तथा आत्मनिवेदन के प्रसंगों में आए हुए मिथक प्राय: अविकृत और स्वतन्त्र है, यद्यपि अपवाद रूप से इनकी भी रचनात्मक दशा प्राप्त हो जाती है । रामचरितमानस,कवितावली ,

---

१. मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोय ।
   रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होय ।। रा०१।६५

चतुर्थ अध्याय

तुलसी-साहित्य में कविसमय :—

कवि समय : संज्ञा और व्याप्ति

कवि समय का दूसरा नाम कवि प्रसिद्धि भी है । संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में प्राय: कविसमय शब्द ही प्रयुक्त है । इसके अतिरिक्त इसे कवि समय ख्याति कवि प्रौढौक्ति, कविमत आदि कहा गया है । ये कवि समय के गुणवाचक अभिधान हैं । इसके दोषवाचक अभिधान भी हैं जैसे प्रसिद्धि विरुद्धता दोष, ख्याति विरुद्धता दोष आदि । हिन्दी साहित्य में अनुशीलकों ने कवि समय का कवि-प्रसिद्धि नाम प्रचलित किया । यह प्रसिद्धि ख्याति शब्द का पर्याय है । अंग्रेजी में कविप्रसिद्धि या कविसमय को ही पोयटिक कन्वेन्शन्स (Poetic Conventions) कहते हैं ।

कविसमय के विवेचन की एक दीर्घ परम्परा संस्कृत और हिन्दी साहित्य-शास्त्र में चली आ रही है । सर्वप्रथम राजशेखर ने कवि समयों का विस्तृत उल्लेख किया है ।[१] अपने विवेचन में उन्होंने कवि समय के प्रति आचार्यों और कवियों की उदा-सीनता को दूर करने का भरसक प्रयास किया है । आचार्य विश्वनाथ कविराज ने काव्य के एक विशिष्ट अवगुण 'ख्यातिविरुद्धता' को लक्ष्य करते हुए कहा है कि कवि समय

---

१. द्रष्टव्य , काव्यमीमांसा, १४,१५, एवं १६ वां अध्याय ।

की स्थिति में ख्यातिविरुद्धता भी गुण होती है -

कवीनां समये ख्याते गुण: ख्याति विरुद्धता ।[१]

कविसमय की विशेष स्थिति में उक्त दोष का निरसन करते हुए उन्होंने कुछ कवि-समय ख्यातियों की सूची चार बड़े श्लोकों में प्रस्तुत की है ।[२] मम्मट ने भी दोष-प्रकरण के अन्तर्गत प्रसिद्धि-विरुद्धता दोष का उल्लेख किया है ।[३] वास्तव में यही कवि प्रसिद्धि का विरोधी तत्त्व है और इसका निषेधात्मक उल्लेख करते हुए उन्होंने प्रकारान्तर से कवि समय का ही समर्थन किया है ।

हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कवि-शिक्षा को लक्षित करते हुए कवि समय की चर्चा की है ।[४] इन्होंने द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया आदि तत्त्वों के आधार पर इसका संक्षेप में उल्लेख किया है । इनका उपस्थापन ठीक राजशेखर जैसा ही है । केशवमिश्र ने भी कविसमयों का सूचीबद्ध विवरण दिया है ।[५] अजितसेन ने लगभग बारह श्लोकों में कवि समय के बारे में लिखा है ।[६] कवि-समय के अन्य व्याख्याकारों में देवेश्वर अरिसिंह और अमरचन्द्र आदि का नाम भी गणनीय है ।

हिन्दी के कुछ रीतिकालीन लक्षणग्रंथकारों ने भी इसकी पुनरावृत्ति की है । केशवदास ने कवि-मत या 'कविरीति' कहकर जिस तथ्य की ओर संकेत किया है वह वस्तुत: कविसमय ही है ।[७] भिखारीदास ने भी कवि समय के सम्बन्ध में दोहे लिखे हैं जिसमें कविसमय के उल्लंघन से उत्पन्न दोष को ही 'प्रसिद्धिविद्या विरुद्धदोष'

---

१. साहित्य दर्पण ७।२२

२. साहित्य दर्पण । ७।२२,२३,२४,२५

३. काव्यप्रकाश । सप्तम उल्लास । २६४, २६५, २६६ ।

४. काव्यानुशासन । प्रथम अध्याय

५. अलंकार शेखर । षष्ठरत्न, प्रथम मरीचि

६. अलंकार चिन्तामणि । प्रथम परिच्छेद । ६६-८०

७. कविप्रिया । चौथा प्रभाव । ४-१६

कहा गया है ।[१]

हिन्दी के शोधकर्ताओं और विद्वानों में से जिन लोगों ने कविसमय के बारे में लिखा है उनका नामोल्लेख प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्याय में कर दिया गया है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, महा महोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा श्री दिवाकर मणि त्रिपाठी, डॉ० विष्णुस्वरूप आदि ऐसे लोगों में प्रमुख हैं । संस्कृत और हिन्दी साहित्य में कविसमय का जितना विवेचन हुआ है, सब पर काव्यमीमांसाकार का प्रभाव है तथा सबने काव्य मीमांसा को ही आधार बनाया है ।

कवि समय का उल्लेख विवेचन की दो प्रणालियों में हुआ -

१. विधि रूप में -कवि समाज में प्रचलित अनुकरणीय मान्यता के रूप में ।
२. निषेध रूप में - काव्य-दोष विवेचन में ।

पहली प्रणाली में राजशेखर, देवेश्वर, अजितसेन और केशवमिश्र केशवदास आदि आचार्य आएंगे और दूसरी प्रणाली में कविराज विश्वनाथ,मम्मट भिखारी-दास आदि आचार्य आएंगे ।

कवि समय का अर्थ -

कवि समय के अर्थ का सम्यक् बोध करने के लिए इसके विवेचन के उत्स पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए । राजशेखर ने लिखा है -"अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवय: स: कवि समय:"[२]अर्थात् जिन अशास्त्रीय, अलौकिक और परम्परायात अर्थों का कविजन अपने काव्य में निबन्धन करते हैं, वही कवि समय है । इस कथन के अनुसार कविसमय के तीन लक्षण निश्चित होते हैं -

---

१. काव्यनिर्णय । तेईसवां उल्लास, पृ० ६६१
२. काव्यमीमांसा (चतुर्थ अध्याय)पृ० २३४

१. यह अशास्त्रीय होता है ।

२. यह अलौकिक होता है ।

३. यह कवि समाज में परम्परा से प्रचलित होता है ।

विचारणीय है कि अशास्त्रीय क्या है ? शब्दार्थ से स्पष्ट है कि जो शास्त्र में न हो वही अशास्त्रीय है । शास्त्र के भी दो आशय ग्रहण किए जाते हैं एक तो चौदह शास्त्रों का वाचक है जिसमें चार वेद, छः वेदांग, पुराण, मात्र, आन्वीक्षिकी मीमांसा आते हैं स्मृति, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद ज्योतिष अलंकारशास्त्र की गणना भी शास्त्रों में होती है । इसके अतिरिक्त किसी भी विशिष्ट विषय के सर्वाङ्गीण सैद्धान्तिक विवेचन को शास्त्र की संज्ञा दी जाती है ।[१] कवि समय की जो परिभाषा राजशेखर ने दी है उसमें अशास्त्रीय का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि शास्त्रों की परिधि में आने वाले तथा कथित प्राचीन ग्रन्थ जो अध्यात्मज्ञान, धर्मज्ञान, इतिहास, वेदशास्त्रादि से सम्बद्ध हैं । उनमें जो बात न पाई जाय वह अशास्त्रीय है जिसकी मान्यता इन सब में न होकर मात्र काव्य में ही हो, वह कविसमय हो सकता है ।

अलौकिक से तात्पर्य है, जो लोक दृष्टि से परे हो और परम्परायात से आशय है, जो परम्परा (कविपरम्परा) में प्रचलित हो । निष्कर्षतः जो शास्त्र-ग्रन्थों में न हो, लोकदृष्टि का विषय भी न हो किन्तु कवि समाज में प्रचलित हो वही कवि समय है । इन तीनों में से एक भी लक्षण जिसमें न हो उसे कवि-समय कहना असंगत है ।

'कविप्रसिद्धि' की अर्थवत्ता तो स्वयं प्रकट है, परन्तु 'कवि समय' शब्द अवश्य विचारणीय है । अमरकोश में समय के ४ अर्थ बताए गए हैं, शपथ, आचार, काल सिद्धान्त और संविद ।[२] डॉ० विष्णुस्वरूप के कथनानुसार 'समय' शब्द समझौते के नियमों के लिए भी प्रयुक्त होता है ।[३] अमरकोश के सिद्धान्त और शपथाचार में

----

१. मानक हिन्दी कोश-पाँचवाँ खण्ड, पृ० १६६

२. समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' - अमरकोष ३,३,१४६

३. डॉ० विष्णुस्वरूप, कविसमय-मीमांसा, पृ० २०

भी इसकी व्यंजना बहुत कुछ स्पष्ट है । कवियों के मध्य सर्व स्वीकृत आचरण के रूप में इसे एक समझौता भी माना जा सकता है । कवि समय में 'समय' शब्द का अर्थ समान आचरण ही है । कवि समय की मान्यता कवियों द्वारा काव्य के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी पथ का अनुसरण है ।

कविसमय-प्रयोग सम्बन्धी धारणाएं -

काव्य में कवि समय के प्रयोग की समर्थक और विरोधी दोनों धारणाएं पायी जाती हैं । राजशेखर के पूर्ववर्ती काव्य शास्त्रियों का कवि समय के बारे में मौन रह जाना आश्चर्यजनक बात है । अवश्य ही काव्य में कविप्रसिद्धियों के प्रयोगौचित्य पर आचार्यों को सन्देह रहा होगा । राजशेखर ने स्वयं इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है — 'नन्वेष दोष : कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः ? इति आचार्या : ।'[१] आगे पूर्वाचार्यों के उस विरोधी विचार का प्रत्याख्यान करते हुए राजशेखर ने लिखा है —'कविमार्गानुग्राही कथमेष दोष:'[२] अर्थात् यह तो कविमार्ग का अनुसरण है इसमें दोष कहाँ ? स्पष्ट है कि अलौकिक और अशास्त्रीय बातों को, जिनके अधिकांशत: असत्य होने की सम्भावना ही अधिक थी, कविमार्ग प्रशस्त करने के लिए ही प्रामाणिकता प्रदान की गई । इसलिए काव्य-सृजन में कवि समयार्थों के रमणीय समाहार का सरस योगदान निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है ।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, जो असत्यपरक कविसमयार्थों के सम्बन्ध में है, वह यह कि क्या ऐसे कविसमय वस्तुत: असत्य होते हैं और उन्हें काव्य - रचना के विशिष्ट प्रयोजन से सत्यमान लिया जाता है अथवा कवि इन्हें असत्य न मानकर दृढ़तापूर्वक सत्य ही मानते हैं । वर्तमान समय में तो पहली बात ही सत्य प्रतीत होती है । किन्तु राजशेखर की आस्था इन कविसमयार्थों की अतीतकालीन सत्यता में अडिग रही है । उनकी धारणा है कि जिन प्राचीन विद्वानों ने देश-

----

१. काव्यमीमांसा(१४ वाँ अध्याय),पृ० २३५

२. वही, पृ० २३५

देशान्तर में भ्रमण कर वेदशास्त्रादि का अवगाहन कर जिस ज्ञान का अर्जन किया तथा जिन अर्थों को उपलब्ध किया वे कभी असत्य नहीं हो सकते -

'पूर्वे हि विद्वान्स: सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य शास्त्राणि चावबुध्य देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो य: स कविसमय: ।'[१]

उनके अनुसार कवि समयार्थ अतीत में कभी न कभी सत्य अवश्य थे । देश-कालान्तर वश आज वे अन्यथा हो गए हैं । तो भी उनका उपनिबन्धन उसी प्रकार किया जाना कवि समय है । कवि समय से सम्बद्ध अर्थ चाहे पहले से ही असत्य रहे हों या आज असत्य हो गए हों हमारा इस विवाद से कोई प्रयोजन नहीं है, अपितु कविकर्म में उन अर्थों का योगदान है या नहीं, इसका स्पष्टीकरण करना है । हमें इसकी उपादेयता रचनात्मक सन्दर्भ में देखनी है । वास्तव में कवि समय काव्य में भावाभिव्यक्ति के सहायक उपादान है । इसलिए इसी संदर्भ में इस पर विचार किया जाना चाहिए । किसी भी असत्य अर्थ के नियोजन से यदि हम अभिप्रेत व्यंजना करने में समर्थ सिद्ध हों तो उसका प्रयोग उस परिस्थिति विशेष में न केवल क्षम्य है बल्कि श्लाघ्य भी है । उदाहरणार्थ यह तो सच ही है कि हंस नीरक्षीर विवेक नहीं करता तो भी यदि हम इसे सच ही मानतें और उससे गुण-दोष विवेचन की चरम सामर्थ्य का अद्भुत दृष्टान्त देते हुए सफल अभिव्यक्ति कर सकें तो इसमें आपत्ति क्या है ? इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में कविप्रसिद्धियों की विविध उपयोगिताएं हैं । डॉ० सत्यव्रतसिंह ने काव्य में कवि समयार्थों के प्रयोगौचित्य पर सन्देह व्यक्त किया है । उन्होंने कहा है - 'यह कविसमय' यदि ऐसे 'काव्यलोक' की कल्पना कराता है जिसमें कुछ भी कुछ हो सकता है तब लोक और काव्य में सम्बन्ध कहाँ और रसभाव की अभिव्यंजना के लिए लोकजीवन के संस्पर्श का क्या अवसर'[२]? डॉ० सिंह की यह आशंका स्वाभाविक है, और यह ठीक भी है कि बिना किसी गम्भीर उद्देश्य के मात्र चमत्कार सृजन

----

१. काव्यमीमांसा (१४ वां अध्याय) पृष्ठ २३५

२. साहित्य दर्पण (व्याख्याकार-डॉ० सत्यव्रत सिंह) भूमिका के पृ० ४७ से उद्धृत ।

और कृत्रिम वाणी वितान के निर्माण हेतु असत्यार्थों का निबन्धन सराहनीय नहीं माना जा सकता । इतना होते हुए भी अभिव्यक्ति की तीव्रता एवं भावसौन्दर्य की सृष्टि के उद्देश्य से एक सीमातक इनका प्रयोगौचित्य निर्विवाद भी है । जहाँ कवि को प्रयोजन रहित होकर तटस्थ वर्णन ही करना हो वहाँ कवि समयार्थों की झड़ी लगा देना कलावादी कवि का ही कार्य हो सकता है किन्तु जहाँ वह किसी विरूपता से बचकर किसी विशिष्ट अनुभूति का प्रतिफलन करता है वहाँ यह प्रयोग उदात्त कवित्व के अनुरूप ही है । जहाँ तक काव्य और लोक के सम्बन्ध का प्रश्न है, कवि लोक को इस बात के लिए बाध्य नहीं करता कि वह उसके असत्यार्थ को अन्तिम रूप से स्वीकारे ही, उसकी अपेक्षा तो मात्र इतनी ही होती है कि वह उसके सत्यासत्य पर विचार न कर उस क्षण उसके द्वारा संप्रेषित भावना का बोध कर सके ।

राजशेखर के बाद कविसमयों का उल्लेख भले ही समस्त आचार्यों ने न किया हो किन्तु किसी ने उनकी मान्यताओं का विरोध नहीं किया ।

कवि समय के प्रकार –

राजशेखर ने कवि समय के ३ प्रकार या भेद बताए हैं । ये हैं स्वर्ग्य, भौम और पातालीय । इनका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं – सच त्रिधा स्वर्ग्यो भौम: पातालीयश्च । स्वर्ग्यपातालीययोर्भौम: प्रधान: । स हि महा विषयक: ।[१] वे स्वर्ग्य और पातालीय कविप्रसिद्धियों की अपेक्षा भौम कविसमयों को प्रधान बताते हैं । उनके मतानुसार भौम कवि समय ही महाविषयक हैं ।

कवि समय के ये तीनों भेद भी जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया के आधार पर चार-चार भेदों में बंट जाते हैं ।[२] इस प्रकार कवि समय के १२ प्रकार हुए --

---

१. काव्यमीमांसा (चतुर्दश अध्याय), पृ० २३६

२. स च चतुर्द्धा जाति द्रव्य गुण क्रिया रूपार्थतया ।

- काव्यमीमांसा (चतुर्दश अध्याय), पृ० २३६

१. जातिवाचक स्वर्ग्य कवि समय
२. द्रव्य वाचक " "
३. गुणवाचक " "
४. क्रियावाचक " "
५. जाति वाचक भौम "
६. द्रव्यवाचक " "
७. गुण वाचक " "
८. क्रिया वाचक " "
९. जातिवाचक पातालीय "
१०. द्रव्यवाचक " "
११. गुण वाचक " "
१२. क्रिया वाचक " "

ये १२ प्रकार भी निबन्धन की प्रकृति के अनुसार तीन-तीन प्रकारों में विभक्त किए जा सकते हैं। राजशेखर ने निबन्धन के ये तीन प्रकार बताए हैं[1] --

१. असत् का निबन्धन, २. सत् का अनिबन्धन, ३. नियम निबन्धन, इस तरह १२ प्रकार के कवि समयों की संख्या तीन गुनी होकर ३६ हो जाती है। कवि समय के ये भेद उसमें अन्तर्हित तथ्यों पर आधारित हैं और बहुत ही सूक्ष्म हैं। इन प्रकारों को आधार मानकर कवि समय का साहित्यिक विश्लेषण तो करना ठीक है किन्तु साहित्य में अथवा किसी विशेष साहित्यकार के साहित्य में कविसमय के विस्तार और विकास का परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत करने के लिए इन भेदों का आधार ग्रहण करना उतना उपयोगी नहीं हो सकता, इसके लिए तो क्षेत्रीय आधार पर किए गए भेद ही अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। प्रस्तुत विवेचन में हमारा उद्देश्य तुलसी-साहित्य में कविसमयों के विस्तार का परिचय प्रस्तुत करना है। डॉ० विष्णुस्वरूप ने अपने शोध प्रबन्ध 'कविसमय - मीमांसा' में कवि समय

---

१. 'तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा असतो निबन्धनात्, सतोऽप्यनिबन्धनात् नियमतश्च।'
काव्यमीमांसा (चतुर्दश अध्याय), पृ० २३६।

को कुछ ऐसे ही क्षेत्रीय वर्गों में विभक्त कर दिया है, जो परिचयात्मक विवेचन का अपेक्षाकृत सुविधाजनक आधार है । तुलसी-साहित्य में कविसमय के व्यापक प्रयोग का परिचय देने के लिए यहाँ कवि समयों का जो वर्गीकरण किया जा रहा है, वह बहुत कुछ डॉ० विष्णुस्वरूप के वर्गीकरण पर ही आधारित है ।

तुलसी की रचनाओं में कविसमयों का विस्तार दिखाने के लिए निम्नलिखित वर्ग बनाए जा सकते हैं :--

(१) देवों से सम्बद्ध कविसमय --

तुलसी की रचनाओं में देव पात्रों की चर्चा अनेकबार आयी है । उनके काव्य का कथ्य ही ऐसा है कि धर्म, अध्यात्म, आदि से उसका विशेष नैकट्य है । इसलिए इस प्रकार के कवि समयों के रमणीय गुम्फन की सम्भावनाएं भी उनके काव्य में स्वभावत: अधिक हैं ।

देवों की मान्यता जनमानस की आस्तिक भावना पर अवलम्बित है । अनेक देवी-देवताओं के व्यक्तित्व , वेशभूषा, गुण, कार्य-कलाप, विलक्षणता आदि के सम्बन्ध में विविध तथ्यों का उल्लेख हम साहित्यिक अभिप्राय के ही प्रसंग में पौराणिक अभिप्रायों (मिथकों) का विवेचन करते हुए पिछले अध्याय में कर चुके हैं । प्रश्न उठता है कि क्या वे तथ्य कवि समय के अन्तर्गत नहीं आ सकते ? मिथकों और देवों से सम्बद्ध कविसमयों के बीच कौन-सा पार्थक्य है जिसे रेखांकित किया जा सकता है । दोनों ही अभिप्राय हैं तथा दोनों साहित्यिक अभिप्राय के अंग हैं । दोनों की प्रकृति स्थूल दृष्टि से देखने पर एक सी प्रतीत होती है । फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है जो निम्नलिखित है --

१. कवि समय के अन्तर्गत प्रयुक्त अर्थ शास्त्र सम्मत नहीं होता, बल्कि कवियों द्वारा निर्मित होता है । इतना अवश्य हो सकता है कि ऐसे अर्थों की कल्पना कवि-समाज के लोग किसी मिथक को ही आधार मानकर करें, फिर भी वह मिथक से कुछ न कुछ भिन्न हो ही जाता है । मिथकों के अर्थशास्त्र-सम्मत होते हैं ।

२. कवि समय में एक ही स्थान पर परस्पर विरोधी तथ्यों को भी मान्यता मिलती है जब कि मिथक में ऐसा नहीं होता ।

३. मिथकों का सम्बन्ध सुरों, असुरों तथा अधिक से अधिक दिव्य शक्ति सम्पन्न ऋषि-मुनियों तक ही सीमित है जब कि कवि समय के तथ्यों का विस्तार सुर, असुर आदि से लेकर दिग दिगन्तव्यापी वृक्षों, वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं तथा मानव समाज तक हैं। इसलिए दोनों में कुछ आधारभूत अन्तर अवश्य हैं, जिसके कारण इन दोनों के पृथक् पृथक् विवेचन की आवश्यकता अनुभव की गई।

तुलसी की रचनाओं में प्रयुक्त देवों से सम्बद्ध कुछ प्रतिनिधि कवि समयों का उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं। सम्बद्ध देवी-देवता के नाम पर आधारित-शीर्षक के अन्तर्गत उससे सम्बन्धित कवि समयों की सोदाहरण चर्चा और उसके विस्तार आदि का आकलन तुलसी-साहित्य के सन्दर्भ में इस प्रकार है --

कामदेव -- काम के विषय में कुछ कविप्रसिद्धियां निम्नलिखित हैं --

१. कामदेव मूर्त भी हैं और अमूर्त भी।

२. उसकी पताका को मकर युक्त भी कहा जाता है और मत्स्य युक्त भी।

३. काम के धनुष वाण पुष्पनिर्मित हैं।

४. काम वसन्त का अभिन्न मित्र है।

५. काम मदन पाश रखता है।

१. कामदेव मूर्त भी है और अमूर्त भी -- काम मूर्त भी है और अमूर्त भी, ऐसी प्रसिद्धि कवि समाज में प्रचलित है। इसी प्रसिद्धि के आधार पर एक ही कवि कहीं तो काम को अंग युक्त तथा साकार वर्णित करता है और कहीं अंगहीन अथवा आकार रहित। ये दोनों परस्पर विरोधी तथ्य हैं। पौराणिक घटनाएं यह साक्ष्य देती हैं कि काम पहले अंग युक्त और सर्वांङ्ग सुन्दर था, यहां तक कि वह सौन्दर्य का आदर्श भी था किन्तु शिव के तृतीय नेत्र की ज्वाला में वह भस्मीभूत हो गया। उसकी पत्नी रति के निवेदन पर दयार्द्र होकर शिव ने काम के अशरीरी किन्तु प्रभावशाली अस्तित्व को बना रहने दिया। तभी से वह अमूर्त या अशरीरी माना जाता है। स्वयं तुलसी ने मानस के बालकाण्ड में इस घटना का उल्लेख करते हुए शिव के मुख से भविष्य में काम के अनंग होने की बात इस प्रकार कहलाई है --

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चूंकि काम अब अशरीरी है, अस्तु इसे कवियों द्वारा भी अशरीरी ही माना जाना चाहिए । यदि कोई कवि उक्त पौराणिक घटना से सहमत न हो तो वह काम को शरीरी ही मान सकता है । प्रत्येक स्थिति में कवि को किसी एक मान्यता पर दृढ़ रहना चाहिए । किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है । रचनात्मक आवश्यकता के अनुरूप कविजन उसे मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों में मानते हैं । वे दोनों तथ्यों का निस्संकोच उद्घोष करते हैं । यह कवियों का स्वच्छन्द आचरण है जिसे वे पारस्परिक मतैक्य के आधार पर करते रहते हैं । वस्तुत: काम अनंग तो है ही किन्तु कविजन उसे सदैव अंगरहित बताकर रूप सौन्दर्य का एक समर्थ उपमान विनष्ट नहीं करना चाहते ।

तुलसी के प्रयोगों में पहले हम उन कथनों को लेते हैं जिनमें काम को अमूर्त माना गया है । तुलसी ने काम को कहीं 'अतनु'[१] कहीं 'तनबिनु'[२] तथा प्राय: 'अनंग'[३] कहा है । काम की अंगहीनता के पोषक कुछ उद्धरण ये हैं —

१. जय सरीर छबि कोटि अनंगा । रा० ।१।२८५
२. आछे मुनि वेष धरे लाजत अनंग हैं । क० ।२।१५
३. कोटि भानु-सुवन सरद-सोम कोटि अनंग । गी०।२।१७

उपर्युक्त पंक्तियों में काम को अनंग कहा गया है, जिसका आशय है अंगहीन । इस कविप्रसिद्धि का जो दूसरा पहलू है उसकी भी ध्वनि हम इन्हीं पंक्तियों में पा सकते हैं । इनमें राम की छवि का सादृश्य बोध कराने के लिए 'अनंग' (काम) को प्रस्तुत किया गया है । जिसका कोई रूप ही नहीं है वह शारीरिक सौन्दर्य का सादृश्य कैसे बन सकता है । इससे प्रतीत होता है कि काम को कहा तो जा रहा है

---

१. गिरा मुखर तनु अरध भवानी । रति अति दुखित अतनु पति जानी ।।
—रा० १।२४७
२. सकुल गए तनबिनु भए साखी जादो काम ।। दो० । ४२५
३. छबि बिलोकि लाजे अमित अनंग । गी० ।३०४

अनंग किन्तु माना जा रहा है अंगयुक्त । कवि की यह विचित्रता और स्वच्छन्दता कवि समय बन गई है । अन्यत्र कहीं-कहीं सौन्दर्यांकन या अन्य किसी साहित्यिक प्रयोजन से काम को कुछ ऐसी क्रियाओं में नियुक्त किया गया है, जो बिना शरीर वाले प्राणी से सम्भव ही नहीं है जैसे काम के द्वारा समुद्र का मंथन, दुग्ध-मंथन ,सरसंधान आदि किए जाने का कथन अधोलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है –

१. सोभारजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ।।रा०।१।२४७

२. सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि

मयन अमिय-मय कियो है दही री । गी०। १।१०४

३. सुमन चाप निज सर संधाने । अतिरिस लागि श्रवन लगि ताने । रा०१।८७

प्रथम उद्धरण में 'पानि पंकज निज' तथा तृतीय उद्धरण में 'श्रवन लगि' शब्दों पर बल दिया गया है जो काम के मूर्तत्व की स्पष्ट घोषणा करते हैं ।

२. काम की पताका में मकर और मत्स्य दोनों की स्थिति –

काम के सम्बन्ध में दूसरा कवि समय यह है कि उसकी ध्वजा में मकर की स्थिति भी कवि मानते हैं और मत्स्य (मीन) की भी । यद्यपि एक ही कथन में दोनों की स्थिति नहीं मानी जाती अर्थात् ऐसा कवि नहीं मानते कि कामकेतु में मकर और मीन दोनों साथ-साथ है, तथापि कवि दोनों में से किसी भी समय किसी एक की स्थिति मान सकने के लिए अपने को स्वतन्त्र रखते हैं ।

राजशेखर ने इस कवि समय की पुष्टि के लिए दो श्लोक प्रस्तुत किए हैं । दोनों में काम का वर्णन है जिनमें से एक में उसे 'मकर केतु' तथा दूसरे में मीनध्वज कहा गया है ।[1] दोनों को मिलाकर देखने से इस कविसमय का स्वरूप बनता है ।

---

१. चापं पुष्पमयं गृहाण मकरः केतु समुच्छ्रीयतां ।
चेतो लक्ष्यभिदश्च पंच विशिखाः पाणौ पुनः सन्तुते ।

मीनध्वजस्त्वमपि नो न च पुष्पधन्वा
केलिप्रकाशतव मन्मतथा तथापि ।। - काव्यमीमांसा अध्याय, १६पृ०२५४

तुलसी-साहित्य में इस कवि समय की स्थिति मात्र एक दो स्थानों पर है । कामकेतु में मकर की स्थिति के पोषक दो तथा मीन की स्थिति का पोषक एक दृष्टान्त ही प्राप्त हो सका है जो निम्नलिखित है --

(क) काम की ध्वजा में मकर -

मनहुं हर-उर जुगल मारध्वज के मकर
लागि स्रवननि करत मेरु की बतकही । गी०।७।६

मनहुं केतु के मकर, चाप सर
गयो बिसारि भयो मोहित मारु ।। गी० ७।१०

(ख) काम की ध्वजा में मीन -

प्रभुहि चितै पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोल ।।रा०१।२५८

३. काम के पुष्पनिर्मित धनुष-बाण -

कवि प्रसिद्धि है कि काम के धनुष-बाण पुष्प के हैं । वसन्त ऋतु में प्रकृति पुष्पों से सुसज्जित होती है । काम का कुछ अधिक नैकट्य वसन्त ऋतु से है । इस ऋतु में प्राणियों पर इसका मादक प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक होता है । यही तथ्य इस कविप्रसिद्धि के मूलाधार हो सकते हैं । काम के धनुष-बाण पुष्प के हैं, यह बात तुलसी ने कई स्थानों पर स्वीकार की है । दो-तीन उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं :--

(क) सुमन चाप निज सर संधाने । अति रिस लागि श्रवन लगि ताने ।।
रा० १।८७

(ख) काम कुसुम धनु सायक लीन्हें ।
सकल भुवन अपने बस कीन्हें ।। रा० । १।२५७

(ग) सिय-बियोग-दुख केहि बिधि कहउं बखानि ।
फूलबान ते मनसिज बेंधत आनि ।। ब०रा० । ४०

मानस के अयोध्याकाण्ड में कोपभवन में गए हुए अत्यन्त सूर और प्रतापी

दशरथ को काम के पुष्पबाणों से आहत दिखाया गया है ।[१] काम के बाण जिन पंचसुमनों से निर्मित माने जाते हैं, उनके बारे में मतैक्य नहीं है । प्राय: अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका तथा नीलोत्पल को ही काम के बाणों के पुष्प माना जाता है ।[२] जो भी हो, विशेष बात तो यह कि कवि समाज के प्राणी अपने काव्य जगत के क्षेत्र में स्वतंत्र मान्यताएँ मानने में इस सीमा तक आगे बढ़ गए कि उन्होंने न केवल यह माना कि काम के धनुषबाण पुष्प के हैं बल्कि उसमें कितने और कौन-कौन से पुष्प हैं इसकी भी कल्पना कर डाली । कवियों की ऐसी मान्यता का भी आभास इस कवि प्रसिद्धि के प्रयोगों से कहीं-कहीं मिलता है कि तथाकथित पंचसुमनों को संयुक्त करके काम का कोई बाण निर्मित नहीं होता अपितु इनमें से प्रत्येक पुष्प स्वतन्त्र रूप से बाण का काम देता है । तुलसी की ही एक पंक्ति से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है । कवि कहता है कि स्वयंवर भूमि में चलती हुई रूपवती सीता राजाओं को इस प्रकार देखती है जैसे काम नीलकमल के बाणों से प्रहार कर रहा हो –

> रूप रासि जेहि ओर सुभाय निहारइ ।
> नीलकमल सर-श्रेनि मयन जनु डारइ ।। जा०मं० ।६२

पुष्प बाणों का संधान मात्र एक कल्पना है, कोई वास्तविक प्रक्रिया नहीं । यह कविप्रसिद्धि कामभावना के संचरण की एक आन्तरिक प्रक्रिया मात्र है जिसकी तीव्र व्यंजना के लिए कविजन उसमें शरसंधान की बाह्य क्रिया को आरोपित कर देते हैं ।

४. काम और बसन्त की मित्रता –

काव्य में बसन्त को काम का सखा माना गया है । काम का उद्देश्य जड़ चेतन में मादक भावना को उत्पन्न करना है । मधुमास उसके इस कार्य में सहयोग

---

१. सूल कुलिस असि अंगवनिहारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे ।।
रा०२।२५

२. दिवाकर मणि त्रिपाठी-कविपरिपाटी, पृष्ठ -१७३

देता है । दोनों के इस पारस्परिक दाक्षिण्य को लक्ष्य करते हुए कवियों ने दोनों के बीच सौख्य स्थापित किया है ।

एक कवि होने के कारण तुलसी ने भी दोनों की इस मित्रता को स्वीकार किया है । इस बात को व्यक्त करने वाले अनेक उद्धरण तुलसी की रचनाओं से ढूँढ़े जा सकते हैं । इस प्रकार के जितने कथन तुलसी-साहित्य में मिलते हैं उनको दृष्टि में रखते हुए इस सौख्य की विवेचना दो रूपों में की जा सकती है --१. क्रियाशील सहायक के रूप में बसन्त । २. सादृश्यसूचक उपादान के रूप में बसन्त ।

१. क्रियाशील सहायक के रूप में बसन्त :-- बसन्त काम का क्रियाशील सहायक है । संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने कथाओं में यह मोटिफ बहुत अपनाया है कि कठोर तपस्या में रत देवता, ऋषि, या मुनियों की समाधि भंग करने के लिए काम अपने मित्र बसन्त की सहायता लेता है । ऐसे स्थलों पर बसन्त काम की सहायता सक्रिय होकर करता है ।

मानस में तीन स्थलों पर बसन्त ने काम की सहायता की है - (क) नारद मोह प्रसंग में (ख) शिव-समाधि प्रसंग में (ग) काम-अनीक रूपक-प्रसंग में ।

काम नारद की तपस्या भंग करने के लिए माया पूर्वक बसन्त की रचना करता है ।[१] दूसरे प्रसंग में काम शिव की समाधि भंग करने हेतु चेष्टाशील है । दुराधर्ष शंकर पर विजय पाने के लिए सहयोग की अपेक्षा से वह ऋतुराज (वसन्त) का आवाहन करता है ।[२] तीसरे प्रसंग में विरही राम पर विजय पाने हेतु काम ने जो सेना तैयार की है, उसमें वासन्ती प्रकृति के ही अनेक उपादानों की बहुलता है । तुलसी ने इस प्रसंग में बसन्त के सभी अंगों का सन्निवेश किया है ।[3]

----

१. तेहि आश्रमहिं मदनजब गयऊ । निज माया बसन्त निरमयऊ ।। रा० १।१२६

२. रुद्रहिं देखि मदन भय माना । दुराधरष दुर्गम भगवाना ।।

प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा । कुसुमित नव तरु राजि बिराजा ।।

रा० । १।८६

3 रा० 3।38

काम का मादक प्रभाव प्राणियों में बसन्त की सहायता से अधिक सुगमता से संचरित होता है । इसीलिए वह अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए बसन्त को अग्रदूत बनाता है । तुलसी ने काम की सहायता में उसके सखा बसन्त को स्थान-स्थान पर बहुत प्रभावशाली सिद्ध किया है । मानस के अरण्यकाण्ड में राम अपने अनुज लक्ष्मण से कह उठते हैं कि हे तात ! देखो, सुहावने बसन्त ने मुझ प्रियाहीन को भयभीत कर दिया है । इसने मुझे विरह विकल, निर्बल तथा नितान्त एकाकी समझकर वनों, भ्रमरों तथा पक्षियों आदि को लेकर मुझ पर धावा बोल दिया है –

देखहु तात बसन्तु सुहावा । प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ।।
बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल ।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल ।। रा० ३।३७

बसन्त के सहयोग से काम का इतना व्यापक प्रभाव दिखाया गया है कि जड़ प्रकृति में भी कामाभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, लताओं को देखकर तरुवर झुक जाते हैं, सरिता उमंगवश सागर की ओर दौड़ जाती है ।[१] इतना ही नहीं, मरे हुए मन में भी मनोभव जागृत हो जाता है ।[२]

२. सादृश्यसूचक उपादान के रूप में बसन्त – इसमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों के माध्यम से काम और बसन्त का नैकट्य स्थापित किया गया है । तुलसी ने राम को काम से उपमित करते हुए अनेक बार अनुगामी लक्ष्मण को बसन्त से उपमित किया है । कुछ उद्धरण प्रस्तुत है --

(क) सोह मदनु मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत ।।रा० २।१३३
(ख) मानहुं रति रितुनाथ सहित मुनिबेष बनाए हैं मैन । गी०।२।२४

(५) काम का मदन पाश – यह प्रसिद्धि है कि काम एक पाश रखता है जिसके द्वारा

---

१. सबके हृदय मदन अभिलाषा । लता निहारि नवहिं तरुसाखा ।।
नदी उमगि अम्बुधि कहुंधाई । संगम करहिं तलाव तलाई ।। रा० १।८५

२. जागे मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न परै कही ।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही ।। रा०।१।८६

वह अकाम प्राणियों को वशीभूत करता है । कायारहित एवं अदृष्ट व्यक्तित्व का यह कर्तृत्व भी आश्चर्यजनक है । कवि लोग इस असत् निबन्धन से काम भावना के दुर्निवार प्रभाव का सफलता से बोध कराते हैं । एक अन्तरंग व्यापार को इस प्रसिद्धि का आधार लेकर बहिरंग रूप देते हैं ।

तुलसी ने भी कहीं-कहीं उत्प्रेक्षा-विधान के लिए इस मदनपाश को ग्रहण किया है । उन्होंने इसे कहीं `मनोभव फंद` और कहीं `कामफंद` कहा है --

(क) रचे रुचिर बर बंदनिवारे । मनहुं मनोभव फंद संवारे ।। रा० ।१।२८६

(ख) लसत ललित कर कमल माल पहिरावत ।
कामफंद जनु चंदहि बनज फंदावत ।। जा०मं० ।१२२

शिव --शिव से सम्बन्धित तीन कविसमय उल्लेखनीय है --

१. शिव के ललाट पर स्थित चन्द्रमा को सदैव बालचन्द्र (द्वितीया का चन्द्रमा) ही कहा जाता है ।
२. शिव को चन्द्रमौलि तो कहा जाता है किन्तु गंगामौलि नहीं कहा जात
३. शिव को शूली (शूल धारण करने वाले) तो कहा जाता है किन्तु सर्पी (सर्प धारण करने वाले) नहीं कहा जाता है ।

(१) शिव ललाटस्थबालचन्द्र --कवि समयानुसार शंकर के शीश पर विराजमान चन्द्र को चिरकालीन होने पर भी बालचन्द्र ही कहा जाता है । तुलसी की रचनाओं में इसके पोषक उद्धरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं --

(क) भाले बालबिधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
--रा०२।मंगलाचरण-१

(ख) लसद्भालबालेन्दु कण्ठे भुजंगा । रा० । ७।१०८

(ग) `दोष दलनु` मुनि कहेउ बालबिधुभूषनु ।। पा०मं०।२१

(घ) बाल शशि-भाल,सुविशाल लोचन-कमल
काम-शत कोटि-लावण्य धामं ।। वि०प० । १०

उपर्युक्त पंक्तियों में बालचन्द्र को ही,बालविधु, बालेन्दु, तथा बालशशि कहा गया है ।

(२) शिव के चन्द्रमौलि एवं गंगा मौलि नामों का विधि-निषेध --

कवि प्रसिद्धि के अनुसार शिव को चन्द्रमौलि तो कहना ठीक है पर गंगामौलि कहना निषिद्ध । यह एक मिथक है कि शिव के शीश पर चन्द्रमा भी हैं और गंगा भी है । शीश के ऊपर चन्द्रमा होने से जब उन्हें चन्द्रमौलि कहा जाता है तो शीश पर गंगा होने से उन्हें गंगामौलि भी कहा जाना चाहिए । किन्तु कवि वृन्द उन्हें चन्द्रमौलि ही कहते हैं गंगामौलि नहीं । यह मान्यता कवि समय के कारण है । एक विशेषण से संज्ञा का निर्माण होता है दूसरे से नहीं ।

तुलसी ने कहीं इस कवि समय का उल्लंघन नहीं किया है । अनेकबार उन्होंने शिव के शीश पर चन्द्रमा और गंगा के होने की पुष्टि की है । दोनों मिथकों की प्रमाणभूत पंक्तियां द्रष्टव्य हैं --

(क) शिव के शीश पर चन्द्रमा -

१. तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू । उर धरि चन्द्र मौलि वृषकेतू ।।
रा०१।६४

२. बहुवेष पेषन पेम पन ब्रतनेम ससिसेखर गए ।
मनसहि समरपेउ आपु गिरिजहि,बचन मृदु बोलत भए ।।
पा०मं०।४५

(ख) शिव के शीश पर गंगा --

१. ससि ललाट सुंदर सिर गंगा । नयन तीनि उपबीत भुजंगा ।।
रा० १।९२

(७) २. स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गंगा ।
लसद्भाल बालेन्दु कण्ठेभुजंगा ।। रा०७।१०८

३. भ्राज बिबुधापगा-आप पावन परम
मौलिमालेव शोभाविचित्रं । वि०प० ११

पहले मिथक में विशेषण के द्वारा बनी हुई संज्ञा चन्द्रमौलि, शशिशेखर को ग्रहण किया गया है, पर सम्पूर्ण तुलसी-साहित्य में दूसरे मिथक के आधार पर विशे-

षण से संज्ञा का निर्माण कहीं नहीं मिलता । रचना की दृष्टि से इस मान्यता का औचित्य क्या है ? यह एक विचारणीय विषय है । कवियों की प्रत्येक धारणा दोषापहारी एवं गुणग्राही होती है । शिव के शीश पर जैसी स्थिति चन्द्रमा की है, ठीक वैसी ही स्थिति गंगा की नहीं । शिव के शीश पर स्थित चन्द्रमा में एक स्थिरता है जिसका वाहिनी और तरंगवती होने के कारण गंगा में अभाव है । गंगा शिव के शीश पर ही स्थिर नहीं रहती बल्कि उनके वक्ष से प्रवाहित होते हुए नीचे तक आती है । कवि ने वक्ष पर सुशोभित हार का सादृश्य विधान शिव शीश पर प्रवाहित होने वाली गंगा से दिया है ।[१] इससे शिव के शीश पर चन्द्रमा की अपेक्षा गंगा की स्थिति का सूक्ष्म भेद स्पष्ट है । गंगा मात्र शिव के ललाट पर नहीं, बल्कि वक्ष पर भी हैं तथा उनका प्रवाह नीचे भूलोक तक है । उनका उद्गम विष्णु के चरण से है । कहने का तात्पर्य यह कि चन्द्रमा की तरह गंगा शंकर के शीश पर केन्द्रित नहीं है । सम्भवत: इसीलिए कवि शिव को गंगामौलि नहीं कहते ।

३. शिव के शूली और सर्पी अभिधानों का विधि-निषेध —

इस कविसमय की अवधारणा बहुत बाद में की गई । दिवाकर मणि त्रिपाठी ने लिखा है - 'शिव को शूल धारण करने के कारण शूली तो कहते हैं लेकिन सर्प धारण करने के कारण सर्पी नहीं कहते ।'[२] शिव के लिए 'शूली' शब्द का प्रयोग विधि है फिर भी इसका प्रयोग कम ही मिलता है । प्राय: इसी का समानार्थी 'शूलपाणि' शब्द शिव के लिए व्यवहृत होता है । सर्पी का प्रयोग निषिद्ध है और इसका अपवाद भी आसानी से नहीं मिलता ।

शिवस्तोत्रों में शिव को बार-बार शूलपाणि कहा गया है ।[3] विद्यापतिने

---

१. नलिन नयन, सिर जटा मुकुट बिच

' - ~~मन~~

सुमनमाल मनु सिव-सिर गंग । गी०।३।४

२. दिवाकर मणि त्रिपाठी-कविपरिपाटी- पृष्ठ १७४

३. पाशाङ्कुशा भयवर प्रदशूलपाणिम् । विश्वनाथाष्टकम् । ३

भी अपनी कविता में उन्हें 'सुलपानी' कहा है ।[१] तुलसी ने स्तोत्रों की शब्दावली में उन्हें 'शूलपाणि' तथा लोकभाषा में 'सूलपानी' कहा है -

क. त्रय:शूल निर्मूलनं शूलपाणिम् । रा०।७।१०८

ख. राग पदपद्म मकरन्द मधुकर पाहि
दास तुलसीसरन सूलपानी ।। वि०प० । २६

यह तो विधि का पालन हुआ । यदि सर्वत्र निषेध का भी पालन हो तभी तुलसी को इस कविसमय को मानने वाला कहा जा सकता है । उन्होंने बहुत सीमा तक इस प्रसिद्धि के अनुकूल ही आचरण किया है । 'सर्पी' शब्द का प्रयोग तुलसी-साहित्य में नहीं हुआ है । इतना होते हुए भी मानस में एक स्थान पर यह कविसमय विघ्नित हो गया है । यहाँ शिव के लिए 'सर्पी' का ही समानार्थी 'व्याली' शब्द प्रयुक्त है -

निर्गुण निलज कुबेष कपाली । अकुल अगेह दिगम्बर व्याली ।। रा० ।१।७६

'व्याली' शब्द का प्रयोग सर्पिणी के लिए भी होता है, इसलिए इस शब्द का व्यवहार कुछ भ्रम में डालने वाला हो भी सकता है किन्तु 'सर्पी' और 'सर्पिणी' शब्दों के व्यवहार में ऐसी आशंका भी नहीं है । फिर काव्य की दृष्टि से इस कवि समय का वैशिष्ट्य क्या है, समझ में नहीं आता । यह संयोग ही है कि 'सर्पी' शब्द का व्यवहार प्रचलित नहीं हुआ, कदाचित् इसीलिए बाद में इसका निषेध कविसमय मान लिया गया ।

लक्ष्मी - डॉ० विष्णुस्वरूप ने लक्ष्मी से सम्बद्ध दो कवि प्रसिद्धियों का उल्लेख किया है[२] ।

क. लक्ष्मी का निवास पद्म में है ।

ख. सम्पद से उनका अभेद है ।

---

१. असरन सरन चरन सिर नाओल दयाकए दिअ सुलपानी ।।
विद्यापति-विद्यापति पदावली । ६

२. डॉ० विष्णुस्वरूप-कविसमय-मीमांसा, पृष्ठ २२०

प्रथम की स्थिति धर्म-ग्रन्थों एवं पुराणों में मिल जाती है । यह अशास्त्रीय नहीं है, अस्तु इसे कवि समय नहीं मानना चाहिए । वास्तव में दूसरा कथन ही कवि समय है, जिसमें लक्ष्मी में वैभव अथवा सम्पत्ति का आरोप किया जाता है और रचना में लक्ष्मी और सम्पत्ति का अभेदार्थ ग्रहण किया जाता है राजशेखर ने भी इसे ही कविसमय माना है ।[१]

सम्पत्ति के अर्थ में 'लक्ष्मी' का प्रयोग करके तुलसी ने भी इस कवि समय के अनुरूप कार्य किया है -

१. मायाब्रह्म जीव जगदीसा । लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ।। रा० ।१।६

२. रामलषन कौसिक सहित सुमिरहु करहु पयान ।
   लच्छि लाभ लै जगत जसु मंगल सगुन प्रमान ।। दो० ४६३

इन दोनों उदाहरणों में 'लच्छि' (लक्ष्मी) का प्रयोग सम्पदा के अर्थ में हुआ है । डॉ० विष्णुस्वरूप ने लक्ष्मी और सम्पद् में अभेदार्थ स्थापन की कवि सामयिक मान्यता का कारण लक्ष्मी का चौदह रत्नों में से एक होना बताया है । उनके अनुसार रत्न सम्पत्ति और वैभत्व के प्रतीक हैं, अतएव लक्ष्मीका प्रयोग सम्पत्ति के लिए रूढ़ है ।[२] इस बात में सत्य का कुछ अंश भले हो, पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि अन्य १३ रत्न भी समुद्र से निकले थे, वे सभी सम्पत्ति के समानार्थी नहीं है

शक्ति, सम्पदा और बुद्धि तीनों प्राणि मात्र की अनिवार्यताएं हैं जिन्हें प्राचीन ग्रन्थों में क्रमश: उमा, रमा (लक्ष्मी) और सरस्वती से सम्बद्ध बताया गया है । इन तीनों देवियों के विविध पर्याय हैं । दुर्गा और पार्वती शक्ति का नाम है, वाणी, शारदा, भारती, ब्रह्माणी, वाग्देवी आदि सरस्वती के नाम हैं, तथा श्री, रमा, लक्ष्मी के नाम है । ये देवियां शक्ति, बुद्धि और वैभव प्रदायिनी हैं । इन तीनों देवियों के इन्हीं देय तत्वों की तीव्र व्यंजना के निमित्त साहित्य

---

१. काव्य मीमांसा (अध्याय १६), पृ० २५८

२. डॉ० विष्णुस्वरूप - कविसमय-मीमांसा, पृष्ठ २२२

में इनके नामों से इन तत्त्वों का ही भाव ग्रहण किया जाने लगा है, जैसे सरस्वती का व्यवहार बुद्धि और विद्या के अर्थ में भी होता है उसी प्रकार लक्ष्मी का प्रयोग भी सम्पदा के अर्थ में होता है । इस कवि प्रसिद्धि का यही आशय है ।

.) दानवों से सम्बद्ध कवि समय -- दानवों से सम्बद्ध मात्र एक कविसमय की सूचना विभिन्न विवेचनाग्रन्थों से मिलती है --वह है दैत्य, दानव और असुर में अभेद ।

प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त कथाओं के अनुसार कश्यप की दो पत्नियाँ, दिति और दनु के पुत्र दैत्य और दानव हुए । 'असुर' शब्द का प्रयोग वैदिक काल और वैदोत्तरकाल में भिन्न भिन्न अर्थों में हुआ । वैदोत्तर युग में तथा लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों में असुर आसुरी (अधम) वृत्तियों का अनुगमन करने वालों को ही कहा गया । इस तरह कथा और कृत्य दोनों दृष्टियों से दैत्य, दानव और असुर भिन्न-भिन्न हैं ।

काव्य में इन तीनों शब्दों के सूक्ष्म अर्थभेद को लक्ष्य न करते हुए उनमें अभेदार्थ का आरोपण किया जाता है । इसके फलस्वरूप एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग प्राय: निस्संकोच कर दिया जाता है । राजशेखर ने इस कविसमय की सोदाहरण चर्चा इन शब्दों में की है --

'दैत्यदानवासुराणा मैक्यम् यथा तत्र हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु प्रह्लाद विरोचन बलि बाणादयो दैत्या:, विप्रचित्तिशम्बरनमुचिपुलोम प्रभृतयो दानवा:, बलवृत्रविक्षुरस्त, वृषपर्वादया: असुरा: ।'[१]

तुलसी की रचनाओं में इस कविसमय के उदाहरण बहुत स्वल्प ही हैं । पूर्ण उद्धरण के रूप में मानस के उस वृत्तान्त का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें तारक को असुर और दनुज दोनों एक ही प्रसंग में कहा गया --

तारक असुर भयउ तेहि काला । भुज प्रताप बलतेज बिसाला ।।

सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुज निधन तब होइ । रा०।१।८२

----

१. काव्यमीमांसा (अध्याय १६) पृ० २५६

हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष को तुलसी ने दैत्य न कहकर असुर कहा है ।[१] रामावतार का कारण बताते हुए जन्मान्तर में इन्हीं दोनों असुरों को निशाचर रावण और कुम्भकर्ण बताया गया है । राम ने जिन-जिन राक्षसों का संहार किया, उनके लिए मानस में प्राय: `निसिचर` या `निसाचर` शब्द का प्रयोग हुआ है ।[२] सौ से भी अधिक बार इस शब्द का प्रयोग मानस में हुआ होगा । कवितावलीक्ती में इन्हीं राक्षसों को बहुधा `रजनीचर` कहा गया है ।[३] यह रजनी शब्द से बना है जो निशा का पर्याय है । मानस में लंका के राक्षसों को निशाचर या रजनीचर ही अधिक कहा गया है । दो एक स्थलों पर उन्हीं को असुर भी कहा गया है । मानस के राक्षस और राक्षसी, कवितावली में जातुधान और जातुधानी कहे गए हैं ।[४] इस सम्पूर्ण विवेचन में रचनात्मकता के दो आयाम स्पष्ट होते हैं --

१. प्रथम उन शब्दों का समानार्थी प्रयोग जिनका विशेष एवं भिन्न-भिन्न अर्थ पुराण इतिहासादि धर्मग्रन्थों से प्रमाणित है जैसे दैत्य, असुर और दानव आदि जातीय संज्ञाओं का परस्पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग । यह शास्त्र सम्मत अर्थ का अतिक्रमण कर उन सभी शब्दों की सीमित अर्थवत्ता को विस्तार देता है । उनमें अभेद स्थापित करता है । इसमें किंचित् असमान अर्थ वाले अनेक शब्दों का घुलमिल कर एक हो जाता है ।

२. दूसरा उन शब्दों का पर्यायगत अर्थसाम्य जो कि शास्त्र ग्रन्थों में भी भिन्न अर्थ वाचक नहीं माने जाते, और जिनकी अर्थगत समानता कवि ने भाषा से प्राप्त की है जैसे राक्षस, निशाचर, रजनीचर, जातुधान आदि ।

----

१. बिप्र स्राप ते दूनौ भाई । तामस असुर देह तिन्ह पाई ।
कनक कसिपु अरु हाटक लोचन । जगत बिदित सुरपति मदमोचन ।।
रा० ।१।१२२

२. निसिचर हीन करउं महि भुज उठाइ पन कीन्ह । रा०।३।६
धाए निसिचर निकर बरूथा । जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा ।।रा० १।१८
कलस सहित गहि भवन,ढहावा । देखि निसाचर पति मन भावा ।। रा०।६।४४

३. द्रष्टव्य,रा०६।१३, क० ६।२६, क०।६।३७,क० ६।४४ आदि ।

४. देखैजातुधान जातुधानी अकुलानीकहैं`कानन उजार्यौअबनगरप्रजारी है ।।क०५।५

विवेच्य कविसमय प्रथम से ही सम्बन्धित है । यद्यपि ये दोनों ही अर्थ-साम्य के लक्षण हैं किन्तु प्रथम में अर्थसाम्य रचना के सहज वेग के कारण है जबकि द्वितीय में पर्याय होने के कारण ।

) मनुष्यों से सम्बद्ध कवि समय -- मानव जाति के सम्बन्ध में भी कुछ कविसमयों की परम्परा काव्य में मिलती है । इनका परिपालन यद्यपि सर्वत्र बहुत दृढ़तापूर्वक नहीं किया गया है तथापि वे उल्लेखनीय अवश्य हैं ।

मनुष्यों से सम्बद्ध कुछ कवि समय इस प्रकार है --

१. काव्य में मानव जातीय नायिका का वर्णन नायक से पूर्व होता है । नायक का वर्णन नायिका के पश्चात् होता है ।
२. मानव के रूप वर्णन में शिख-नख का क्रम होता है ।
३. युवा-युवतियों के वक्ष पर हार का वर्णन होता है ।
४. वियोग संताप से युवा-युवतियों का हृदय फटना कहा जाता है ।
५. स्त्रियों की रोमावली और त्रिवली का उनके अभाव में भी वर्णन होता है ।
६. स्त्रियों को श्यामवर्णी नहीं कहा जाता ।
७. रण में मृत व्यक्ति का सूर्यमण्डल को भेदना कहा जाता है ।

तुलसी ने इनमें से कुछ का पालन कुछ निश्चित सीमा तक किया है जिसका विवेचन यहाँ किया जा रहा है ।

१. नायिका-नायक क्रम से वर्णन - इस सम्बन्ध में कवियों ने बड़ी स्वच्छन्द वृत्ति से काम लिया है और इस कविसमय का उल्लंघन भी काव्य में बहुत हुआ है । सीता और राम तुलसी-साहित्य के नायिका और नायक हैं । इन दोनों के रूप का वर्णन तुलसी के काव्य में दो तरह से हुआ है । एक प्रकार तो वह है जिसमें दोनों के रूप का वर्णन अलग-अलग प्रसंगों में है और दूसरा प्रकार वह है जिसमें दोनों की रूप-शोभा का संयुक्त वर्णन है, जैसे विवाहादि के प्रसंग में । राम, काव्य में पहले आते हैं, इसलिए उनके रूप का वर्णन मानस, गीतावली और कवितावली में सीता के पूर्व ही कई बार हुआ है । सीता की चर्चा बाद में आती है, इसलिए स्वाभाविक था कि उनका वर्णन राम के बाद होता । संयुक्तवर्णन में राम और सीता दोनों की

सम्मिलित शोभा का वर्णन है । मानस और गीतावली के राम-सीता विवाह प्रसंग इसके उदाहरण हैं । मानस, गीतावली तथा कवितावली में अयोध्याकाण्ड के आरम्भ में वन को जाते हुए राम, सीता और लक्ष्मण तीनों की शोभा का अंकन संयुक्त रूप से ही हुआ है । ऐसे वर्णन में पूर्व-पश्चात् का कोई संगत आधार नहीं प्रस्तुत किया जा सकता । इससे यही कहा जा सकता है कि नायिका-नायक क्रम से वर्णन की कविप्रसिद्धि का निर्वाह तुलसी की बड़ी रचनाओं में तो नहीं ही हो सका है । छोटी रचनाओं में इस कविसमय का निर्वाह अवश्य हुआ है । उल्लेखनीय है कि बरवै रामायण और जानकी-मंगल में सीता के सौन्दर्य की चर्चा राम से पूर्व हुई है ।

२. काव्य में मनुष्य पात्रों का शिख-नख वर्णन -इस कवि समय का भी पालन काव्य में बहुत दृढ़ता से नहीं किया गया । नायिकाओं का तो प्राय: नख-शिख वर्णन ही अधिक किया गया है । शरीर के ऊर्ध्वभाग से रूपवर्णन करने की इस प्रसिद्धि का मूल प्रयोजन यह है कि उर्ध्वभाग का सौन्दर्य ही प्रधान होता है ।

तुलसी ने राम के रूप-वर्णन में शिख से नख की ओर चलने का कोई सुनिश्चित क्रम तो नहीं अपनाया है फिर भी मानस, गीतावली और कवितावली में जहां-जहां उनके रूप का वर्णन हुआ है, सर्वत्र शरीर के उर्ध्वभाग को ही प्रधानता दी गई है । मानस में मात्र एक स्थान पर नख-शिख क्रम से राम के रूप का वर्णन मिलता है ।[१] अन्यत्र जहां जहां उनके रूप का वर्णन मानस में है उसमें शरीर के ऊपरी भाग का वर्णन ही प्रधान है और वही पहले हुआ है । गीतावली में एक-दो स्थानों पर नख-शिख क्रम से राम का रूपांकन मिलता है,[२] किन्तु बहुधा इस रचना में भी शरीर के ऊपरी भाग को ही प्रधानता मिली है । कहीं-कहीं तो यह कहकर कि राम नख से शिख तक सुन्दर हैं, जो वर्णन किया गया है वह शरीर के ऊपरी भाग से ही आरम्भ होता है ।[३] कवितावली में भी कहीं तो राम का

---

१. रा० १।१४७

२. गी० ।१।५४, गी० । १।०१०६

३. गी०।१।५१, गी०।१।७५ तथा गी०।२।३०, गी०।१।४५

रूपवर्णन नख-शिख क्रम से है[१] और कहीं मात्र ऊपरी भाग का ही वर्णन है ।[२] इससे यही कहा जा सकता है कि इस प्रसिद्धि को अपनाने का कोई विशेष आग्रह तुलसी में नहीं था । सीता के अंग प्रत्यंग का वर्णन तो नगण्य ही है । मात्र एक स्थान पर मानस में अरण्यकाण्ड के अन्तर्गत सीताहरण के पश्चात् राम के विलाप के माध्यम से सीता के आंगिक सौन्दर्य का आभास कराया गया है और उसमें शरीर के उर्ध्व भाग का वर्णन प्रधान है ।

३. युवा-युवतियों के वक्ष पर हार -- युवा-युवतियों के वक्ष पर हार उनके सौन्दर्य और सौकुमार्य को बढ़ाने वाला एक अलंकरण है । प्राचीन काल में माला पहनना लोकरुचि का विषय ता । आधुनिक युग में भी मांगलिक अवसरों पर माला पहनने की प्रथा है । कविसमय के आग्रह से युवा-युवतियों के वक्ष पर हार का वर्णन करना नियम निबन्धन माना जायगा । काव्य में इस कवि समय का अनुसरण तो पर्याप्त मात्रा में हुआ है किन्तु अपवाद भी बहुत मिलते हैं । इसलिए यही मानना चाहिए कि इसे भी काव्य में दृढ़ता से अपनाया नहीं गया है ।

तुलसी ने अनेक स्थानों पर राम,लक्ष्मण और सीता के वक्ष पर हार की शोभा का उल्लेख किया है --

क. सांवरे गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी सी
मुनिपट धारे, उर फूलनि के हार हैं । क०।२।१४

ख. चंपक हरवा गर मिलि अधिक सुहाइ ।
जानि परै सिय हियरे जब कुंभि लाइ ।। ब०रा०। ५

ग. कलित कंठ मनि-माल कलेवर
चंदन खौरि सुहाई । गी०।१।५०

---

१. क०। १।२

२. क०।१।१, क०।१।३, क०।१।५, क०।२।१६, क०।२।२१

वक्ष पर न केवल इन हारों को योजित किया गया है अपितु तुलसी ने स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार के हारों का भी उल्लेख किया है । इस प्रसंग मे उन्होंने सुमनमाल,[१] गजमनिमाल,[२] तुलसिका-माल,[३] मुक्तामणि-माल,[४] आदि की योजना अलग-अलग समय में की है । यद्यपि ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जिनमें राम, सीता और लक्ष्मण के वक्ष पर हार की शोभा का विधान हुआ है, तथापि ऐसे बहुत से स्थल हैं जहां इसका अभाव भी है ।

मनुष्यों से सम्बद्ध जो अन्य कविसमय हैं वे तुलसी-साहित्य के सन्दर्भ में बहुत उल्लेखनीय नहीं है । वियोग संताप से युवा-युवतियों का हृदय फटना एक लाक्षणिक कथन है जो तुलसी के काव्य में नहीं मिलता । नारियों के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का वर्णन तुलसी ने कहीं नहीं किया है इसलिए उनकी रोमावली और त्रिवली के वर्णन का प्रश्न नहीं उठता । स्त्रियों को उन्होंने कहीं भी श्याम-वर्णी नहीं कहा है । रण में मृत व्यक्ति का सूर्यमण्डल को भेदना भी तुलसी-साहित्य के किसी प्रसंग में नहीं कहा गया है ।

(४) प्रकृति से सम्बद्ध कवि समय --

प्रकृति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । प्रकृति की विविध वस्तुओं के सम्बन्ध में कवियों ने अपनी स्वतन्त्रमान्यताएं काव्य के लिए निर्धारित की हैं । इनमें से कई कवि समय की परिधि के अन्तर्गत आती है । प्रकृति से सम्बद्ध, कवि समयों का विवेचन अधोलिखित लघुशीर्षकों में सुविधापूर्वक किया जा सकता है।--

१. पक्षिवर्ग से सम्बन्धित कवि समय --भारतीय काव्य में अनेक पक्षियों के सम्बन्ध में एक या एकाधिक कविप्रसिद्धियां प्रचलित हैं । इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय जन भावना अपने देश के पक्षियों में भी मनुष्योचित विचारों का

१. नलिन नयन सिर जटा मुकुट बिच सुमन-माल मनुसिव सिर गंग । गी०।३।४
२. बिबिध कंकनहार उरसिगज मनिमाल । गी०७।६
३. कंबुकंठ उर बिसाल तुलसिका नवीन माल
मधुकर बर बास बिबस उपमा सुनु सौ री । गी०।७।७
४. उर मुकुता-मनिमाल मनोहर मनहुं हंस अवली उड़ि आवति । गी०७।१७

आरोपण करती रही है । इसी तथ्य को कवियों ने आधार माना और कुछ कवि प्रसिद्धियों की कल्पना कर डाली । जो पक्षी मुख्यत: कवि समय से सम्बद्ध हैं उसका नाम तथा उनके बारे में जो पायी जाने वाली कविप्रसिद्धियाँ हैं वे इस प्रकार हैं --

(क) चकोर -- चकोर के सम्बन्ध में ३ कवि प्रसिद्धियाँ पायी जाती हैं --

१. चकोर का सतत चन्द्र-दर्शन करते रहना ।
२. चकोर का चन्द्रिका-पान करना ।
३. चकोर का अंगारे खाना ।

तुलसी-साहित्य में प्रथम दो कवि प्रसिद्धियों का ही उल्लेख प्राप्त होता है ।

१. चकोर का सतत चन्द्र दर्शन -- कवि गण ऐसा मानते हैं कि चकोर चन्द्रमा को अपलक देखा करता है । प्राचीन कवियों ने अनेक स्थानों पर इस मान्यता को स्वीकार किया है । चकोर सम्बन्धी कवि समय की ओर तुलसी का झुकाव बहुत अधिक है । प्रस्तुत कवि समय के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं --

क. रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन-कुमुद चकोर चित, हित विशेष बड़ लाहु ।। दो० ।१६३

ख. संभु सरद राकेस नखतगन सुरगन ।
जन चकोर चहुं ओर बिराजहिं पुरजन ।। पा०मं० । १२७

ग. रघुबंस कैरवचंद चितइ चकोर जिमि लोचन ठगे । जा०मं० । ७२

छ. तदपि लोक-लोचन-चकोर-ससि राम भगत-सुखाईं । गी० । १।१३

इस प्रसिद्धि की मूलभावना यह है कि चकोर चन्द्रमा की छवि का दर्शन करके असीम आनन्द का अनुभव करता है । प्रेम की अनन्यता के लिए यह कवि समय मानक बन गया है । प्रेम व्यापार की उस स्थिति की अभिव्यंजना के लिए यह कवि समय बहुत उपादेय है जिसमें स्नेही के हृदय में अपने स्नेह पात्र को प्रतिक्षण दर्शन की अदम्य लालसा विद्यमान रहती है । तुलसी-साहित्य में आराध्य के प्रति आराधक का अनन्य प्रेम भी इस प्रसिद्धि के आधार पर व्यंजित किया गया है ।

(२) चकौर का चन्द्रिका-पान -- चकौर का एक टक चन्द्रमा कौ ताकते रहना ही उसके द्वारा चन्द्रिका-पान की कल्पना का मुख्य आधार है, जौ ऊपर दिए गए उद्धरणौं से ही स्पष्ट हो जाता है । उसी बात कौ और अधिक प्रभावशाली ढंग से कहने के लिए कवि यह कहते हैं कि चकौर चन्द्रमा की किरणौं कौ पीता रहता है । यह एक और रमणीय कविकल्पना है ।

तुलसी की रचनाओं में चकौर द्वारा चन्द्रिका पान के कई दृष्टान्त मिल जाते हैं --

(क) मनहुं चकौरी चारु बैठी निज-निज नीड़

चंद की किरन पीवैं पलकौ न लावतीं ।। क०।१।१३

(ख) नयन-चकौरनि मुख मयंक-छबि

सादर पान करावौंगी । गी०।२।६

(ग) रामकथा ससिकिरन समाना ।

संतचकौर करइ जेहि पाना ।। रा०।१।४७

रूप सौन्दर्य से आकृष्ट होकर अपने लौकिक चक्षुओं की वासना कौ तृप्त करना ही इस कवि समय के माध्यम से व्यंजित किया गया है, किन्तु कहीं-कहीं सौन्दर्य लाभ के अतिरिक्त सुखलाभ भी इससे व्यक्त किया गया है जैसे ऊपर प्रस्तुत किया गया तीसरा उद्धरण ।

चकौर की रूपलिप्सा कवियों के बड़े काम की है । इसका उपयोग कवियों ने भक्ति एवं शृंगार दोनों क्षेत्रों में प्रेम की तीव्रता और अनन्यता के अंकन के लिए किया गया है । तुलसी ने भी इसका अनेक विध उपयोग अपने काव्य में किया है । ये प्रयोग इतनी प्रचुर संख्या में हैं कि उनका सम्पूर्ण विवरण यहां कथमपि सम्भव नहीं । तुलसी ने न केवल चकौर के माध्यम से अपितु उसके पूरे कुटुम्ब जैसे चकौरी, चकौर-किशौर, चकौरकुमारी इत्यादि के भी माध्यम से अभीप्सित व्यंजनाएं की हैं । एक स्थान पर लक्ष्मण कौ चकौर किशौर [१] और अन्यत्र सीता कौ चकौर

----

१. रामहिं लखन बिलौकत कैसे ।ससिहि चकौर किसौरकु जैसे । रा०१।२६३

कुमारी[१] निरूपित किया गया है । अवस्था की सूक्ष्म दृष्टि के विचार से ये प्रयोग और भी सुन्दर बन पड़े हैं ।

(ख) चातक -- संस्कृत के ग्रन्थों में चातक से सम्बन्धित किसी वृत्त को कवि समय के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया गया है । डॉ० विष्णुस्वरूप ने पक्षिवर्ग की कवि-प्रसिद्धियों के अन्तर्गत चातक को भी स्थान दिया है ।[२] चातक के सम्बन्ध में कुछ अलौकिक और अशास्त्रीय वृत्तों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि उसे निस्संकोच कवि समय माना जाना चाहिए ।

यद्यपि चातक के बारे में एक ही कवि प्रसिद्धि है, फिर भी प्रयोगों में उसके दो रूप पाये जाते हैं --

१. चातक का उत्कट प्रेम बादल से होता है ।

२. चातक स्वाति की बूंद ही पीता है ।

१. चातक का बादल से प्रेम -- चातक को बादल से अतीव प्रेम होता है । प्रेम हृदय का सरस व्यापार है । कवि लोग घन और चातक के पारस्परिक स्नेह की प्रतिष्ठापना कर उसे रागात्मकता की व्यंजना का उपादान बनाते हैं । अपने आराध्य राम के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता को व्यक्त करने के लिए तुलसी ने इस कवि समय का अत्यधिक आश्रय ग्रहण किया है । दोहावली के चौंतीस दोहों में तुलसी ने स्वयं को चातक और राम को घन कहा है,[३] जो इस कवि समय के प्रति उनकी विशेष रुचि का प्रमाण है । इस प्रसंग को चातक-चौंतीसी कहा जाता है । अन्य रचनाओं में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं । कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं --

----

१. बिगत त्रास भइ सीय सुखारी । जनु बिधु उदय चकोर कुमारी ।।

रा० । १ । २८६

२. डॉ० विष्णुस्वरूप - कवि समय-मीमांसा, पृष्ठ १५०

३. दो० २७७-३१३

(क) लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ।। रा०२।१२८

(ख) ए सेवक संतत अनन्य अति

ज्यों चातकहि एक गति घन की । गी०।२।७१

(ग) तुलसी-चातक आस राम-स्याम-घन की ।। वि०प० । ७५

२. चातक स्वातिघन की बूंद ही पीता है --घन से चातक का स्नेह जहाँ उत्कट प्रेम का द्योतक है वहाँ चातक का स्वाति नक्षत्र के घन की ही बूंद पीना उसकी स्नेहगत एकनिष्ठता का प्रतीक है । काव्यों में इस अर्थ का निबन्धन प्रचलित है कि चातक स्वातिघन से प्राप्त बूंद ही पीता है । इसके अतिरिक्त कठिन से कठिन पिपासा, में भी अन्य किसी प्रकार का जल ग्रहण करना उसे स्वीकार नहीं । तुलसी ने तो यहाँ तक लिखा है कि अपने अनन्य प्रेम की धुन में चातक बधिक द्वारा मारेजाने पर जब गंगा के पुण्यजल में गिरता है तो तत्काल अपनी चोंच इसलिए ऊपर उठा लेता है कि कहीं गंगाजल की बूंद उसके कंठ में उतर न जाय । उसे स्वातिघन का जल ही पीना स्वीकार है अन्य किसी प्रकार का जल नहीं । अपने एकनिष्ठ प्रेम के आगे वह मोक्ष की भी अवहेलना कर देता है ।

इस कवि समय का निबन्धन तुलसी ने ८-१० स्थानों पर किया है । तीन उद्धरण प्रस्तुत हैं --

(क) सीय सुखहिं बरनिअ केहि भांती । जनु चातकी पाइ जलु स्वाती ।।

रा० १।२६३

(ख) जिमि चातक चातकि त्रिषित वृष्टि सरद ऋतु स्वाति । रा०।२।५२

(ग) चातक तुलसी के मते स्वातिहु पिये न पानि ।

प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटे घटैगी आनि ।। दो० । २७६

इसके अतिरिक्त चातक के इसी एकनिष्ठ प्रेम को विविध स्थितियों में रखकर कवियों ने विविध भावों का अंकन किया है । स्वातिघन से ही जल की याचना करना प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में एक आदर्श है जो अनुकरणीय है । तुलसी कहते हैं कि मन ! तू राम का दास बन कर चातक की भांति धैर्य धारण कर ।[१]

---

१. तुलसी अब राम को दास कहाइ हिये धरु चातक की करनी । क० ।७।३२

चातक की तरह हठ पूर्वक जो भगवान का भजन करे वही सयाना है ।[१] प्रेम के सम्मान की रक्षा करने वालों में चातक प्रसिद्ध है ।[२] चातक और मीन जगत में अपने नियम और प्रेम के लिए निपुण माने जाते हैं ।[३]

इस कवि प्रसिद्धि के बल पर प्रेम की अनन्यता और एकनिष्ठता के न जाने कितने रूप चित्रित किए गए हैं । काव्य में एतत्सम्बन्धी उपमानों, अप्रस्तुतों एवं अन्य उपादानों का विस्तार मिलता है जिसे देखकर इस प्रसिद्धि की रचनात्मकता का पता चलता है । भक्त की अनन्य रति जब अपने आराध्य के प्रति चातक की तरह होती है तब उसे चातकी भक्ति कहते हैं । तुलसी का राम के प्रति प्रेम इसी कोटि, का है और उसकी अभिव्यंजना के लिए उन्होंने चातक सम्बन्धी कवि समय का इतना प्रचुर अवलम्ब ग्रहण किया है कि उनकी चातकी भक्ति भली भाँति स्पष्ट हो गई है ।

(ग) चक्रवाक – चक्रवाक युग्म (चकवा-चकई अथवा कोक-कोकी) के सम्बन्ध में दो कविप्रसिद्धियाँ काव्य में व्यवहृत होती हैं --

(१) चक्रवाक युग्म का निशा वियोग ।

(२) चक्रवाक का सूर्य और दिवस से प्रेम ।

दूसरी प्रसिद्धि प्रथम पर ही आधारित है । चूँकि रात्रि में चक्रवाक और चक्रवाकी दोनों को वियोग की व्यथा झेलनी पड़ती है इसलिए रात्रि के आगमन से उनको दु:ख होता है । दिवस में उनके संयोग की सम्भावना रहती है इसलिए दिवस और सूर्य दोनों से उन्हें प्रेम है । इस कवि समय को कवियों ने आधुनिक काल में भी अपनाया है ।

---

१. जो भजि भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै ।

क० । ७।३३

२. तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम ।

बक्र बूंद लखि स्वातिहु निदरि निबाहत नेम ।। दो० । २८६

३. जग जस भाजन चातक मीना । नेम प्रेम निज निपुन नबीना ।। रा० ।२।२३४

(१) चक्रवाक का निशा-वियोग - तुलसी ने इस कवि समय का व्यवहार जहाँ-जहाँ किया है वहाँ प्राय: स्पष्ट रूप से यह न कहकर कि रात्रि में चक्रवाक युग्म का विछोह हो जाता है, यह माना है कि रात्रि का आगमन चक्रवाक के लिए कष्टकर होता है --

(क) सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे ।।

रा० २।६४

(ख) सिख सीतल हित मधुर मृदु सुनि सीतहि न सोहानि ।
सरद चंद चँदिनि लगति जिमि चकई अकुलानि ।।

रा० ।२।७८

(ग) राम दरस हित नेम ब्रत लगे करन नर नारि ।
मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि ।। रा० २।८६

इन तीनों उद्धरणों में से दो में सीता की मनोव्यथा और एक में अयोध्या के नर नारियों के कष्ट की कथा की व्यंजना करने के लिए इस कविप्रसिद्धि का आश्रयण किया है । तीनों में यह प्रसिद्धि अप्रस्तुत विधान बनी हुई है ।

(२) चक्रवाक का सूर्य और दिवस से प्रेम -- दिवस में चक्रवाक संयोग-दशा में रहता है अस्तु दिवस उसे प्रिय है । सूर्योदय ही दिवसागमन का कारण है इसलिए सूर्य भी उसे प्रिय है । दु:ख के अनन्तर आने वाले आनन्ददायी क्षणों की व्यंजना के लिए काव्य में इस प्रसिद्धि का व्यवहार बहुत प्रचलित है । तुलसी की रचनाओं से ऐसी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं -

(क) भए बिसोक कोक मुनि देवा । बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा ।।

रा० १।२५५

(ख) छिन छिन प्रभु पद कमल बिलोकी । रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ।।

(ग) करत बिसोक लोककोकनद कोक-कपि
कहै जामवंत आयो आयो हनुमान सों । क०।५।२८

(घ) सभा सखर लोक-कोकनद-कोकगन प्रमुदित
मन देखि दिनमनि भोर है । गी०। १।७१

किसी विशेष व्यक्ति या वस्तु के दर्शन से लब्ध सुखानुभूति को प्रकट करने के लिए कवियों ने एक स्वर से इस कवि समय को अपनाया है । निशा दु:खदायी होने के कारण निशाकर (चन्द्रमा)को कोक का बैरी कहा गया है ।[१] तुलसी ने यह भी कहा है कि वर्षा ऋतु में चक्रवाक अदृश्य हो जाते हैं ।[२] सादृश्य के अतिरिक्त कुछ विशुद्ध प्रकृति के चित्रकार कवियों ने चक्रवाक विषयक प्रसिद्धि का स्पष्ट कथन भी किया है जैसे सेनापति ने शीतकाल के छोटे दिन का बोध इस प्रसिद्धि के माध्यम से बड़ी सफलता से कराया है ।[३]

ख) हंस — हंस से सम्बधित ४ कवि प्रसिद्धियां हैं —

१. हंस वर्षाकाल में मानसरोवर चले जाते हैं ।

२. हंस जलाशय मात्र में पाये जाते हैं ।

३. हंस में नीर-क्षीर विवेक की सामर्थ्य होती है ।

४. हंस मोती चुगते हैं ।

आलम्बन के रूप में तुलसी ने न तो कहीं हंस का और न उसकी इन विशेषताओं का वर्णन किया । किन्तु हंस के बारे में ये प्रसिद्धियां तुलसी को भी मान्य हैं, ऐसा उनके द्वारा अपनाए गए अप्रस्तुतों से तथा सरोवर आदि के वर्णनीय तथ्यों से लगता है । उपर्युक्त चारों में से प्रथम कवि समय जिसमें वर्षा काल मे हंस की मानसरोवर यात्रा की बात कही गई है, तुलसी की पंक्तियों में कहीं स्पष्ट सूचित नहीं होती । शेष तीनों का सोदाहरण विवेचन निम्नलिखित है —

२. जलाशय मात्र में हंस की स्थिति - कविगण जलाशय मात्र में हंस की स्थिति स्वीकार करते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि सरोवर चाहे छोटा हो या बड़ा हो

---

१. कोक सोकप्रद पंकज द्रोही । अवगुन बहुत चंद्रमा तोही ।। रा० । १।२३८

२. देखियत चक्रवाक खगनाहीं । कलिहिं पाइ जिमि धर्म पराहीं ।। रा० ४।१५

३. जौ लौ कोक कोकी कौ मिलत तौ लौं होति राति,
   कोक अधबीच ही तें आवत है फिरि कै ।।
   --सेनापति-कवित्तरत्नाकर ।तीसरी तरंग ।

किसी भी प्रकार का हो उसका वर्णन करते समय हंस की चर्चा अवश्य होती है । लोक में ऐसा देखा जाता है कि बिरले जलाशयों में ही हंस रहते हैं, अधिकांश जलाशयों में नहीं । यह कवि प्रसिद्धि इस लौकिक सत्य की उपेक्षा करती है । इसका कारण है कि कवि वस्तु के भव्यतम रूप के अंकन का आग्रही होता है ।

तुलसी में भी ऐसा आग्रह दिखायी देता है । उनकी कविता में जहां किसी भी रूप में जलाशय का प्रसंग आता है वे हंस को लाये बिना नहीं रहते । मानस के आरम्भ में रामचरित रूपी सरोवर में ज्ञान और वैराग्य की भावना को हंस बनाकर प्रस्तुत किया गया है ।[१] पंपा सरोवर के वर्णन में भी कलहंसों के बोलने का उल्लेख किया गया है ।[२] मानस के किष्किन्धा काण्ड में वानरों ने भूमि विवर के अन्दर जो विकसित सरोवर देखा, उसमें भी हंस और चक्रवाक उड़ रहे थे ।[३]

अन्यत्र भी रूपक योजना में सरोवर और हंस का सान्निध्य बार-बार दिखाई देता है, यथा –

सेवक मन मानस मराल से । रा०।१।३२

जो भुसुंडि मन मानस हंसा । रा०।१।१४६

जय महेस मन मानस हंसा । रा०।१।२८५

---

१. सुकृत पुंज मंजुल अलि माला ।
ग्यान बिराग बिचार मराला ।। रा० ।१।३७

२. पुनि प्रभु गए सरोवर तीरा ।
पंपा नाम सुभग गंभीरा ।। रा०।३।३६

बोलत जल कुक्कुट कलहंसा ।
प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा ।। रा०।३।४०

३. चढ़ि गिरि सिखर चहूं दिसि देखा । भूमि बिवर एक कौतुक पेखा ।।

चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं । बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि पाहीं ।। रा०४।३४

जलाशयों में हंस का उल्लेख करना विशिष्ट सौन्दर्य के घनीभूत रूप का ग्रहण है । सरोवर भले ही सामान्य हो पर हंस को लाने के पूर्व कवि उसके निर्मल नीर का वर्णन भी करते हैं । तुलसी ने भी सभी प्रसंगों में ऐसा किया है । कुलीन जाति का जीव जिसमें प्रभूत सौकुमार्य है वह अनुपयुक्त और कलुषित वातावरण में सुखद जीवन नहीं जी सकता । इस भाव का कथन करते हुए तुलसी ने मानस में कहा है कि सुरसरि अथवा मानस (मानसरोवर) के सलिल में प्रेमपूर्वक पोषिता स्वच्छन्द विहारिणी हंसिनी गन्देजल और खारेपानी में भला कैसे जीवन धारण कर सकती है ?

सुरसरि सुभग बनज बन चारी । डाबर जोगु कि हंस कुमारी ।।

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली । जियइ कि लवन पयोधि मराली ।।

रा० २।६३

हंस एक परम्पराप्रचलित आध्यात्मिक प्रतीक और उदात्त वृत्ति का परिचायक है । वशिष्ठ जी इसीलिए राम को हंसबंस अवतंस कहते हैं ।[१] वर्णन की चारुता और भाव्यता का प्रकट उद्देश्य इस कवि प्रसिद्धि के मूल में निहित दिखाई देता है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका एक अन्य कारण भी बताया है ।[२]

३. हंस का नीर क्षीर विवेक -- काव्य में हंस का नीर-क्षीर विवेक प्रचलित है । अनेक कवियों ने इस अर्थ को ग्रहण किया है । सामान्यत: यह गुण दोष विवेचन अथवा सारग्रहण से सम्बन्धित भावाभिव्यक्ति के लिए सहायक उपकरण सिद्ध हुआ है । यह पूर्ण रूपेण अलौकिक और अशास्त्रीय वृत्त है कि हंस जल और दूध के मिश्रण को पुन: कर देता है । परीक्षणों से यह बात न तो सत्य ठहरी है और न इसकी

---

१. राम कस न तुम कहहु अस हंस बंस अवतंस । रा० २।६ ।

२. हंसों का वर्णन सर्वत्र जलाशयों में इस कारण होता है कि हंसमिथुन यक्ष और यक्षिणियों के प्रतीक हैं जो जल और वृक्षों के तथा रस और उर्वरता के देवता हैं - हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यापीठ पत्रिका, आषाढ़सं० १९९३, पृ०३७६

०.

स्वाभाविकता ही समझ में आती है ।

डॉ० विष्णुस्वरूप ने लिखा है --वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा आज तक किसी ऐसे पक्षी का पता नहीं चला है जो दूध अथवा दूध और जलके मिश्रण से शुद्ध दुग्ध के अंश को ग्रहण कर जलांश छोड़ दे । जब हंस का मूल निवास स्थान सरोवर है तो यह सम्भव भी कैसे है कि वहाँ के हंसों को जलमिश्रित दुग्ध मिलता रहे और इसप्रकार उनका पोषण हो ।"[१]

ऐसा भी कहा जाता है कि हंस जल और कीचड़ मे डूबे हुए अपने खाद्य पदार्थ को निकाल कर अपने जबड़े की कंघीनुमा झालर से उसका कीचड़ आदि बड़ी कुशलता से छान लेता है । यह उसके मुख की संरचना की एक विशेषता हो सकती है ।

जो भी हो काव्य में उसका नीर-क्षीर विवेक प्रामाणिक है और भावाभिव्यक्तिमें सहायक भी । तुलसी की रचनाओं से कुछ उदाहरण इस प्रकार है --

भरत बिनय सुनि सबहिं प्रसंसी ।
खीर नीर बिबरन गति हंसी ।। रा० ।२।३१४

शंकालु लक्ष्मण को आश्वस्त करते हुए राम ने भरत को सूर्यवंश रूप तड़ाग को हंस बताया है । जो गुण और अवगुण रूपी क्षीर और जल के तथा गुणदोष के विभाजन में सक्षम हैं ।[२]

इस प्रसिद्धि के आधार पर हंस संतों का उपमान (सात्विकता का प्रतीक) सारग्रहण, न्यायवृत्ति आदि विशेषताओं से काव्य में युक्त भाषा माना जाता है ।

---

१. डॉ० विष्णुस्वरूप-कविसमय-मीमांसा, पृ० १२०
२. सगुण खीरु अवगुन जल ताता । मिलइ रचइ परपंच विधाता ।।
भरतु हंस रबि बंस तड़ागा । जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ।।
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी । जग जस जगत कीन्ह उजियारी ।।
रा० २।२३२

हंस बक के सह कथन से गुणावान और गुणारहित की पहचान होती है । बक और हंस वर्ण में तो समान होते हैं पर कार्यक्षमता के परीक्षण में दोनों अलग अलग प्रकट हो जाते हैं । सुभाषित रत्नभाण्डागार में इस पर एक श्लोक मिलता है ।[१] दोहावली के एक दोहे में तुलसी ने भी वही बात इन शब्दों में कही है जिसमें कपट का निर्वाह अधिक समय तक सम्भव न होने पर बल दिया गया है --

बरन चोंच लोचन रंगो, चलो मराली चाल ।
छीर-नीर-बिबरन समय बक उघरत तेहि काल ।। दो० । ३३३

कवियों ने इस प्रसिद्धि का अपनी प्रतिभा से कहीं ऐसा प्रयोग किया है जो अप्रिय अर्थ का बोधक है । रहीम की नायिका अपनी सपत्नी को हंसिनी मानती है जो दुग्ध रूपी प्रियतम को जल रूपी नायिका से छीन कर चल देती है ।[२] तुलसी ने भी सुफलक सुत अक्रूर जो कि गोपियों के लिए शत्रुरूप हैं, में हंस वृत्ति का आरोप किया है ।[३]

४. हंस का मोती चुगना -- हंस मोती चुगता है । कहा जाता है - के हंसा मोती चुगें के लंघन मरि जांय ।' मोतीमान सरोवर में पाए जाते हैं । कदाचित् इसीलिए हंस को मानस चारिन् कहा गया है । संस्कृत के ग्रन्थों में तो इसे कवि समय में नहीं गिना गया है, पर चूंकि हंस का मोती चुगना लोक दृष्टि से परे की क्रिया है, अस्तु इसे कवि समय मान लिया गया है ।

तुलसी ने सादृश्य-विधान के लिए इस कवि समयार्थ का उपयोग किया है --
जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु ।
मुकुताहल गुनगन चुनइ राम बसउ हिय तासु ।। रा० २।१२८

---

१. हंस:श्वेतो बक: श्वेतो को भेदोबक हंसयो: ।
नीर क्षीर विभागे तु हंसो हंसो बकोबक: ।। सुभा० २३१।६

२. पिय सन अस मन मिलयउं जस पय पानि ।
हंसिनि भई सवतिया लै बिलगानि ।।

३. ह्वैमराल आयो सुफलक सुत लै गयो छीर नीर बिलगाई । कृ०गी०।२५

यहाँ इस कविसमय से सद्गुण ग्राहकता की अर्थ व्यंजना की गई है ।

(३.) कोकिल --कोकिल के बारे में कवि प्रसिद्धि है कि वह बसन्त में ही बोलती है ।[१]
इस प्रसिद्धि में एक नियम निबन्धन हुआ है । कोकिल अन्य ऋतुओं जैसे ग्रीष्म वर्षा में भी बोलती है, पर कवि उसका निबन्धन काव्य में नहीं करते ।

तुलसी ने दृढ़ता पूर्वक इस कविसमय का अनुसरण नहीं किया है । बसन्त में उन्होंने सर्वत्र कोकिल के बोलने का उल्लेख किया है जो कविसमयानुसार करणीय है, किन्तु उन्होंने गीतावली में वर्षाऋतु में भी कोकिल के बोलने की बात कही है जो कवि प्रसिद्धि का विरोध है --

पिक मोर मधुप चकोर चातक सोर उपवन बाग ।
दादुर मुदित भरे सरित सर महि उमगि जनु अनुराग ।।
गी०।७।१८

यहाँ प्रसिद्धि विरुद्धता दोष उत्पन्न हो गया है । यह एकस्थल अपवाद ही माना जा सकता है अन्यथा तुलसी बहुधा इस प्रसिद्धि का भी पालन ही करते हैं । उन्होंने अन्यत्र वर्षा में कोकिल को मौन बताकर जैसे अपनी इस भूल का परिष्कार भी कर लिया है --

तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन ।
अब तो दादुर बोलिहैं हमै पूछिहै कौन ।। दो० । ५६४

बसन्त में कोकिल के स्वर में जो माधुर्य रहता है वह अन्य ऋतुओं में नहीं रहता । कदाचित् इसीलिए बसन्त में ही इसका बोलना काव्य के लिए नियत है । शीतकाल में तो कोकिल प्राय: मौन ही रहता है जिसके कारण कवियों ने इस ऋतु में कोकिल के देशान्तर-गमन की कल्पना भी कर डाली है ।

वसन्त ऋतु की सुरम्यता और मादकता में जिस कोकिल का पीयूषवर्षी स्वर मन को आनन्द विभोर कर देता है, वर्षा में उत्कृष्ट और निकृष्ट नाना

प्रकार के जीव जन्तुओं के स्वरों में उसकी वाणी खो जाती है । जहाँ वसन्तागमन पर वह अपनी मर्मभेदी कूक के कारण वसन्त का दूत कहा जाता है, वहीं वर्षा में उसका वैशिष्ट्य विलुप्त सा रहता है । पिकध्वनि को मधुमास में ही नियत करने का यही प्रयोजन है ।

२) मयूर — मयूर के सम्बन्ध में दो कवि प्रसिद्धियाँ हैं —

१. मोर वर्षा ऋतु में ही बोलते और नाचते हैं ।

२. उनका कण्ठ नीला ही होता है ।

राजशेखर ने मात्र पहली कवि प्रसिद्धि का ही उल्लेख किया है ।[1] कविराज विश्वनाथ ने भी इसका ही समर्थन किया है ।[2] मोर के कण्ठ नीले होने का नियम निबन्धन कवि-प्रसिद्धियों के अन्तर्गत दिवाकर मणि त्रिपाठी ने किया है ।[3] त्रिपाठी जी ने एक ऐसी जाति के मोरों की ओर संकेत किया जिसका कण्ठ नीला नहीं होता, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि भारतवर्ष में नीलकण्ठ मोर ही अधिक मिलते हैं । भारत प्राय: नीले कण्ठ के मयूरों का क्षेत्र होने से यह कवि समय उल्लेखनीय नहीं प्रतीत होता । अतएव यहाँ हम पहली प्रसिद्धि को ही विचारणीय मानते हैं ।

काव्यवर्णन में बादलों की ध्वनि और घटाओं के घिरे होने से मयुर का आनन्दित होकर बोलना और नाचना प्रचलित है । वर्णन की इसी परिपाटी के कारण वर्षा ऋतु में ही मोरों के बोलने नाचने का नियम प्रसिद्धि के अन्तर्गत आ गया है, क्यों कि बादलों के घिरने और गरजने का प्रसंग बहुलता के साथ वर्षा ऋतु में ही उपस्थित होता है । तुलसी ने भी मोर के नाचने और बोलने का वर्णन सर्वत्र वर्षाऋतु में ही किया है । गीतावली और मानस के किष्किन्धाकाण्ड के वर्षा के प्रसंगों में मोर

---

१. मयूराणां वर्षास्वेव विरुतस्य नृत्तस्य नृत्तस्य च निबन्ध: ।

—काव्यमीमांसा, पृष्ठ २४४

२. मेघध्यानेषु, नृत्यं भवति च शिखिना: नाप्यशोके फलं स्यात् ।

--साहित्य दर्पण, सातवाँ परिच्छेद।२

३. दिवाकरमणि त्रिपाठी-कवि परिपाटी, पृष्ठ १६२

के बोलने का उल्लेख हुआ है --

(क) उनए सघन घनघोर मृदु झरि
सुखद सावन लाग ।

पिक मोर मधुप चकोर चातक सोर उपवन बाग । गी०।७।१८

(ख) सब ऋतु सुखप्रद सो पुरी पावस अति कमनीय ।
निरखत मनहिं हरत हठि हरित अवनि रमनीय ।
बीरबहूटिबिराजहीं दादुर धुनि चहुं ओर ।
मधुर गरजि घन बरसहीं, सुनि-सुनि बोलत मोर ।।
-गी० । ७।१६

(ग) लछिमन देखहु मोर गन नाचत बारिद पेखि । रा०४।१३

उक्त तीनों उदाहरणों में वर्षा ऋतु में मयूर के शोर मचाने का (बोलने का) और मुग्ध होकर नर्तन करने का वर्णन हुआ है । तुलसी की रचनाओं में अन्य ऋतु में यह उल्लेख कहीं नहीं है ।

पावस ऋतु में मेघों की छटा के कारण इस प्रसिद्धि का सामान्य प्रयोजन स्वत: सिद्ध है, किन्तु इसके मूल में एक कारण और भी है जिस पर डॉ० विष्णुस्वरूप ने प्रकाश डाला है । राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में इस प्रसिद्धि के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत श्लोक ,जिसमें हेमन्त ऋतु में विमुक्त बर्ह मयूर का वर्णन किया गया है को लक्ष्य करते वे कहते हैं । डॉ० विष्णुस्वरूप का विचार है कि "वर्षा के अतिरिक्त ऋतुओं में मयूर के नृत्य में वह सौन्दर्य और स्वर में वह माधुर्य नहीं रहता । मोर नाचकर वर्षा में मयूरी को लुभाता है । गर्भाधान के पश्चात् बर्ह स्खलित हो जाता है और नृत्य में वह आकर्षण नहीं रहता । यह सौन्दर्य के उत्कृष्ट और घनीभूत रूप का ग्रहण है । रामायण में विमुक्त बर्ह मयूर का वर्णन हुआ है --

विमुक्तावर्हा विमदा मयूरा: प्ररूढ़गोधूमयवाचसीमा ।
व्याघ्रि प्रसूति: सलिलं सवाष्पं हेमन्तलिंगानि जयन्त्यमूनि ।।[१]

----

१. डॉ० विष्णुस्वरूप ,कविसमय-मीमांसा, पृष्ठ १२५-२६

जहाँ प्रकट रूप से वर्षा ऋतु का होना नहीं कहा गया है, वहाँ भी परोक्ष रूप से पावस का वातावरण घटित जान पड़ता है । बादलों का घोष सुनकर मयूर अथवा मयूरी का उल्लसित होना सद्य: हर्षद वस्तु का प्रभाव व्यक्त करता है । ये घन भी और किसी ऋतु के नहीं बल्कि पावस के ही प्रतीत होते हैं क्योंकि काव्य में अन्य ऋतुओं में बादल के गरजने और उससे मोर के प्रसन्न होने या नाचने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता । यह सुखद वृत्त तो आधिकारिक रूप से वर्षा के ही अन्तर्गत आता है । तुलसी की रचनाओं में दो दृष्टान्त इस दृष्टि से विचारणीय हैं -

(क) भा सबके मन मोदु न थोरा ।
जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा ।। रा० २।१८५

(ख) प्रेम प्रफुल्लित राजहिं रानी ।
मनहुं शिखिनि सुनि बारिदबानी ।। रा० १।२६५

मुख्य रूप से सहसा हर्षागम के निमित्त इस प्रकार की प्रसिद्धि का प्रयोग हुआ है । प्रयोग का दूसरा पहलू प्रकृतिवर्णन और उसमें सौन्दर्य के घनीभूत रूप के ग्रहण के लिए आचरित जान पड़ता है । वसन्त में भी मोर की उपस्थिति तुलसी ने दिखाई है,[१] पर नर्त्तन या ध्वनि नहीं दिखाया, अस्तु इसे दोषमुक्त ही कहा जायगा ।

2- अन्य जीव-जन्तुओं से सम्बद्ध कवि समय - इनके अतिरिक्त २ जन्तुओं को लिया जा सकता है - १. मकर , २. सर्प ।

1. मकर -- कवि समयानुसार समुद्र में ही मकर का वर्णन विधेय है, नदी या जलाशयों में नहीं । राजशेखर ने इसे अनेकत्र को एकत्र मानने की प्रवृत्ति का अनुसरण कहा है ।[२] यद्यपि और नदी और जलाशयों में भी मकर (ग्राह) पाए जाते हैं अर समुद्र के गम्भीर और अगाध जल में मकर की स्थिति का वैशिष्ट्य कुछ और ही होता है । यही इस कवि समय की मूल धारणा है ।

---

१. मोर चकोर कीर बर बाजी । पारावत मराल सब साजी ।। रा० ।३।३८
२. द्रष्टव्य , काव्यमीमांसा (१४वाँ अध्याय) पृ० २३६

तुलसी के वर्णन इस कवि समय के अनुसार ही हैं । नदी और जलाशय के प्रसंग अनेक बार आने पर भी उन्होंने उनमें कहीं भी मकर की स्थिति नहीं दिखाई है जबकि समुद्र का प्रसंग तीन बार आने पर उन्होंने तीनों बार मकर का उल्लेख किया है --

(क) सुनु कपीस लंकापति बीरा । केहि बिधि तरिअ जलधि गँभीरा ।।
संकुल मकर उरग झष जाती । अति अगाध दुस्तर सब भाँती ।। रा०५।५०

(ख) संधानेउ प्रभु बिसिख कराला । उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ।।
मकर उरग झख गन अकुलाने । जरत जंतु जलनिधि सब जाने ।। रा०।५।५८

(ग) सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई । चितव कृपाल सिंधु बहुलाई ।।
मकर नक्र नाना झख व्याला । सत जोजन तनु परम बिसाला ।।
रा० । ६।४

२. सर्प -- सर्प के सम्बन्ध में दो कवि समय काव्य में पाए जाते हैं --

१. काव्य में सभी सर्पों को मणियुक्त ही बताया जाता है ।
२. सर्प और नाग में अभेद माना जाता है ।

१. सर्पमात्र को मणियुक्त कहना -- सर्प की अनेक जातियाँ होती हैं । कुछ विशिष्ट जाति के भी विरले सर्पों में ही मणि पाई जाती है । सर्प का मणियुक्त होना विशेष प्रभविष्णुता का द्योतक है ।जो सर्प अत्यन्त विषधर और दीर्घ आयु वाले होते हैं, उन्हीं में मणि पाई जाती है । यद्यपि अधिकांश सर्पों में मणि नहीं होती फिर भी कवि प्रसिद्धि के अनुसार काव्य में सर्प को सदैव मणियुक्त ही कहा जाता है ।

तुलसी के काव्य में प्रकट रूप से सर्प का वर्णन कहीं नहीं आया है, इसलिए इस कवि समय के विधिवत् अनुसरण का अवकाश भी नहीं आया है । कहीं-कहीं सर्प का उल्लेख मात्र है, इसलिए वहाँ भी उसकी इस विशेषता को बताने का प्रसंगौचित्य नहीं है । फिर भी तुलसी इस कविप्रसिद्धि को स्वीकार करते हैं, यह बात एक अप्रस्तुत से सिद्ध होती है, जिसे उन्होंने अनेकश: अपनाया है । वह अप्रस्तुत है मणि-

हीन सर्प । यह मणिहीन सर्प, प्रकृति से ही मणि विहीन न होकर किसी विशेषकारणवश मणि से रहित हो गया है । मणिधर सर्प जब किसी कारणवश अपनी मणि खो बैठते हैं, तो वे अत्यन्त विकल हो जाते हैं । तुलसी ने चिन्ता और विकलता की अभिव्यंजना के लिए मणिवियुक्त सर्प को सादृश्य के रूप में ग्रहण किया है । इसके कुछ दृष्टान्त प्रस्तुत हैं —

(क) रानि कुचाल सुनत नर पालहि । सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहिं । रा०२।२९

(ख) मनि बिनु फनि जलहीन मीन तनु त्यागइ । पा०मं० । ६७

इन पंक्तियों के आधार पर इस कवि प्रसिद्धि के प्रति कवि तुलसी की आस्था यों सिद्ध होती है कि यदि वे इसी रूप में स्वीकार न करते होते तो इस सादृश्य को अपनाते हुए वे किंचित् अर्थदोष की आशंका करते तथा यह सोचते कि बहुत से सर्प प्रकृति से मणि रहित होते हैं और उनके लिए ऐसी अभिव्यक्ति सार्थक नहीं हो सकती जिस मात्रा में उन्होंने इस अप्रस्तुत को अपनाया है उससे स्पष्ट है कि वे यह मान कर चले हैं कि सर्पमात्र में मणि होती है ।

२. सर्प और नाग में अभेद-स्थापना -- पुराख्यानों के अनुसार नाग पाताल लोक की एक जाति थी । नागों का शरीर मनुष्यों से ही मिलता जुलता था । कालान्तर में किसी कारणवश काव्य में ये नाग सरीसृप (सर्प) के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे । साहित्य में प्राचीनकाल से ही नाग और सर्पपर्याय हो गए हैं । हिन्दी काव्य में भी अधिकांशत: नाग को सर्पवाची ही माना गया है । सर्प और नाग में अभेदार्थ-स्थापना कवि प्रसिद्धि मानी गई है । डॉ० विष्णुस्वरूप ने इसे कवि प्रसिद्धि मानने का विरोध करते हुए कहा है -- 'हिन्दी काव्य-परम्परा में भी यह भेद अक्षुण्ण है । नाग के लिए सर्प अथवा सर्पवाची पर्याय और सर्प के लिए नाग के उल्लेख में इस कविप्रसिद्धि का पालन करना कहना कदाचित् उपयुक्त न होगा, क्योंकि कवियों का ध्यान इसके भेद की ओर गया हो, सामान्यत: ऐसा विदित नहीं होता । यह भी कहा जा सकता है कि यह परम्परा इतनी अधिक प्रसिद्ध हो गई है कि कवियों के लिए इसका

पालन ही सहज सिद्ध हो गया है ।'[1] निश्चय ही इस बात में औचित्य है और यह भी सत्य है कि अब सर्प और नाग को पर्याय ही समझा जाता है । नाग के उस अर्थ का बोध लोगों में बहुत कम ही है । नाग का यह अर्थ न जानने वाला कवि यदि सर्प के स्थान पर 'नाग' शब्द का प्रयोग करे तो उसे कवि प्रसिद्धि न मानने का तर्क किया जा सकता है किन्तु ऐसे भी कवि हैं जिन्होंने 'नाग' के सारे अर्थों का प्रयोग अपनी कविता में किया है और 'सर्प' के अर्थ में भी उसका प्रयोग किया है । ऐसे कवियों द्वारा किया गया सर्प के अर्थ में 'नाग' शब्द का प्रयोग कविप्रसिद्धि ही है, इसमें मतभेद नहीं होना चाहिए ।

तुलसी के काव्य में नाग का प्रयोग ३ अर्थों में हुआ है - पाताल लोक की नाग जाति, हाथी और सर्प । तीनों की पोषक पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं -

नाग का पाताललोक की एक जाति के अर्थ में प्रयोग -

(क) सुर नर असुर नाग नर देवा । आइ करहिं रघुनायक सेवा ।। रा०१।३४

(ख) अमरनाग किन्नर दिगपाला । चित्रकूट आए तेहि काला ।।

रा० । २।१३४

नाग का हाथी के अर्थ में प्रयोग --

(क) मत्तनाग तम कुंभ बिदारी । ससि केसरी गगन बन चारी ।। रा०६।१२

नाग का सर्प के अर्थ में प्रयोग-

(क) पुनि रघुपति सैं जूझइ लागा । सर छाड़इ होइ लागहिं नागा ।। रा० ६।७३

इन प्रयोगों से सिद्ध है कि नाग के विविध अर्थों का बोध तुलसी को था और उन्होंने जानबूझकर कहीं कहीं 'नाग' शब्द का प्रयोग सर्प के लिए किया है ।

---

१. डॉ० विष्णुस्वरूप-कवि समय-मीमांसा, पृष्ठ -२५२

वृक्ष-वनस्पतियों से सम्बद्ध कविसमय

साहित्य में विभिन्न वनस्पतियों के सम्बन्ध में कवि समय प्रचलित है इससे हर्ष विषाद, मैत्री, शत्रुता आदि विविध भावों की सफल अभिव्यंजना होती है । इस प्रयोग में आने वाली वनस्पतियों में फूलों के छोटे छोटे पौधों से लेकर सहकार और भोजपत्र आदि अनेक बड़े वृक्ष भी आ जाते हैं ।

तुलसी ने भी इस क्षेत्र में अपनी काव्य मर्मज्ञता का परिचय दिया है । अपने वर्ण्य विषय के अनुरूप तुलसी ने वनस्पति विषयक समस्त कवि समयों में से कुछ को ही ग्रहण किया है । मर्यादित वर्णन के पक्षधर तुलसी ने सामान्य नायक-नायिका के हासविलास से युक्त तथा उद्दाम शृंगारी भावना से आपूरित कविप्रसिद्धियों का ग्रहण अपनी रचनाओं में नहीं किया है । इस सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह हैकि उन्होंने प्रसिद्धियों को वर्ण्य नहीं माना बल्कि वर्णन और भावाभि-व्यक्ति के सहायक उपकरण के रूप में ही उनका ग्रहण किया है, परिणामस्वरूप संस्कृत साहित्य में युवती-नायिकाओं के मादक सम्मोहन को व्यक्त करने के लिए विशेष रूप से प्रचलित वृक्षदोहद सम्बन्धी कविप्रसिद्धियों को तुलसी ने नहीं अपनाया है ।

जिन वृक्षों एवं वनस्पतियों से सम्बद्ध कविसमयों का प्रयोग तुलसी के काव्य में प्राप्त होता है उनमें कुछ प्रमुख ये हैं --

(१) पद्म (२) नीलोत्पल (३) कुन्द (४) कुमुद
(५) शैवाल (६) भोजपत्र (७) चन्दन

(१) पद्म-- कवि समयमीमांसा में पद्म (कमल) से सम्बद्ध निम्नलिखित ४ कविप्रसिद्धियों का उल्लेख किया गया है[१]--

(१) यह नदियों और समुद्रों में भी होता है ।

(२) केवल दिन में विकसित होता है ।

(३) हेमन्त शिशिर को छोड़कर सभी ऋतुओं में विकसित होता है ।

----

१. डॉ० विष्णुस्वरूप-कविसमय-मीमांसा, पृष्ठ ४२

(४) इसके कुडमल हरे नहीं होते ।

राजशेखर ने सत के अनिबन्धन के अन्तर्गत मात्र कमल मुकुल के हरितत्व का विधान किया है ।[१] तथा कविराज विश्वनाथ ने मात्र दिन में पद्म के विकास के कथन को कवि प्रसिद्धि माना है ।[२] हिन्दी के लेखकों ने वर्णन की समग्र परम्परा पर दृष्टिडालकर उपर्युक्त चार बातों का उल्लेख किया है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी त था दिवाकर मणि त्रिपाठी ने अपने-अपने ग्रन्थों में पद्म सम्बन्धी सम्पूर्ण अलौकिक और अशास्त्रीय अर्थों पर विचार करते हुए इसी अर्थचतुष्टय का उल्लेख किया है ।[३] जातीयता की दृष्टि से नील कमल (नीलोत्पल या उत्पल) और कुमुद भी पद्म के ही अन्तर्गत आते हैं पर प्रकृति की दृष्टि से इनकी प्रवृत्ति सामान्य पद्म से भिन्न है । अतएव यहां पृथक-पृथक शीर्षकों में ही इनके विस्तार की छानबीन की जायगी । प्रस्तुत शीर्षकों में ही सामान्य कमलों से सम्बन्धित कवि समयों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(१) जलमात्र में कमल का होना -- सामान्यतया कमल अवरुद्ध और कर्दम युक्त जल वाले जलाशयों में ही पाया जाता है, किन्तु कविमतानुसार इसकी स्थिति जलमात्र में होती है चाहे वह सामान्य जलाशय हो अथवा नदी या समुद्र । सरोवरों में कमल को उदाहृत करने की यहां कोई आवश्यकता नहीं । नदी में कमल की स्थिति के सम्बन्ध में एक उदाहरण है जिसमें सुरसरि के जल में तुलसी कमल की स्थितिदिखाते हैं --

तुलसी तोरत तीर तरु बक हित हंस बिड़ारि ।
बिगत नलिन-अलि मलिन जल सुरसरिहु बढ़ियारि ।। दो०४६८

---

१. सतोऽपि गुणस्यानिबन्धनम् (यथा) कुन्द कुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वं, कमल मुकुल प्रभृतेश्च हरित्वं -राजशेखर,काव्यमीमांसा (१५ वां अध्याय), पृ०२४७
२. अह्नय भोज निशायां विकसति कुमुदं । - कविराजविश्वनाथ-साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, पृष्ठ २५६
३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी- हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २१८ -१६ दिवाकरमणि त्रिपाठी-कविपरिपाटी, पृ० १७४

मानस के उत्तरकाण्ड में अयोध्या वर्णन के प्रसंग में समन्वित रूप से वापी, कूप, तड़ाग आदि में रंगबिरंगे कमलों के खिले होने और उन पर मधुपों के गुंजार करने का वर्णन है --

बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं ।

बहुरंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं ।। रा० । ७।२६

अल्पकालिक गड्ढों में तथा कूप आदि में भी कमलों की स्थिति नहीं पाई जाती है पर जलाशयों का स्वरूप एवं आकारप्रकार जो भी हो वर्णन में तत्सम्बन्धी चारुता और भव्यता के लिए उनमें पद्मसौन्दर्य अवश्य लाया गया है ।

कवियों की यह सुनिश्चित योजना रचना-सन्दर्भ में अवश्यमेव विचारणीय है । डॉ० विष्णुस्वरूप ने इस प्रसिद्धि पर विचार करते हुए लिखा है -

'जलाश्रय होने के कारण वापी, तड़ाग, नदी और समुद्र में तात्विक एकता तथा सिन्धु शब्द का संस्कृत में सभी जलाश्रयों के अर्थ में प्रयोग ही इस प्रसिद्धि का मूल कारण है । आदिम धारणा के अनुसार सूर्य का उदय समुद्र (जल के सिमटाव) से होता है । सूर्य और कमल में काव्यसुलभ दृष्टि से साम्य देखा गया है, अत: सर्वत्र जलमें कमल की कल्पना सहज ही हो जाती है ।'[१]

प्रत्येक काव्य रसिक का सौन्दर्यबोध इस बात की साक्षी देगा कि कमल के होने से जल की शोभा कई गुना बढ़ जाती है । 'पयसा कमलं कमलेन पय: पयसा कमलेन विभाति सर:' इस पंक्ति में जल से कमल और कमल से जल की शोभा होने पर बल दिया गया है । यद्यपि उक्त कथन में अन्त में सर की नियति बताई गई है किन्तु सर्वत्र सौन्दर्य की उद्भावना का आग्रही साहित्यकार यदि 'सर:' की सीमा लांघकर सरिता, सिन्धु और दिगन्त व्यापी जलतत्व की महती शोभा का विधान करने लगे तो आश्चर्य ही क्या ? कवि शोभाविधायक होता है, और उसकी दृष्टि में सौन्दर्य का कहीं

---

१. डॉ० विष्णुस्वरूप-कविसमयमीमांसा, पृष्ठ ४५

अन्त नहीं होता । जलमात्र में कमल के वर्णन का सामान्य प्रयोजन शुद्ध रचनात्मक प्रतीत होता है क्योंकि इसकी निबन्धना काव्य में ही पाई जाती है अन्यत्र नहीं ।

(2) पद्म का दिवा विकास :- कवि समयानुसार पद्म दिन में ही विकसित होता है । रात्रि में उसका संपुट बन्द रहता है, सूर्योदय होते ही सूर्य की प्रभा से कमल-कली खिल उठती है और सूर्यास्त की वेला आने पर पुन: बन्द हो जाती है । रात्रि के प्रहरों में पद्मकोष के भीतर बन्दी भ्रमर की अत्यन्त प्रचलित कविकल्पना का आधार यही कविप्रसिद्धि है ।[१] तुलसी ने प्रकट रूप से भावसम्प्रेषण के लिए अप्रस्तुत विधान के रूप में इस कवि कल्पना को ग्रहण किया है ।[२]

इसके अतिरिक्त हर्ष विषाद आदि विभिन्न भावों के प्रकटीकरण के निमित्त कवियों ने सूर्य और कमल के मैत्री सम्बन्ध कमल और चन्द्र के अप्रिय सम्बन्ध का आश्रय ग्रहण किया है । उत्कर्ष, अपकर्ष, विकास परित्राण, स्वामित्व , सुखप्राप्ति आदि अनेक भावनाओं की अभिव्यक्ति तुलसी ने इसी कवि प्रसिद्धि के आधार पर की है । अधितर प्रयोग तुलसी ने व्यंजना व्यापार के लिए ही किया है । कवि समयार्थ को ही वर्ण्य बहुत कम बनाया गया है । कविप्रसिद्धि के द्वारा कुछ भावों की व्यंजना देखिए --

हर्षागम - गांव गांव अस होइ अनंदू
देखि भानुकुल कैरव चंदू ।। रा० २।१२२

प्रेमातिरेक प्रेम मगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु ।
सहित सभा संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु ।। रा०२।२७४

---

१. रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भाषानुदिष्यति हसिष्यति पंकजश्री: ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त: । हन्त । नलिनी गजमुज्जहार ।।

सुखप्राप्ति — मंगल आरति साजि बरहिं परिछन चलीं ।
जनु बिगसीं रवि-उदय कनक-पंकज कली ।।
--जा०मं०।१४८

मोदाधिक्य — हरषि बिबुध बरसहिं सुमन मंगलगान निसान ।
जय रविकुलकमलरवि मंगल मोद निधान ।। रा०७।१।४।५

स्वामित्व — वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघन ध्वान्तापहं तापहम् ।
रा०।३।मं०-१

त्राताएवं रक्षक- मोहविपिन घन दहन कृसानु: ।
संतसरोरुहकानन भानु: ।। रा० ३।११
आरति हरन सरन सुखदायक ।
हा रघुकुल सरोज दिननायक ।। रा०३।२६

एकनिष्ठ और पात्रोचित प्रेम - सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा ।
कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ।। रा० ५।६

चूंकि सूर्य ही पद्मको विकास देने वाला है इसलिए दिनोदय के समय उसका प्रकर्ष दिखाया जाता है इसी आधार पर कवि दिन और सूर्य को कमल का मित्र या हितैषी कहते हैं । विरोधी स्थिति में रात्रि में पंकज का अपकर्ष उसकी मालिन्यावस्था अथवा पद्मकोष के बन्द होने का अर्थनिबन्धन कवि जन करते हैं और इस आधार पर चन्द्रमा और रात्रि को कमल का शत्रु कहते हैं । अतएव इस कविप्रसिद्धि के आधार पर कमल और चन्द्रमा को लेकर कवि शत्रुता और अपकर्ष की भावना का अंकन करते हैं । पद्म के दिवाविकास सम्बन्धी उक्त कवि समय का इस दिशा में तुलसी ने भी प्रयोग किया है --

आवत सुत सुनि कैकइ नंदिनि ।
हरषी रबिकुल जलरुह चंदिनि ।। रा० २।१x६

यहाँ कैकेयी की कुटिलता की सफलतम व्यंजना इसी प्रसिद्धि के आधार पर तुलसी ने की है । प्रकृति की एक और विलक्षणता इस प्रसिद्धि के माध्यम से तुलसी ने व्यक्त

की है । जगती पर सत् असत् गुण-दोष की विलक्षण स्थिति है । किसी भी वस्तु का प्रभाव अन्य सभी वस्तुओं के लिए समान परिणाम देने वाला नहीं होता । एक वस्तु या क्रिया का प्रभाव यदि किसी के लिए इष्टदायी होता है तो किसी के लिए अनिष्टकारी भी । इस प्रभावगत विचित्रता को कई प्रसिद्धियों का आधार लेकर व्यक्त किया गया है । जानकी मंगल में इसे चारप्रसिद्धियों के आधार पर कहा गया है ।[१] उनमें एक कमल का दिवाविकास भी है । शेष प्रसिद्धियां चक्रवाक चकोर और कुमुद पुष्प से सम्बद्ध हैं । यह भोर का चित्र है, जो धनुषयज्ञ के समय उपस्थित भूपालों के परस्पर विपरीत मनोभावों को उजागर करने के लिए उपकरण रूप में गृहीत है । इसी प्रकार का एक और प्रसंग रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में प्राप्त होता है । जिसमें राम के प्रताप रूपी प्रबल दिनेश के उदय का चित्र है । राजा होने पर राम के प्रताप के प्रभाव से किसी को दु:ख और किसी को शोक होता है । अविद्या, अध, काम, क्रोध, मत्सर, मान, मोह, मद आदि अपकर्ष होता है तथा धर्म, ज्ञान, विज्ञान सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक का उत्कर्ष होता है । अभिव्यंजना की सुविधा के लिए सम्पूर्ण कथ्य को प्रात:कालीन वेला का रूपक दे दिया गया है । कवि प्रसिद्धियों को दृष्टि में रखते हुए अपकर्षगामी वस्तुओं को क्रमश:, निशा, उलूक, कैरव, चोर और उत्कर्षगामी वस्तुओं को पंकज और चक्रवाक कहा गया है ।[२] अपकर्ष और

---

१. हिय मुदित, अनहित रुदित मुखछवि कहत कबि धनु जाग की ।
   जनु भोर चक्क चकोर कैरव सघन कमल तड़ाग की ।। जा०मं० ।११७

२. जब ते राम प्रताप खगेसा । उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ।।
   पूरि प्रकास रहेउ तिहुं लोका । बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका ।।
   जिन्हहि सोक ते कहउं बखानी । प्रथम अविद्या निसा नसानी ।।
   अघ उलूक जहं तहां लुकाने । काम क्रोध कैरव सकुचाने ।।
   बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ । ये चकोर सुख लहहिं न काऊ ।।
   मत्सर मान मोहमद चोरा । इन्ह कर हुनर न कवनिउ ओरा ।।
   धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना । ये पंकज बिगसे बिधि नाना ।।
   सुख संतोष बिराग बिबेका । बिगत सोक ये कोक अनेका ।।
   --रा० ७।३०-३१

शोक व्यंजना के लिए दो तथा मोद एवं उत्कर्ष व्यंजना के लिए भी दो कवि समयों का प्रयोग इस प्रसंग में प्राप्त होता है । कुमुद चकोर, चक्रवाक और कमल इन चार से सम्बद्ध प्रसिद्धियों की कल्पित पृष्ठभूमि पर पूरे प्रसंग की अर्थवत्ता को सफलता से प्रतिष्ठापित कर देना तो एक सजग रचनाकार की ही कला का परिणाम है ।

उपर्युक्त प्रसंग में प्रात:काल का वर्णन सहायक रूप में है जिसे अत्यन्त कुशलता के साथ राम के प्रताप के चित्रण के लिए उपकरण बना दिया गया है । यदि इसमें से कथ्य को हटा दिया जाय और रूपक वस्तुओं का आवरण मात्र शेष रहे तो यह उषाकाल का एक सरस वर्णन होगा । गीतावली में प्रात:काल राम को जगाने के व्याज से किये गए उष:वर्णन में ~~प्रात:काल राम को जगाने के व्याज से किये गए~~ कंज और कुमुद सम्बन्धी प्रसिद्धियों का आधार ग्रहण किया गया है ।[१]

३. हेमन्त और शिशिर के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में ही कमल का वर्णन -

कवि प्रसिद्धि के अनुसार शीतकाल में कमल का वर्णन नहीं किया जाता । यहाँ शीतकाल का आशय हेमन्त और शिशिर ऋतु से है । इन दो ऋतुओं में कमल के वर्णन की वर्जना है । इस प्रसिद्धि के मूल में भी चारुत्व के प्रति कवियों की अटूट आस्था ही निहित है । हेमन्त और शिशिर में भी कमल होता अवश्य है किन्तु वह तुषारपात के कारण छिन्न भिन्न और विरूप होता है । इन ऋतुओं में कमल का सौन्दर्य अन्य ऋतुओं की भाँति मोहक और आकर्षक नहीं रहता ,इसी लिए कवियों ने उसका वर्णन इन ऋतुओं के सन्दर्भ में ~~कमल का वर्णन~~ नहीं किया है, फिर भी ऐसा नहीं है कि उन्होंने कमल के इस विकृत रूप का नामोल्लेख भी न किया हो और एक प्रकार की कुरूपता से साफ-साफ बच गए हों । ऐसे विकृत कमल को उन्होंने दैन्य भावना का व्यंजक उपादान बनाया है --

(क) धर्म सकल सरसीरुह बृंदा । होइ हिम तिन्हहिं दहति दुख मंदा ।।

--रा० ३।४४

---

१. भोर भयो जागो रघुनन्दन ।गत-ब्यलीक भगतन उर चंदन ।।
बिकसित कंज कुमुदबिलखाने । लै पराग रस मधुप उड़ाने ।। गी० १।३३

(ख) भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे ।
तदपि दिनहिं दिन होत झांवरे मनहुं कमल हिम-मारे ।। गी०।२।८७

कहीं-कहीं गोस्वामी जी ने कमल को सादृश्य बनाकर तथा शीतकालीन रात्रि को उसके सन्निकट लाकर वर्ण्य के दैन्य की अभिव्यक्ति न करके मात्र दयनीय स्थिति की सम्भावना का वर्णन किया है । मानस में मन्दोदरी रावण से कहती हैं कि आपके कुल रूपी कमलवन को दुख देने के लिए सीता शीतकालीन रात्रि बनकर आई है ।[1] यहां इस प्रसिद्धि का ऐसा विचित्र प्रभाव है कि वर्ण्य दयनीय स्थिति में होते हुए भी हमारी सहानुभूति का आलम्बन नहीं बनता ।

४. पद्ममुकुलों के हरितत्व का निषेध –

काव्य में पद्ममुकुल के हरितत्व का वर्णन निषद्ध है । राजशेखर ने इसे अनिबन्धनीय सत्य बताया है ।[2] डॉ० विष्णुस्वरूप की धारणा है कि ईषत् उन्मीलित नेत्रों के लिए कमल मुकुल उपमान है । इन दोनों में आकार साम्य तो है किन्तु हरितत्व के कारण वर्ण साम्य नहीं है । वर्णसाम्य उत्पन्न करने के लिए पद्ममुकुल के हरितत्व के कथन का निषेध इस कविप्रसिद्धि के द्वारा कर दिया गया है ।

) नीलोत्पल-- नीलोत्पल, नीलकमल को कहते हैं । इसकी प्रवृत्ति अन्य जाति के पद्मों से विपरीत है । अन्य कमल जहां दिन में सूर्य के दर्शन से प्रफुल्लित होते हैं, वहां नील कमल रात्रि में चन्द्रदर्शन से । दिवस में नीलोत्पल मलिन रहता है, उसमें चारुत्व का अभाव रहता है इसलिए कवि प्रसिद्धि के अनुसार दिन में नीलोत्पल का वर्णन निषिद्ध है । राजशेखर ने इसे सत्य किन्तु अनिबन्धनीय क्रिया के अन्तर्गत बताया है ।[3]

---

१. तव कुल कमल बिपिन सुखदाई । सीता सीत निसा सम आई ।। रा०।५।३६

२. सतोऽपि गुणास्यानिबन्धनम् यथा कमल प्रभृतेश्च हरितत्वं ।
-- काव्यमीमांसा (पंचदश अध्याय) पृ० २४७

३. सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनम् तद्यथा दिवानीलोत्पलानामविकासो ।
- काव्यमीमांसा (अध्याय-१४) पृ० २४४

तुलसी के काव्य में नीलोत्पल अप्रस्तुत के रूप में ही ग्रहण किया गया है स्वतंत्र वर्ण्यवस्तु के रूप में नहीं । प्राय: राम के मुख की शोभा नीलकमल से ही उपमित की गई है । इस तरह नीलकमल का उल्लेख सर्वत्र प्रसिद्धिसम्मत ही रहा है । नीलकमल दिन में विकसित नहीं होता, यह कविसमयात्मक तथ्य है । इसका उत्कट समर्थन गीतावली की निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है जिनमें कहा गया है कि अशोकवन में बैठी हुई शोकमग्ना सीता जब अपने चरण-कमलों को देखती हैं तो उनकी आंखों से आंसुओं की अविरल धारा ऐसी बहने लगती है मानो चन्द्रोदय के समय सूर्य से वियुक्त होने पर दो नीलकमल सुधा कणों की वर्षा कर रहे हों --

निज पद जलज बिलोकि सोकरत नयनन बारि न रहत एकछन ।
मनहुं नील नीरज ससि संभव रवि बियोग दोउ स्रवत सुधाकन ।।
गी० । ५।१७

ध्यातव्य है कि रोती हुई आंखों का सादृश्य विधान सुधाकणों की वर्षा करते हुए नीलकमल को ग्रहण करके किया गया है । आंखों की वह अवस्था दु:ख की अवस्था है जबकि नीलकमल की यह अवस्था सुख की अवस्था है । दोनों में विरोध व है, किन्तु कवि प्रसिद्धि के अनुरूप चलते हुए कवि ने इस भावात्मक विरोध की चिन्ता नहीं की ।

१) कुमुद -- कुमुद के सम्बन्ध में दो कविप्रसिद्धियां पाई जाती हैं --

१. यह नदियों और समुद्र में भी होता है ।
२. यह रात्रि को ही विकसित होता है ।

प्रथम कवि समय बहुत ही उपेक्षित रहा है । तुलसी ने भी इसके अनुरूप कोई प्रयोग नहीं किया है ।

कुमुद के रात्रि में ही प्रफुल्लित होने पर तथा इसी आधार पर कुमुद की चन्द्रमा से मैत्री पर कवियों ने विशेष बल दिया है । सूर्य से उसका बैर भाव भी इसी प्रसिद्धि पर आधारित मानना चाहिए । इन समस्त तथ्यों के आधार पर तुलसी ने अनु-

कूल एवं प्रतिकूल (सुखमूलक एवं दु:खमूलक)दोनों प्रकार के विविध भावों की अभिव्यंजना की है । दोनों प्रकार के भावों को व्यक्त करने वाली कुछ पंक्तियां यहां प्रस्तुत हैं --

सुखमूलक भाव --

हर्ष - मनहुं सखी बिधु उदय मुदित कैरव कली । जा०मं० ।१२४

विकास-बिकसिहिं कुमुद जिमि देखि बिधु

भई अवध सुख सोभामई । जा०मं० ।२१६

मोद - मनहुं कुमुद बिधु उदय मुदित मन बिकसहिं । जा०मं० ।२१५

दु:खमूलक भाव -

मालिन्य - मानी महिप कुमुद सकुचाने । रा० । १।२५५

भय - सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रवि कुमुदगन । रा०।१।१६४

विकलता - बिकसत कंज कुमुद बिलखाने ।

ले पराग रस मधुप उड़ाने ।। गी० ।१।३३

कुमुद विषयक इस कवि प्रसिद्धि के द्वारा सुखमूलक भाव-व्यंजना करने के लिए चन्द्रमा और रात्रि का तथा दु:खमूलक भावव्यंजना करने के लिए सूर्य और दिवस का सहयोग अपेक्षित रहता है । वैसे तो रात्रि और चन्द्रमा ही कुमुद के लिए सुखकर हैं, किन्तु शारदी रात्रि और शरद ऋतु का चन्द्रमा कुमुद के लिए और भी आनन्द दायक होता है क्योंकि इसमें विमलता, उज्ज्वलता की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है । तुलसी ने भी प्रकारान्तर से इस तथ्य का समर्थन किया है -

दुर्वासिना कुमुद समुदाई । तिन्हकहं सरद सदा सुखदाई ।। रा० ३।४४

तुलसी के काव्य में कुमुद सम्बन्धी कवि प्रसिद्धि का विस्तृत प्रयोग हुआ है । कुछ और उद्धरण इस प्रकार हैं -

नारि कुमुदिनी अवध सर रघुपति बिरह दिनेस ।

अस्त भए बिगसत भईं निरखि राम राकेस ।। रा० ७।६

सबइ सुमन विकसत रबि निकसत

कुमुद-बिपिन बिलखाई । गी० ।१।१

दसरथ पूरन परब-बिधु, उदित समय संजोग ।
जनक नगर सर कुमुदगन, तुलसी प्रमुदित लोग ।। रा०प्र०।१।४।७

(४) कुन्द --

कुन्द पुष्प के बारे में कवि प्रसिद्धि है कि इसके कुड्मल लाल नहीं होते । राजशेखर के अनुसार कुन्द का रक्तत्व सत्य किन्तु काव्य में अनिबन्धनीय गुण है ।[१] कुन्द पुष्प ईषत् रक्ताभ होता है, किन्तु कवि समय के अनुसार उसे श्वेत ही कहा जाता है । कुन्द पुष्प दांतों का प्रसिद्ध उपमान है । काव्य में सुन्दर दांतों की उज्ज्वलता ही विधेय है, लालिमा नहीं । कुन्द पुष्प की रक्तिमा दांतों के सौन्दर्य विधान में व्याघात उत्पन्न करती अस्तु कवि समय के द्वारा उसका निषेध कर दिया गया ।

तुलसी ने कुन्द को सर्वत्र शुभ्र और उज्ज्वल ही कहा है, उसकी रक्तिमा का रंचमात्र भी आभास उनकी पंक्तियों से नहीं होता । उन्होंने प्राय: दन्तपंक्तियों के सादृश्य के लिए कुन्दकली को तथा शिव के शरीर की गौराङ्गता के सादृश्य के लिए कुन्द के वर्ण को अप्रस्तुत रूप में ग्रहण किया है । यहां दोनों के दृष्टान्त प्रस्तुत हैं --

दंत पंक्ति के लिए कुन्दकली का प्रयोग --

(क) कुंदकली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ।। रा०३।३०

~~शिव-के-शरीर-की-गौराङ्गता-के-लिए-कुन्द-पुष्प-का-वर्णन~~ --

(ख) बरदन्त की पंगति कुंदकली, अधराधर-पल्लव खोलन की । क०।१।५

----

१. सतोऽपि गुणास्यानिबन्धनम् तथा कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वं ।

-काव्यमीमांसा (अध्याय१५)पृ० २४७

(क) शिव के शरीर की गौराङ्गता के लिए कुन्द पुष्प का वर्णन -

कुंद इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन । रा०।१।मं-११

(ख) कुंद इंदु दर गौर सुंदरं अम्बिकापतिमभीष्ट सिद्धिदम् । रा० ७।मं०-४

(ग) कुंद-इंदु-कर्पूर-गौर,सच्चिदानंदघन । क०। ७।१५०

(५) शैवाल -- शैवाल के बारे में कवि प्रसिद्धि है कि यह जलाशय मात्र में (सभी जलाशयों में) होता है ।

शैवाल जलाशय का एक विकार ही है । यह जलाशय की निर्मल जलयुक्त शोभा पर आवरण डाल देता है । यह लौकिक सत्य भी है कि सभी जलाशयों में शैवाल नहीं होता । इसकी योजना में सौन्दर्य का कोई आग्रह या अन्य कोई विशेष सार्थकता दिखाई नहीं देती फिर भी कविप्रसिद्धि के द्वारा ऐसा नियम क्यों बना, समझ में नहीं आता ।

गोस्वामी जी के कथन इस प्रसिद्धि के प्रतिकूल हैं । वे सेवार (शैवाल) को जलाशय का हीन तत्व ही मानते हैं । मानस में रामचरित रूपी जिस भव्य सरोवर की योजना उन्होंने की है उसमें आग्रहपूर्वक शैवाल की उपस्थिति का निरसन किया है --

संबुक भेक सेवार समाना । इहां न विषय कथा रस नाना ।।

रा० ।१।३८

विनय पत्रिका में भी एक स्थान पर शैवाल की चर्चा आयी है और यहां भी यह हृदय के अवांछित भाव (माया,मोह,विषय विकारादि) के लिए सादृश्य योजना का कार्य करता है --

ज्यों सर बिमल बारि परिपूरन ऊपर कछु सेवार तृन छायो ।
जारत हियो ताहि तजिहौं सठ,चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो ।।

वि०प०।२४४

रामचरितमानस के 'पम्पासरोवर-वर्णन' में भी शैवाल वर्णित नहीं है । इसमें पुरइन के पत्रों के द्वारा जल को आवृत्त दिखाया गया है और इन पत्रों को मायारूप

बताया गया है ।[1] यहाँ पुरइन के पत्र भी विकार तत्व के व्यंजक उपादान हैं । जलाशय मात्र में शैवाल का वर्णन न तो यथार्थ की दृष्टि से सर्वांश में सत्य है और न ही यह चारुत्व का विधायक है । शायद इसीलिए गोस्वामी जी का झुकाव इस कवि प्रसिद्धि की ओर नहीं रहा ।

(६) चन्दन — इसके सम्बन्ध में दो कवि प्रसिद्धि है ।

१. चन्दन की उत्पत्ति मलय पर ही होती है ।
२. चन्दन के पेड़ में पुष्प-फल नहीं होते ।

चन्दन सम्बन्धी कवि समय का काव्य में दृढ़ता से अनुसरण नहीं किया गया । संस्कृत के कवियों में कालिदास, भारवि इत्यादि ने मलय पर्वत से अतिरिक्त दुर्दुर प्रदेश और हिमालय पर चन्दन वृक्षों का वर्णन कर इस प्रसिद्धि का उल्लंघन किया है । ऐसा लगता है कि काव्य के सन्दर्भ में इस प्रसिद्धि के पालन की कोई महत्वपूर्ण उपादेयता नहीं थी, इसीलिए कुछ कवि इसकी ओर से उदासीन रहे । डॉ० विष्णुस्वरूप ने इन प्रदेशों के अतिरिक्त उत्तरभारत (सहारनपुर) और कुछ मैदानी क्षेत्रों में चन्दन के पाए जाने की भौगोलिक सत्यता का उल्लेख किया है[2] किन्तु प्रसिद्धि के अन्तर्गत मलय पर्वत पर ही इसका वर्णन किया जाना चाहिए, क्योंकि वहां इसकी बहुलता और अत्यधिक शोभा देखी जा सकती है ।

तुलसी ने चन्दन विषयक प्रसिद्धियों में से प्रथम को अपनाया है, दूसरे का भी उन्होंने कहीं विरोध नहीं किया है । मानस के उत्तरकाण्ड में भरत जब राम से संतों की महिमा के बारे में जिज्ञासा व्यक्त करते हैं तो राम संत और असंत के पारस्परिक आचरण को बताते हुए चन्दन और कुठार का दृष्टान्त उनके समक्ष रखते हैं —

संत असंतन्हि कै असि करनी । जिमि कुठार चंदन आचरनी ।
काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ।। रा० । ७।३७

चंदन के काटे जाने का प्रसंग चन्दन के अन्य क्षेत्रों में भी तुलसी कह सकते थे अथवा वे मात्र पर्वत पर यह क्रिया दिखा सकते थे । स्थान का नाम भी वे न लेते तो भी

---

१. पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म । मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥ रा० ।३।३९
२. डॉ० विष्णुस्वरूप-कविसमय मीमांसा, पृष्ठ ६८

कोई विशेष अन्तर न पड़ता। किन्तु ऐसा न करके उन्होंने 'मलय' का नाम लिया है और इस कवि समय का अनुसरण किया है । अन्यत्र तुलसी की रचनाओं में कोई ऐसा प्रसंग नहीं है जहाँ चन्दन की उत्पत्ति मलयाचल पर अथवा कहीं अन्यत्र दिखाई गई हो । चन्दन में पुष्प फल होने अथवा न होने की बात भी उन्होंने कहीं नहीं कही है ।

सौर मण्डलीय कविसमय -- इसके अन्तर्गत हम चन्द्रमा, ज्योत्स्ना तथा अन्धकार (तिमिर) से सम्बद्ध कविसमयों को लेंगे । डॉ० विष्णुस्वरूप ने इन्हें आकाशवर्ग के अन्तर्गत रखा है । चन्द्रमा तो सौर मण्डल का उपग्रह है ही । ज्योत्स्ना का स्रोत भी वही है । अन्धकार भी धरतीतल के ऊपर को ही वस्तु है और वातावरण तथा उसके साथ ही आकाश से भी इसका सम्बन्ध है । इसीलिए इसे भी इसी वर्ग के अन्तर्गत हम ले रहे हैं । इन तीनों से सम्बद्ध कवि प्रसिद्धियों का विवेचन क्रमश: तुलसी-साहित्य के सन्दर्भ में यहाँ प्रस्तुत है --

चन्द्रमा -- कवि समय-विवेचकों ने चन्द्रमा से सम्बन्धित ३ कवि समयों का कथन किया है ।

१. चन्द्रमा में शश और मृग का अभेद ।
२. अत्रि-नेत्र से उत्पन्न तथा समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा में अभेद ।
३. शिव के ललाट पर चन्द्रमा का बाल रूप ।

इन तीनों कवि समयों में से द्वितीय का व्यवहार साहित्य में बहुत विरल है और तुलसी साहित्य में तो है ही नहीं । अत्रिनेत्रोत्पन्न चन्द्रमा की चर्चा उनके काव्य में कहीं भी नहीं आई है । तुलसी ने कहीं दोनों चन्द्र में न तो अभेद स्थापना की है और न भेद कथन । वे इस सम्बन्ध में एकदम मौन हैं । इसे चाहें तो इस प्रसिद्धि का उनके द्वारा मौनभाव से किया गया समर्थन ही मान सकते हैं । द्वितीय कवि समय का सोदाहरण उल्लेख हम देवों से सम्बद्ध कविसमयों में शिव के सन्दर्भ में कर चुके हैं । यहाँ उसका पुनर्कथन आवश्यक नहीं है । इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में चन्द्रमा से सम्बद्ध प्रथम कवि समय का विवेचन ही अभीष्ट है ।

१. चन्द्रमा में शश और मृग का अभेद --काव्य में चन्द्रमा के मध्य में शश की भी स्थिति स्वीकार की जाती है और मृग की भी । यह भी भेदयुक्त वस्तु में अभेदस्थापना करने वाली कविप्रसिद्धि है । कवि वृन्द कभी तो चन्द्रमण्डल में शश (खरगोश) का होना कहते हैं और कभी मृग का । काव्य में दीर्घकाल से इन दोनों तथ्यों का व्यवहार चल रहा है । उसमें अर्थभेद न हो, इसलिए यह कविसमय विधीत हुआ होगा । चन्द्रमा को शशि,शशाङ्क आदि कहना प्रकारान्तर से उसमें शश की स्थिति मानना है तथा उसे मृगाङ्क ,मृगलांछन आदि कहना उसमें मृग की स्थिति मानना है । फिर भी चन्द्रमा के ये सभी पर्याय इतने प्रचलित हो गए हैं कि काव्य में सर्वत्र इनका प्रयोग चन्द्रमण्डल में शश अथवा मृग की स्थिति के सम्बन्ध में किसी सुनिश्चित धारणा के आधार पर हुआ होगा, इसमें सन्देह है । इसलिए अब इसे कवि समय मानना भी बहुत संगत नहीं है ।

तुलसी के काव्य में चन्द्रमा के लिए इन दोनों प्रकार के पर्याय शब्दों का व्यव- हुआ है । इस आधार पर चन्द्रमा में शश और मृग दोनों की स्थिति के पोषक उदाहरण मिलते हैं --

क. कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई । कहहु काह निज निज मति भाई ।।रा०६।१२

ख. लोकपाल बल बिपुलससिग्रसन हेतु सब राहु ।

ग. सजनी ससि में समसील उभै, नवनील सरोरुह से बिकसे । क० १।१

चन्द्रमा में मृग की स्थिति –

क. कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा । जंह बस राम प्रेम मृग रूपा ।।रा०२।२१०

ख. देह सुधागेह ताहि मृगहू मलीन कियो,

ताहू पर बाहु बिन राहूगहियत है । क० २।४

ग. रतन जतन जरि कियो है मृगांक सो । क०।५।२५

इनमें से शश की स्थिति के पोषक दृष्टान्त तो मात्र चन्द्रमा के पर्याय'शशि' पर ही आधारित हैं किन्तु मृग की स्थिति के बारे में प्रथम और द्वितीय उद्धरण में स्पष्ट कथन किया गया है । तुलसी की धारणा इस प्रसिद्धि के आचरण के प्रति सजग रही हो या न रही हो, यह उनकी रचनाओं में विधिवत् घटित अवश्य होती है । किसी कवि के काव्य में अनजाने में ही यह प्रसिद्धि व्यवहृत हो सकती है किन्तु हमारी धारणा है कि कम से कम तुलसी-साहित्य में ऐसा नहीं हुआ है । चन्द्र-

मण्डल के मध्य में दिखायी पड़ने वाली कालिमा का रहस्य क्या है इसकी ओर तुलसी का ध्यान अवश्य गया होगा । उसमें मृग की स्थिति का स्पष्ट कथन हम उनके द्वारा दिखा ही चुके हैं । उस कालिमा के सम्बन्ध में और भी तरह-तरह की कल्पनाएँ तुलसी ने की हैं और उनके आधार पर 'शशिकेशरी रूपक' जैसा रमणीय प्रसंग सृजित किया है ।[१] इसलिए ऐसा विश्वास होता है कि वे चन्द्रमण्डल में शश अथवा मृग की स्थिति के बारे में एकदम असावधान नहीं थे ।

ज्योत्स्ना -- ज्योत्स्ना के विषय में दो कविप्रसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं -

१. यह अंजलि ग्राह्य और घड़े में भरने योग्य होती है

२. कृष्णपक्ष में इसका अभाव रहता है ।

तुलसी की रचनाओं में ऐसे उदाहरण प्राप्त नहीं हैं जिनमें प्रथम प्रसिद्धि का विनियोग उपलब्ध हो । दूसरी प्रसिद्धि का बोध उन्हें स्पष्ट रूप से था ।

कृष्णपक्ष में ज्योत्स्ना का अभाव -- कविमतानुसार कृष्णपक्ष में ज्योत्स्ना का अभाव रहता है । लोक में यह स्थिति वास्तविक नहीं है । कृष्णपक्ष में भी चांदनी की उतनी ही मात्रा होती है जितनी शुक्लपक्ष में और शुक्लपक्ष में अंधकार का उतना ही अंश होता है जितना कृष्णपक्ष में । किन्तु एक को शुक्लपक्ष (अन्धकार से रहित) और दूसरे को कृष्ण पक्ष (ज्योत्स्ना से रहित) समझा जाता है और कहा भी जाता है, यही इस प्रसिद्धि का विचारणीय स्वरूप है ।

उपर्युक्त कवि प्रसिद्धि का आधार पूर्णत्व की आदर्शपरक भावना है जो वर्णन में ह्रासोन्मुख तत्वों का निषेध तथा विकासोन्मुख तत्वों का ग्रहण करती है । तिमिर एवं ज्योत्स्ना की मात्रा समान होते हुए भी कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष में एक अन्तर है, वह यह कि कृष्णपक्ष में अन्धकार बढ़ता जाता है और शुक्लपक्ष में चांदनी । ज्योत्स्ना की दृष्टि से एक पक्ष अपकर्षशील है और दूसरा पक्ष उत्कर्षशील । कविजन इसी कारण दोनों में पृथक-पृथक रूप से सर्वांश में कृष्णता और शुक्लता का अस्तित्व भरते हैं । तुलसी रामचरितमानस में उक्त प्रसिद्धि के इस रहस्य का उद्घाटन इस प्रकार करते हैं --

---

१. द्रष्टव्य-रा० ६।१२

सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह ।

ससि सोसक पोषक समुझि जग जस अपजसु दीन्ह ।। रा० १।७

अर्थात् विधि ने वास्तविक अभेद की स्थिति में भी यह विचित्र नाम भेद किया है, और जगत ने एक को शशि का पोषक समझकर यश और दूसरे को शशि का शोषक समझकर अपयश प्रदान किया है । तुलसी ने इस कवि प्रसिद्धि को माना है और उक्त दोहे से ही प्रकट है कि वे कृष्णपक्ष में ज्योत्स्ना के अभाव के ऐसे कथन को जान बूझ कर स्वीकार करते हैं जो सत्य नहीं है । कवि मत के ही आग्रह से ऐसा उन्होंने किया है । सुभाषित रत्नभाण्डागार के एक श्लोक में भी ऐसा ही कहा गया है -

मासिमासि समो ज्योत्स्ना पक्षयो: कृष्णाशुक्लयो: ।

तत्रैक: शुक्लतां यातो यश: पुण्यैरवाप्यते ।।

तुलसी ने यद्यपि इस प्रसिद्धि का सर्वत्र समर्थन ही किया है और कहीं इसके विरुद्ध कोई बात नहीं कही है फिर भी अपने उस दोहे के द्वारा उन्होंने इस प्रसिद्धि का रहस्योद्घाटन अवश्य कर दिया है ।

तिमिर - तिमिर अन्धकार को कहते हैं । दो कवि समय तिमिर के सम्बन्ध में चर्चित हैं --

१. तिमिर सूचीभेद्यऔर मुष्टिग्राह्य होता है ।

२. शुक्लपक्ष में तिमिर का अभाव रहता है ।

प्रथम प्रसिद्धि का व्यवहार तुलसी की रचनाओं में कहीं नहीं हुआ है । अन्धकार को सूचीभेद्य और मुष्टिग्राह्य कहना उसके प्रगाढ़ और घनीभूत रूप के कथन की ही चेष्टा है ।

दूसरी प्रसिद्धि है शुक्लपक्ष में अन्धकार का अभाव । यह प्रसिद्धि उसी तरह मान्य है जैसे ज्योत्स्ना का अभाव कृष्णपक्ष में कवि प्रसिद्धि के द्वारा मान्य है । कृष्णपक्ष की ज्योत्स्ना ह्रासोन्मुखी होती है । शुक्लपक्ष में ज्योत्स्ना विकासो-न्मुखी होती है, इसीलिए उसमें तिमिर का अभाव कहा जाता है । ज्योत्स्ना के बारे में एतत्सम्बन्धी प्रसिद्धि का उल्लेख करते हुए जो दोहा उद्धृत किया गया है वही इस प्रसिद्धि की भी मान्यता को व्यंजित करेगा । शुक्लपक्ष में अंधकार का वर्णन तुलसी के काव्य में कहीं नहीं प्राप्त होता । कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रसिद्धि का

विरोधी वर्णन कहीं उनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता ।

(५) विविध कवि समय — अब तक तुलसी के काव्य में व्यवहृत होने वाले मुख्य-मुख्य कवि-समयों का उल्लेख किया गया । कुछ सामान्य कवि समय अब भी शेष रह गए हैं, इनका विवेचन विविध कविसमय के अन्तर्गत किया जाता है --

१. पर्वतमात्र में सुवर्ण-रत्नादि का वर्णन - कवि समय के अनुसार पर्वत का वर्णन चाहे जहाँ भी हो, उसमें सुवर्ण रत्नादि का वर्णन होना ही चाहिए । कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ण तथा रत्नादि पर्वत विशेष में ही न कहे जाकर पर्वत्र मात्र में कहे जाते हैं । यद्यपि लोक में ऐसा नहीं पाया जाता, इसलिए इस प्रसिद्धि में असत् गुण का निबन्धन मानना चाहिए । इस प्रसिद्ध के द्वारा पर्वत के उत्कृष्ट रूप का चित्रण अभीष्ट रहता है । स्वर्ण रत्नादि का होना पर्वत की विशेषता है ।

तुलसी ने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में इस प्रसिद्धि का अनुगमन किया है । रामराज्य में सभी पर्वत मणियों की खान प्रकट करने वाले बताए गए हैं —

प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी । जगदातमा भूप जग जानी ।।

रा० ।७।२३

परोक्ष रूप से इस प्रसिद्धि का अनुसरण 'रामभक्ति-चिन्तामणि' प्रसंग में हुआ है । यहाँ वेद, पुराण रूपी पुनीत पर्वतों में रामभक्ति मणि की प्राप्ति की संभावना बतायी गई है —

पावन पर्वत बेद पुराना । रामकथा रुचिरा कर नाना ।।

x x

भाव सहित खोजै जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ।।

रा०। ७।१२०

२. नारायण और माधव की एकता — राजशेखर ने काव्य में नारायण और माधव को एकार्थवाची मानने का विधान कवि समय के अन्तर्गत किया है ।[१] बहुधा नारायण

---

१. काव्यमीमांसा(षोडश अध्याय),पृ० २५७

का प्रयोग विष्णु के लिए और माधव का प्रयोग श्रीकृष्ण के लिए होता है । जहाँ अनेक एकार्थवाची शब्दों का ही साभिप्राय प्रयोग कवि लोग भिन्न-भिन्न अर्थ में करते हैं, वहीं किंचित् भिन्न भिन्न अर्थ वाले शब्दों का व्यवहार सामान्य प्रयोग में वे एक ही अर्थ में करने की स्वतन्त्रता भी चाहते हैं, जिससे काव्य रचना में आवश्यकतानुसार एक के स्थान पर दूसरे का व्यवहार किया जा सके । नारायण और माधव में अभेदार्थ या इस प्रकार के अन्य शब्दों में अभेदार्थ स्थापित करने के लिए विधीत कवि समय का यही मुख्य प्रयोजन है ।

विनय पत्रिका में नारायण और माधव दोनों शब्दों का व्यवहार ईश्वर के अर्थ में हुआ है --

नारायण- नौमि नारायणं नरं करुणायनं । वि०प०।६०

माधव - माधव जू मो सम मंद न कोऊ । वि०प० । ६२

यदि तुलसी की एकनिष्ठ भक्ति पर ध्यान दें तो एक विचित्र बात यह प्रतीत होती है कि ये दोनों शब्द न केवल ईश्वर के लिए बल्कि ईश्वर के विशेष अवतार 'राम' के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

३. स्त्रियों के कटाक्ष से कामियों का हृदय विदीर्ण होना -- ऐसे वर्णन उद्दाम शृंगार के अन्तर्गत आते हैं । तुलसी ने अपने काव्य के लिए जो विषय और दृष्टिकोण अपनाया इसमें कामार्त युवा-युवतियों की चेष्टाओं के खुले वर्णन के लिए कोई स्थान न था । परोक्ष रूप से तुलसी ने इस प्रसिद्धि का समर्थन नीति कथन के माध्यम से किया है मृगलोचनी स्त्रियों के नयन -बाणों के व्यापक प्रभाव का उल्लेख इन पंक्तियों में करते हैं --

क. श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि ।
मृगलोचनि के नयनसर को अस लाग न जाहि ।। रा० ७।७०

ख. को न हृदय नहि लाग कठिन अति नारि नयनसर । रा०क०७।११७

इन पंक्तियों में हृदय का विदीर्ण होना तो स्पष्टत: नहीं कहा गया है बाणों के आघात से हृदय का विदीर्ण होना सहज स्वाभाविक है ।

४. नाम और उपाधि में एकता -- नाम और उपाधि के को प्रसंगानुसार एकार्थवाची मानना भी कविसमय है । यद्यपि इन दोनों में भेद होता है, फिर भी कवि समय के आग्रह से इसका अभेदार्थ ही ग्राह्य होता है । नाम और उपाधि का यह एकत्व दो तरह का होता है -

१. पहला वह है जिसमें अर्थनिर्धारण के लिए प्रसंग का ध्यान अपेक्षित रहता है और नाम तथा उपाधि की एकता वहाँ अस्थायी रहती है तथा तुलसी ने 'अवधेश' शब्द का प्रयोग दशरथ के लिए भी किया है [1] और राम के लिए भी ।[2] इसी प्रकार 'लंकेस' शब्द का प्रयोग रावण के लिए भी हुआ है[3] और विभीषण के लिए भी ।[4]

२. दूसरा वह है जिसमें नाम और उपाधि का अभेद सदैव स्थायी रूप से वर्तमान रहता है यथा वाल्मीकि के लिए आदिकवि[5] वसन्त के लिए ऋतुराज[6] प्रयाग के लिए तीरथराज[7], गंगा के लिए देवसरि[8] आदि शब्दों का प्रयोग । इस प्रकार के नाम अपनी उपाधि के साथ काव्य में तदाकार हो गए हैं । इन्हें भिन्न भाववाची समझना काव्य के लिए व्याघातक होता अस्तु कवि समय के द्वारा इसकी वर्जना कर दी गई । इस प्रकार की वर्जनाओं का पूरा-पूरा निर्वाह तुलसी ने किया है ।

---

१. अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद को भूपति लै निकसे । क० १।१
२. अवधेस सुरेस रमेस विभो । सरनागत मांगत पाहि प्रभो ।। रा० ७।१४
३. कह लंकेस कौन तैं बंदर । मैं रघुबीर दूत दसकंधर ।। रा० ६।२०
४. सुनु कपीस अंगद लंकेसा । पावन पुरी रुचिर यह देसा ।। रा०।७।६
५. जानि आदि कवि नाम प्रतापू । भयउ सुद्ध करि उलटा जापू ।। श ० १।१६
६. प्रगटे तुरत रुचिर रितुराजा । नव कुसुमित तरु राजि विराजा ।। रा० १।८६
७. प्रमुदित तीरथराज निवासी ।
   बैखानस बटु गृही उदासी ।।
   रा० २।२०६
८. देवसरि सेवौं बामदेव गांउ रावरे ही । क० । ७।१६५

५. संख्या विषयक कवि समय -

काव्य में कुछ वस्तुओं की संख्याओं में भी कवि समय का प्रभाव बताया जाता है। इसमें एक वस्तु की कई संख्याएं मतभेद के अनुसार जानी जाती हैं। कवि समय के द्वारा कवि लोग उसका प्रसंग आने पर उन सभी का इच्छानुसार कथन करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। स्वायत्तता का यही लाभ कवियों को इस कविसमय से मिलता है। इससे कोई विशेष रचना सौन्दर्य उभरता हो, ऐसी बात नहीं है। तीन वस्तुएं भिन्न भिन्न संख्या में कही जाने के कारण कवि समय में गिनी जाती है -- ये हैं, दिशाएं, भुवन, और समुद्र।

दिशाएं -- दिशाएं चार, आठ और दश मानी जाती हैं। राजशेखर ने इसका यथा-तथ्य विवरण दिया है।[१] उन्होंने इसे देशकाल विभाग के अन्तर्गत माना जबकि परवर्ती विद्वानों ने इनको कवि समयों में सम्मिलित किया। एक ही कवि यदि-भिन्न भिन्न स्थलों पर दिशाओं की भिन्न भिन्न संख्याएं कहे, तो इसे कवि समय माना जा सकता है।

तुलसी ने भी दिशाओं की एक ही संख्या सर्वत्र नहीं स्वीकार की है। आठ दिशाओं का उल्लेख तो उन्होंने नहीं किया है किन्तु चार दिशाओं एवं दश दिशाओं की बात उन्होंने अनेक बार कही है। कुछ उदाहरण ये हैं --

चार दिशाएं -

क. खाईं सिंधु गंभीर अति चारिहुं दिसि फिरि आव। रा० ।१।१७८

ख. चहुं दिसि कंचन मंच बिसाला। रा० १।२२४

ग. सरद चांदनी संचरत चहुं दिसि आनि। ब०रा०। ४१

दश दिशाएं --

क. दमकति दुसह दसहुं दिसि दामिनि
भयो तम गगन गंभीर। कृ०गी०।१८

ख. मंगल कलस दसहुं दिसि साजे। रा०।१।६१

ग. देखि निविड़ तम दसहुं दिसि

---

१. काव्यमीमांसा (अध्याय १७) पृ० २८५-२८६

दिशाओं की उक्त दोनों संख्याएं तुलसी-साहित्य में बहुत बार कही गई हैं ।
भुवन -- दिशाओं की भांति भुवनों की भी तीन संख्याएं काव्य में स्वच्छन्द रूप से व्यवहृत होती है । ये हैं --तीन, सात और चौदह । राजशेखर ने इनका भी उल्लेख देशकाल विभाग के अन्तर्गत किया है ।[1] उन्होंने इसका शास्त्रीय आधार भी प्रस्तुत किया है । भू: भुव: , स्व: ये तीन लोक हैं, जो त्रिभुवन के वाचक हैं । इनमें मह: , जन: तप:, सत्य: , को मिलाने से सात (सप्त भुवन) तथा इनमें भी सात वायुस्कन्धों को मिलाने से चतुर्दश भुवनों की मान्यता होती है ।

तुलसी ने अपनी रचनाओं में भुवनों की दो संख्याएं स्वीकार की हैं --तीन और चौदह । सप्तभुवन की मान्यता उनके काव्य में कहीं नहीं मिलती । अपने आराध्य राम को उन्होंने त्रिभुवन धनी कहा है तथा समष्टिप्रसार की व्यंजना के लिए चौदह भुवनों को अपनाया है । कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं -

त्रिभुवन -

क. त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी ।
ख. सिंघासन पर त्रिभुवन साईं । रा० ७।१२
ग. मन मूरति धरि उभय भाग भईं
त्रिभुवन सुन्दरताईं । गी०।१।५०

चौदह भुवन -

क. जारै भुवन चारिदस आसू । रा० । ६।५५
ख. सुजस धवल चातक नवल
तुही भुवन दस चारि । दो० २६५
ग. जयति जय भुवन दस चारि जस जगमगत
पुण्यमयधन्यजय राम-राजा । वि०प०।४४

----

१. काव्यमीमांसा (१७ वां अध्याय) पृ० २६६-७०

गीतावली में 'दसचारिपुर' शब्द भी चतुर्दश भुवनों का ही अभिप्राय व्यक्त करता है ।[१] दोहावली में 'त्रिभुवन' का प्रयोग मिलता है ।[२] त्रिभुवन विषयक इन उभय संख्याओं के यादृच्छिक व्यवहार से कवि की निर्भीकता उजागर होती है और रचना धर्मिता को बल मिलता है ।

समुद्र -- समुद्रों की संख्या के बारे में भी कई मत हैं । कुछ लोग चार समुद्र मानते हैं तथा कुछ सात । कवि इन दोनों संख्याओं का व्यवहार यथाप्रसंग स्वच्छन्द होकर करते हैं । इसे भी संख्यावाची कविसमय के अन्तर्गत रखा जा सकता है । संस्कृत और हिन्दी साहित्य में इस कवि समय का व्यवहार भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है, किन्तु यह एक संयोग की ही बात है कि तुलसी-साहित्य में यह कवि समय कहीं नहीं मिलता । उन्होंने मात्र एक स्थान पर सप्तसागर का उल्लेख किया है -

भूमि सप्तसागर मेखला । एक भूप रघुपति कोसला ।।   रा० ७।२२

६. वर्ण विषयक कविसमय - वर्ण विषयक कवि समय के दो प्रकार हो सकते हैं -

१. असमान वर्णों में वर्ण साम्य मानना ।

२. वर्णहीन वस्तु का वर्ण विनिश्चय करना ।

ये दोनों ही कवि समय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर से सम्बद्ध हैं ।

१. असमान वर्णों में अभेद मानना - इसके अन्तर्गत प्राय: दो भिन्न वर्णों में (रंगों) में अभेद स्थापना की जाती है । इन दोनों में यद्यपि भिन्नता ही होती है, फिर भी सामान्य दृष्टि से देखने पर किंचित् साम्य दिखाई देता है । इसी किंचित् साम्य के आधार पर ही साहित्य में दीर्घकाल से परस्पर दोनों वर्णों वाली वस्तुओं में उपमेय-उपमान जैसा सम्बन्ध चलता रहा है । सूक्ष्म दृष्टिपात करने पर काव्य-रसिक को इस वर्णभेद का पता चल सकता है, उसकी धारणा ऐसे सादृश्य-विधान के विरुद्ध हो सकती है और इस प्रकार पूर्ववर्ती काव्य सदोष माना जा सकता है तथ भावी कवियों के लिए रचना के उपकरण सीमित हो सकते हैं । इन आशंकाओं से ही असमान वर्णों में वर्णसाम्य माना गया और इस कवि समय का विधान काव्य के लिए किया गया ।

---

१. तुलसी बिहाइ दसरथ दसचारिपुर ,ऐसे सुखजोग बिधि बिरच्यो न बियो है ।

२. दो० । ३२०,५३०

काव्य में जिन वर्णयुग्मों का अभेद बोधक प्रयोग बहुलता से प्रचलित है, उन्हें ही कवि समय में गिना गया है। राजशेखर ने पांच वर्ण युग्मों में अभेदत्व बताया[१] है। कवियों ने भी प्राय: इन्हीं पांच वर्णयुग्मों में अभेद निरूपित किया है। नए प्रयोग या तो कवियों ने किए ही नहीं या अनुकरण के अभाव में उनकी कोई सुदृढ़ परम्परा गठित नहीं हुई। तुलसी के काव्य के सन्दर्भ में इस कवि समय का विवेचन इन्हीं पांच वर्णयुग्मों पर आधारित है।

कृष्ण और श्याम वर्ण में अभेद -ये दोनों वर्ण प्रकृति से एक ही हैं। श्याम में रंचक श्यामलता होती है। जबकि कृष्ण में एकदम कालापन। इस आधार पर श्याम को कृष्णाभ कहा जा सकता है। सुन्दर रूप की कल्पना श्यामल और गौरवर्ण मनुष्य में ही की गई है। काला होना तो विरूपता मानली जाती है। इसीलिए कृष्ण और श्याम को अभेदार्थक माना जाता है। सुन्दर रूप के वर्णन में कृष्ण-वर्ण का भी तात्पर्य श्यामवर्ण तथा विरूपता के प्रसंग में श्यामवर्ण का भी अर्थ कृष्ण वर्ण माना जाता है। काव्य में श्रीकृष्ण का रूप वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है। उनका नाम कृष्ण भी है और श्याम भी। ऐसा लगता है कि दोनों अभिधान शारीरिक वर्ण पर ही आधारित है, फिर भी अभेदार्थ द्वारा उनका वर्ण श्यामल ही माना जाता है।

तुलसी ने रूपवर्णन में इन दोनों वर्णों का एकत्व कहीं योजित नहीं किया है। सौन्दर्यग्राही कलाकार ने सदैव मानव प्राणियों को श्यामल या गौरवर्ण का अभेदत्व देख सकते हैं। गीतावली में श्याम जलद की समानता भ्रमरों से की गई है, जो एकदम काले होते हैं। इन दोनों में सूक्ष्म वर्णभेद है --

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगरंगे सृंगनि।
मनहुं आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि।। गी० १।५०

---

१. कृष्णनीलयो: कृष्णहरितयो: कृष्णश्यामयो: पीतरक्तयो: शुक्ल गौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कवि समय:। काव्यमीमांसा (१५ वां अध्याय), पृ० २४६

यद्यपि श्याम जलद और भ्रमर में वर्णभेद है फिर भी कविसमय के प्रभाव से इसमें अभेद ही माना जायगा ।

कृष्ण और नील वर्ण में अभेद -- कृष्ण और नीलवर्ण में अभेद का तात्पर्य श्याम और नीलवर्ण में अभेद है । तुलसी की रचनाओं में इसके अनगिनत उदाहरण मिल सकते हैं । यह अभेद प्राय: श्यामल वर्ण वाले राम के रूपांकन में दिखायी देता है । उनके सादृश्य के लिए नीलकमल को ग्रहण किया गया है । तुलसी ने राम के मुख और वर्ण की सर्वाधिक उपमाएं नीलकमल से ही दी हैं । नील सरोरुह, नीलकंज, नील जलज, नील तामरस आदि नीलकमल के पर्याय हैं जो बहुश: राम के वर्ण और अंगों के चित्रण के लिए लाए गए हैं --

क. नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन । रा०।१।म०
ख. नीलकंज तन सुंदर स्यामा । रा० ६।५६
ग. नीलजलज तन स्याम तमाला । रा० ।१।२०६
घ. नील तामरस स्याम काम अरि । रा० ७।५१

नीलमणि और नीलनीरद से भी राम का सादृश्य दिखाया गया है जो इन दो वर्णों के अभेदत्व को पुष्ट करता है । सत्य तो यह है कि कृष्ण और श्याम वर्ण ही परस्पर भिन्न हैं तथा नील वर्ण तो इन दोनों से भिन्न है किन्तु इन समस्त प्रयोगों में नीलवर्ण भी राम के वास्तविक श्यामल वर्ण की ही पुष्टि करते हैं ।

कृष्ण अथवा श्याम और नीलवर्ण में अभेद मानने का एक और स्वरूप तुलसी-साहित्य में है, जिसमें कविप्रसिद्धि के बल पर कवि ने बड़ा ही विचित्र प्रयोग कर दिया है । इसमें उपमान वस्तु को उसके वास्तविक वर्ण में प्रस्तुत न करके उस पर उपमेय का ही वर्ण आरोपित कर दिया गया है । राम के शरीर की छवि यहाँ श्याम तामरस के समान बताई गई है --

क. स्याम नव तामरस दाम बारिद बरनं ।
ख. स्याम-नवतामरस-दाम-द्युति-वपुष-छबि । वि०प०।६०

ध्यान देने की बात है कि स्याम तामरस अर्थात् श्यामवर्ण का कमल तो

होता ही नहीं । कवि समय के अनुसार इसका अर्थ नीलकमल ही माना जायगा ।
कृष्ण और हरित वर्ण में अभेद --कृष्ण (श्याम) और हरित वर्ण का अभेदत्व भी शरीर वर्णन में देखा जा सकता है । एक दो स्थानों पर गोस्वामी जी ने श्याम वर्ण वाले राम की समानता मरकत मणि से की है ।

क. मरकत मृदुल कलेवर स्यामा ।
हृदय राखु लोचनाभिरामा ।। रा० ७।७६

ख. मानो मरक्कत-सैव बिसाल में
फलि चलीं बर बीर बहूटी ।। क०।६।५१

मरकत मणि या तो हरी होती है या पर्याप्त हरिताभ । कवि समयानुगामिनी कवि की वाणी ने सूक्ष्म वर्ण भेदों से ऊपर उठकर बार-बार राम के सांवरेपन को मरकतमणि के सदृश बताया है । ऐसे प्रयोगों में मरकत मणि को श्यामवर्णी ही मानना संगत होगा ।

शुक्ल और गौरवर्ण में अभेद - गौराङ्गता की तीव्र व्यंजना के लिए काव्य में शुक्लता-विधायक अप्रस्तुतों का ग्रहण होता है । शुक्ल और गौरवर्ण में अभेद इसी प्रयोजन से मान्य है । गौरवर्ण में उज्ज्वलता के साथ कुछ पीतिमा और अरुणिमा का भी सम्मिलित आभास होता है, जबकि शुक्लवर्ण शुद्ध उज्ज्वलता की राशि होता है ।

तुलसी ने गौराङ्गता की व्यंजना प्राय: चन्द्र, शरदकालीन चन्द्र, विद्युच्छटा (दामिनी), कुन्दपुष्प तथा कर्पूर से की है । वास्तव में ये सभी वस्तुएं शुक्ल या श्वेतवर्ण वाली हैं गौरवर्ण वाली नहीं, किन्तु कविसमयानुसार इनसे गौरत्व का ही बोध किया जाता है । इस प्रसिद्धि का सीधा सम्बन्ध स्त्री या पुरुष के रूप वर्णन से है । इस प्रसिद्धि के अभाव में उपर्युक्त सभी अप्रस्तुत सदोष मान लिए जा सकते थे ।

गौरवर्णी सीता तथा गौरवर्ण लक्ष्मण और शिव के शरीर की छवि का वर्णन करने के प्रयोजन से शुक्लवर्ण वाले अप्रस्तुतों को तुलसी ने सदैव ग्रहण किया है । एतत्सम्बन्धी कुछ पंक्तियां यहां प्रस्तुत हैं --
सीता के वर्ण का बोध 'शरद विधु' एवं 'दामिनी' के द्वारा --

क. सरद बिमल बिधु बदल सुहावन । नयन नवल राजीव लजावन ।।रा०१।३१६

ख. सांवरे गौरे के बीच भामिनी सुदामिनी सी । क० २।१४

लक्ष्मण के वर्ण का बोध दामिनी के वर्ण से --

क. रूप के निधान, घन-दामिनी-बरन हैं । क०१।१७

शिव के वर्ण का बोध कुन्द-इन्दु, कर्पूर आदि से --

क. कुन्द इन्दु सम देह उमा रमन करुना अयन । रा०।१।मं०

ख. कर्पूर गौर करुना उदार । वि०प० ।१३

गौर और शुक्ल वर्ण में अभेद का स्पष्ट आभास इन पंक्तियों में होता है । इस अभेद को माने बिना हम इनके द्वारा गौराङ्गता का बोध कर ही नहीं सकते, क्योंकि शुक्लवर्ण, गौरवर्ण के लिए अवश्य ही व्याघातक होगा ।

असमान वर्णों में अभेद स्थापना को तुलसी की पंक्तियों के सन्दर्भ में चार वर्ण-युग्मों का आधार लेकर व्याख्यायित किया गया । राजशेखर द्वारा बताए गए पांच वर्णयुग्मों में से अब एक ही शेष रह जाता है । यह पीतवर्ण और रक्तवर्ण की अभेदता है । तुलसी के काव्य में इन दोनों वर्णों के अभेद को व्यक्त करने वाला कोई उदाहरण सुगमता से प्राप्त नहीं होता । इस अभेदत्व का उल्लंघन भी उनके काव्य में नहीं मिलता । निष्कर्ष यह है कि कुछ असमान वर्णों में अभेद मानने की जो धारणा कवि समय के अन्तर्गत चल रही थी उसे तुलसी ने सर्वांश में मान्यता प्रदान की है ।

२. वर्णहीन का वर्ण-विनिश्चय -- लोक में मूर्त वस्तुओं का तो कोई न कोई वर्ण होता ही है, किन्तु अमूर्त वस्तुओं का कोई वर्ण नहीं हो सकता । ऐसे कुछ अमूर्त और इस कारण से वर्णहीन तत्त्वों का वर्ण काव्य में कल्पित किया जाता है, जो कविप्रसिद्धि है । राजशेखर ने इस प्रसिद्धि में असत् गुण का निबन्धन न होना बताया है ।[१] इस प्रकार की कुछ प्रमुख प्रसिद्धियों की चर्चा ही यहाँ की जायगी ।

----

१. असतो गुणस्य निबन्धनं यथा यशोहास प्रभृते: शौक्ल्यम् अयशस: पाप प्रभृतेश्च रक्तत्वम् ।

काव्यमीमांसा (पंचदश अध्याय), पृ० २४५-४६

यश की शुक्लता -- काव्य में यश को सदैव शुभ्र वर्ण या उज्ज्वल वर्ण माना गया है। उसे यह वर्ण दिया जाना उसकी उदात्तता, निर्मलता और निष्कलुषता का प्रतीक है। श्लाघ्य और शालीन अभिव्यक्ति के लिए उसे वर्ण दे देने की यह प्रणाली अत्यन्त प्रभावशाली है, किन्तु जहां उसे चमत्कार-विधान और ऊहाविधान में प्रयुक्त किया जाता है, उसके दुरुपयोग की आशंका रहती है।

तुलसी ने इस प्रसिद्धि को सहज एवं प्रभावशाली ढंग से इन पंक्तियों में अपनाया है --

क. रघुपति कीरति कामिनी क्यों कहै तुलसीदास।
सरद प्रकास अकास ससि चारु चिबुक तिल जासु ।। दो० ।१६१

ख. रिसि पुलस्त्य जस बिमल मयंका।
तेहि ससि मंह जनि होहु कलंका ।।रा०।५।२३

पार्वतीमंगल में कलकीर्ति की धवलिमा के चतुर्दश भुवन में भर जाने का उल्लेख है।[१] प्राय: तुलसी ने यश को विमल कहा है,[२] इसका भी आशय शुक्लता से ही है। हास की शुक्लता :-- कवि प्रसिद्धि के अनुसार हास का शुक्ल वर्ण कवियों द्वारा मान्य है। मध्यकाल के बहुत से कवियों ने इस मान्यता का अतिरंजनात्मक उपयोग किया है। तुलसी ने इस प्रसिद्धि का व्यवहार बहुत ही शिष्टता के साथ किया है। बालक राम की हंसी की समानता उन्होंने शशि किरणों से की है --

ललित कपोल मनोहर नासा।
सकल सुखद ससि कर सम हासा ।। रा० ।७।७७

----

१. नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरै। पा०मं० ।४३
२. दलि ख दुख दोष बिमल जस देहीं । रा० १।७

सरल कबित कीरति बिमल जेहि आदरहिं सुजान । रा० १।१४

रघुपति कीरति बिमल पताका। रा०। १।१७

इस चौपाई से हास की शुक्लता स्पष्ट व्यंजित होती है ।

अयश और पाप की कृष्णता-- काव्य में यश को शुभ्र कहने पर अयश को उसके विपरीत वर्ण वाला (काला) कहना उचित और स्वाभाविक है । पाप के लिए भी काव्य में कृष्णवर्ण मान्य है, इसका कारण कालुष्य की मलिनता की तदनुरूप भावव्यंजकता है । पाप और अयश में कारण-कार्य सम्बन्ध होने से ये दोनों निकटवर्ती हैं । पाप ही अयश का कारण होता है, इसी कारण से काव्य में इन्हें एकवर्णी माना गया है ।

रावण के कर्म पाप और अयशमूलक है जबकि उसके कुल का यश शशि के समान उज्ज्वल है । रावण अपने कर्म से उस शशि में कलंक (कालिमामय) के तुल्य सिद्ध हो रहा है --

रिसि पुलस्त्य जस बिमल मयंका । तेहि ससि महं जनि होउ कलंका ।।

रा० ५।२३

इस चौपाई में पाप का कृष्णवर्ण स्पष्ट है । गीतावली में पश्चाताप से जलते हुए भरत राम वनवास के अनन्तर अपने मुख में लगी हुई जिस कालिमा के प्रक्षालन की बात कहते हैं वह अयश की ही कालिमा है --

जो पै हौं मातुमते महं ह्वैहौं ।

तौ जननी जग में या मुख की कहां कालिमा ध्वैहौ । गी० । २।६२

इस प्रकार अयश और पाप का कृष्ण वर्ण भी तुलसी ने यथास्थान सर्वत्र स्वीकार किया है ।

क्रोध का रक्तत्व --काव्य में क्रोध की रक्तवर्ण स्थिति मानी जाती है । तुलसी ने भी इस मान्यता को स्वीकार किया है । रौद्र रस के प्रसंगों में आश्रय के अनुभावों को देखने पर उनकी कविता में क्रोध की रक्तिमा स्पष्ट हो जाती है । हनुमान का मुख क्रोध से लाल हो जाता है --

तेज को निधान मानो कोटिक कृसानु भानु

नख बिकराल मुख कैसो रिस लाल भो । क०।५।४

क्रोध को तुलसी ने कई बार आग का रूपक दिया है ।[१] आग भी रक्तवर्ण या लाल-

---

१. राम रोष पावक अति घोरा । होइहि सुलभ सकल कुलतोरा । रा०।३।२६

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू । जारइ भुवन चारिदस आसू ।। रा० ६।५४

पंचम अध्याय

तुलसी-साहित्य में वर्णनात्मक अभिप्राय

वर्णनात्मक अभिप्राय से आशय काव्यरचना के अन्तर्गत वर्णन के उद्देश्य से प्रयुक्त होने वाले रूढ़ उपादानों से है । वर्णन कवि का एक प्रमुख और अनिवार्य व्यापार है । अतएव वर्णनात्मक अभिप्राय काव्य सम्बन्धी अभिप्राय (साहित्यिक अभिप्राय) का एक प्रमुख अंग है । इस अध्याय में वर्णन के ऐसे ही रूढ़ और परम्परागत उपादानों का अध्ययन तुलसी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में करना अभीष्ट है । ऐसे अभिप्रायों को 'वर्णनात्मक अभिप्राय' की संज्ञा दी गई है । वर्णन सम्बन्धी काव्यरूढ़ियों के लिए वर्णनात्मक अभिप्राय शीर्षक का प्रयोग सर्वथा नवीन न होते हुए भी अभी अल्पप्रचलित है । 'साहित्यिक अभिप्राय' किंचित मात्रा भेद के साथ काव्य सम्बन्धी अभिप्राय अथवा काव्यरूढ़ि का ही बोधक है । डॉ० ब्रजविलास श्रीवास्तव ने साहित्यिक अभिप्राय (लिटरेरी मोटिफ) को काव्य सम्बन्धी अभिप्राय का समानार्थी बताते हुए वहीं पर वर्णनात्मक अभिप्राय (डिस्क्रिप्टिव मोटिफ) संज्ञा का प्रयोग भी किया है ।[1] प्रस्तुत विशेष विवेचन में इसे ही युक्ति संगत समझ कर स्वीकार कर लिया गया है ।

वर्णनात्मक अभिप्रायों की उपादेयता सर्जक के वर्णन व्यापार में निहित होती है । कवि अनेक लोक एवं लोकोत्तर वस्तुओं को काव्य में वर्ण्य विषय बनाता है ।

---

१. इसके साथ ही दूसरे प्रकार के अभिप्राय भी प्रत्येक देश के साहित्य में प्रचलित हो जाते हैं उन्हें विद्वानों ने वर्णनात्मक अभिप्राय(डिस्क्रिप्टिव मोटिव्स) कहा है । उसका भी मुख्य कारण अनुकरण ही होता है ।
--ब्रजविलास श्रीवास्तव पृथ्वीराज रासो में कथानकरूढ़ियाँ, पृ० २०

'कवि: मनीषी परिभू: स्वयंभू' इस उक्ति का 'परिभू:' शब्द उसी अर्थ का द्योतक है कि कवि सृष्टि में व्याप्त विविध विषयों को अपने शब्दों के माध्यम से प्रत्यक्षीकृत करता है। यद्यपि इसका सम्बन्ध कवि की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को दिया जाता है, तथापि कवि समाज में इस सम्बन्ध में कुछ सुनिश्चित उपादान भी प्रचलित हैं, जो वर्णन व्यापार में सहायक सिद्ध होते हैं। यही उपादान वर्णनात्मक अभिप्राय की सीमा में आते हैं। इनकी परिकल्पना वर्ण्यवस्तु के भव्यतम रूप पर आधारित होती है। कवियों के लिए ये वर्णनात्मक अभिप्राय सहायक सामग्री की भाँति उपयोगी होते हैं। यद्यपि इनका शास्त्रोल्लेख करने वाले आचार्यों ने सभी कवियों या साहित्यकारों द्वारा इसकी अवधारणा किए जाने तथा कविकर्म में अनिवार्य रूप से इनका आश्रयण करने पर बल दिया तथापि काव्यरचना प्रक्रिया की तटस्थ विवेचना में इन वर्णनात्मक अभिप्रायों को कवि के लिए सहायक सामग्री ही माना जा सकता है। इसे कवि की अनिवार्य सामग्री होने का अतिरिक्त गौरव देना ठीक नहीं है। इन अभिप्रायों का आधार यदि वर्णन में लिया जाय तो उससे काव्य में निश्चयत: कुछ वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है तथा अज्ञानतावश या भ्रमवश कुछ बड़ी कमियों के रह जाने की आशंका मिट जाती है। इसके माध्यम से वर्ण्यवस्तु के सर्वाङ्गीण सुन्दर तथा अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप का वर्णन सम्भावित रहता है। जो कवि इन वर्णनात्मक अभिप्रायों का आधार ग्रहण नहीं करते वे अपने मौलिक चिन्तन तथा कल्पना के आधार पर वर्ण्यवस्तु का वर्णन कर सकते हैं, अपने मनोभावों के साथ उसका संश्लिष्ट और विशिष्ट रूपांकन भी कर सकते हैं जो उत्तम काव्य होगा। किन्तु इसके लिए महान् प्रतिभा की तथा वर्ण्य वस्तुओं का निरीक्षण कर उनके सर्वाङ्गीण और भव्यतम रूप की अवधारणा की अपेक्षा रहती है जो बिरले साहित्यकारों में ही देखी जाती है। उसका किंचित् भी अभाव वर्णन में बहुत बड़ी त्रुटि उत्पन्न कर सकता है। अतएव काव्य-सृजन में रत अधिकांश रचयिताओं के लिए वर्णनात्मक अभिप्रायों की उपादेयता असंदिग्ध है। इतना अवश्य है कि इन अभिप्रायों पर आधारित वर्णनों में वर्ण्यवस्तु की जातिगत विशेषताएं तो पर्याप्त उभरती हैं, किन्तु व्यक्तिगत पृथकताएं नहीं उभरती। उसके लिए यथार्थ का ज्ञान और रचनाकार की मौलिक दृष्टि का योग आवश्यक रहता है। फिर भी एक सीमा तक वर्णनात्मक

अभिप्रायों का महत्व काव्य रचना के लिए अक्षुण्ण है ।

वर्णनात्मक अभिप्राय का शास्त्रीय विवेचन

वर्णनात्मक अभिप्राय काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में विवेचित 'कविशिक्षा' प्रकरण से सम्बद्ध है । संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' तथा क्षेमेन्द्र कृत 'कविकण्ठाभरण' नामक दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें 'कविशिक्षा' पर विस्तार से लिखा गया है । कवि किस वस्तु का वर्णन करते समय किन-किन उपादानों को ध्यान में रखे और उसे अपने वर्णन में सम्मिलित करे यह कविजनों के लिए एक शिक्षा है । अतएव इस विषय का कविशिक्षा के अन्तर्गत समाविष्ट होना औचित्यपूर्ण ही है, किन्तु राजशेखर और क्षेमेन्द्र ने कविशिक्षा पर जितना कुछ लिखा उसमें अन्य बातों की प्रधानता रही, वर्णन सम्बन्धी अभिप्रायों का इन ग्रन्थों में संकेतमात्र किया गया है । स्वतन्त्ररूप से इन दो ग्रन्थों में यह विषय यथोचित मात्रा में उभर कर सामने नहीं आ सका है । राजशेखर ने काव्यमीमांसा के दशम अध्याय में कुछ कवि-परम्परा विहित वर्ण्य वस्तुओं का उल्लेख किया है, जिन्हें हम वर्णनात्मक अभिप्रायों के अन्तर्गत ही मान सकते हैं, यद्यपि उन्होंने इसे कवि समय से जोड़ दिया है । संस्कृत के अन्य बड़े काव्याचार्यों का ध्यान वर्णन सम्बन्धी अभिप्रायों की ओर नहीं गया ।

वर्णनात्मक अभिप्राय का समुचित विवेचन और विकास देखने के लिए हमें १६ वीं शताब्दी तक आना पड़ेगा । इस शताब्दी के पूर्व कवि शिक्षा पर अन्य कई शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना का पता चलता है, किन्तु उनमें से अधिकांश अप्राप्त हैं । जो ग्रन्थ मिलते भी हैं उनमें वर्णनात्मक अभिप्रायों का विवेचन नहीं है । बीच के इन ग्रन्थों में अरिसिंह और अमर चन्द्र रचित 'काव्यकल्पलता वृत्ति' अमरचन्द्र द्वारा लिखित 'कविशिक्षा वृत्ति' देवेश्वर द्वारा लिखित 'कविकल्पलता', राघवचैतन्य लिखित 'कविकल्पलता' तथा गंगादास लिखित 'कविशिक्षा' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं । १६ वीं शताब्दी में केशव नामधारी दो आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में वर्णन विषयक अभिप्रायों की व्यवस्थित चर्चा की । इनमें प्रथम है आचार्य केशव मिश्र जिन्होंने अलंकारशेखर नामक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा और दूसरे हैं आचार्य केशवदास जिन्होंने कविप्रिया एवं रसिकप्रिया नामक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की । एक ही शताब्दी में हुए उन

दोनों आचार्यों में से प्रथम ने संस्कृत में ग्रन्थ रचना की और द्वितीय ने हिन्दी में। दोनों ने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत विषय की विस्तृत चर्चा की है, यद्यपि उन्होंने इसके लिए 'वर्णनात्मक अभिप्राय' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। केशव मिश्र ने अलंकारशेखर के षष्टरत्न की द्वितीय मरीचि में इसका सूचीबद्ध उल्लेख करते हुए इसे 'वर्णनीयम्' कहा है। आचार्य केशवदास ने कविप्रिया के पांचवें प्रभाव में काव्यालंकार के अन्तर्गत सामान्यालंकार में प्रस्तुत विषय का उल्लेख किया है। वस्तुत: वर्णनात्मक अभि-प्राय, अलंकार से भिन्न काव्यांग है, किन्तु केशवदास ने कविप्रिया में अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। अर्थविस्तार के ही आधार पर उन्होंने सामान्या-लंकार नामक एक स्वतन्त्र वर्ग की कल्पना अलंकार विवेचन में कर डाली है। प्रचलित अर्थों में काव्य के जिन रचना-धर्मों को अलंकार की संज्ञा दी जाती है, उन सब का विवेचन केशवदास ने 'विशिष्टालंकार' के अन्तर्गत किया है। सामान्यालंकार के अन्त-र्गत उन्होंने काव्य में जीवन और जगत की विभिन्न वस्तुओं के वर्णनीय तथ्यों का परिचय ही दिया है। उन्होंने सामान्यालंकार के वर्ण, वर्ण्य, भू श्री और राज श्री नामक चार भेद किए हैं।[१] वर्ण के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं एवं प्राणियों के वर्णों (रंगों) का ऐसा उल्लेख प्राप्त है जो काव्य रचना में मान्य है। वर्ण्य के अन्तर्गत वस्तुओं की उस प्रमुख विशेषता का उल्लेख है, जिसका कथन काव्य में रमणीयता और सौन्दर्य का विधायक होता है। भू-श्री (भूमि-भूषण) के अन्तर्गत देश, नगर वन, वाटिका, पर्वत, सरिता तथा सरोवर इत्यादि के वर्णनीय अंगों का उल्लेख है, प्रकृतिवर्णन के अन्य विषय भी इसमें समाविष्ट हैं। राज श्री के अन्तर्गत राजा, रानी, मंत्री, दूत, सेना, युद्ध, प्रयाण आदि के वर्णनीय तत्त्वों की सूची प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार काव्य-वर्णन से सम्बद्ध परम्परित विषयों को इन्हीं चार वर्गों के अन्तर्गत समेट लिया गया है। यद्यपि इस प्रकार की प्रचलित वर्ण्यवस्तुओं का कोई अन्त नहीं है और न ही यह सम्भव है कि उन सबके वर्णनीय अंगों-उपांगों का सम्पूर्ण उल्लेख किया जाय, फिर भी कुछ प्रमुख वर्ण्य वस्तुओं के बारे में इस प्रकार का शास्त्र विधान कर आचार्यों ने काव्य रचना के इस विशिष्ट आशय का उद्घाटन किया है। केशव मिश्र और आचार्य केशवदास इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, जो संयोगवश हमारे

---

१. सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण वर्ण्य भू राजश्री भूषण केशवदास ।। केशवदास-कविप्रिया, पांचवां प्र/ अप-

जाता है, उसके परवर्ती रचनाकार उस विषय के वर्णन में उसका अनुसरण करते हैं। [illegible] उक्त प्रथम रचनाकार का वर्णन वर्णनात्मक अभिप्राय से प्रेरित न होकर शेष अनुसरी कवियों का वर्णन वर्णनात्मक अभिप्राय से प्रेरित समझा जाना चाहिए, क्योंकि 'अभिप्राय' शब्द में परम्परापालन अथवा रूढ़ि का भाव निहित है। प्रथम रचनाकार ने परम्परा का सूत्रपात किया और परवर्ती रचनाकारों ने उसका पालन। प्रथम रचनाकार के वर्णन में भी वही तथ्य हैं जो अनुगामी रचनाकारों के वर्णन में है। इसलिए यह कहना ठीक है कि आरम्भिक कवियों ने वर्णन में जिन अवयवों को ग्रहण किया उसमें वर्णनात्मक अभिप्राय की प्रेरणा निहित नहीं थी। काव्य रचना के आरम्भकाल के **वो** कुछ कृतिकारों को ही ऐसा कहना ठीक होगा। उसके बाद क्रमश: परम्परा बनने लगती है और उसका पालन होने लगता है। वस्तुत: वर्णनात्मक अभिप्रायों के निर्माण की यह प्रक्रिया स्थूल और अनुमानित सत्य है। क्योंकि इसका कोई सुनिश्चित काल निर्धारण सम्भव नहीं। वर्णन सम्बन्धी कौन सा तथ्य सर्व प्रथम किसके मन में आया और कहाँ से वह परम्परा की वस्तु बन गया, इसका स्पष्ट बोध बहुत ही कठिन है। प्रत्यक्ष इसे होते देखा नहीं जाता। ऐसा काल**क्षेप** के साथ साथ हो जाता है और ये अभिप्राय बन कर समक्ष आ जाते हैं। अतएव इसका स्पष्ट ज्ञान तो प्राय: सम्भव नहीं रहता, मात्र इनके आरम्भिक अस्तित्व का आभास ही पाता है।

साहित्य रचना में पाए जाने वाले वर्णनात्मक अभिप्रायों में अनेक का मूल आदि कविकृत रामायण और वेदव्यास रचित महाभारत में ही प्राप्त हो जाता है। महाकवि कालिदास, माघ और भारवि के काव्यों का आलोड़न करने से अधिकांश वर्णनात्मक अभिप्रायों के स्रोत का पता चल जाता है और उनके परवर्ती साहित्यकारों द्वारा उसका अनुसरण भी मिलने लगता है। कुमारसम्भव के हिमालय वर्णन में शैल वर्णन सम्बन्धी कोई भी अभिप्राय सुगमता से प्राप्त हो सकता है। इसी तरह ऋतु संहार में षडरितु वर्णन के अधिकांश अभिप्राय आ गए हैं। परवर्ती कवियों ने इन्हें आवश्यकतानुसार ग्रहण किया है। संस्कृत साहित्य के अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थों में भी

सर्वत्र वर्णन सम्बन्धी रूढ़ियों को अपनाया गया है बाणभट्ट ने कादम्बरी में वन, आश्रय, राज्य, सेना, सरोवर आदि का स्थान-स्थान पर जो चारु वर्णन किया है, वह वर्णनात्मक अभिप्रायों से निश्चयत: प्रभावित है यद्यपि उन्होंने स्वयं अपनी प्रतिभा से वर्णनों को भव्य और अभिप्रायों को समृद्ध बना दिया है । पालि और प्राकृत के ग्रन्थों में भी वर्णनात्मक अभिप्रायों के प्रयोग का विस्तार प्राप्त होता है । अपभ्रंश के चरित ग्रन्थों में वर्णनव्यापार का आधार बहुत कुछ वर्णनात्मक अभिप्राय ही है । स्वयंभु कृत पउमचरिउ के वर्णनों से रामचरितमानस के वर्णन काफी दूर तक प्रभावित प्रतीत होते हैं । अब्दुर्रहमान द्वारा रचित सन्देश-रासक में षड्ऋतु वर्णन सम्बन्धी सामग्रियों का परम्परानुमोदित विस्तार प्राप्त होता है, जो पुराने कवियों का अनुकरण है और परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय । कहने का तात्पर्य यह कि संस्कृत साहित्य के आरम्भ से लेकर हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल तक रचे गए अधिकांश ग्रन्थों में वर्णनात्मक अभिप्रायों का व्यापक प्रसार दिखायी देता है । इन्हीं कारणों से काव्य-रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत यह एक महत्वपूर्ण स्थिति से सम्बद्ध है ।

यहाँ एक बात और भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है --अभिप्राय विकसनशील होते हैं । साहित्य रचना के किसी भी काल में वे सम्पूर्ण वर्णनात्मक अभिप्राय जो आज तक अस्तित्व धारण कर सके हैं, मिल जायँ, यह असम्भव है । कवि के काव्य-काल एवं विषय वर्णन की समसामयिक रुचि के अनुसार वर्णनात्मक अभिप्राय बनते रहते हैं और प्रयोग मन्द होने पर इनका अस्तित्व समाप्त भी होता रहता है । उदाहरणार्थ बाल लीला और शिशु रूप वर्णन सम्बन्धी अधिकांश वर्णनात्मक अभिप्राय भक्तिकाल के भक्त कवियों द्वारा प्रचलित किए गए । पूर्ववर्ती साहित्य में इस विषय से रचयिताओं का गहरा लगाव नहीं था । इसलिए यह आवश्यक नहीं इस सम्बन्ध में पाये जाने वाले शास्त्र ग्रन्थों में वे सारे वर्णनात्मक अभिप्राय निबद्ध हों ही । विवेच्य प्रकरण 'तुलसी - साहित्य में वर्णनात्मक अभिप्राय' में भी ऐसे कुछ अभिप्रायों का विवेचन किया जायगा जिसका शास्त्रीय आधार निर्मित नहीं है और जो विशेष रूप से भक्तिकाल के हिन्दी कवियों के प्रयोगों में रूपायित हुए हैं ।

वर्ण्यवस्तु : विवेचन और वर्णनात्मक अभिप्राय-विवेचन में अन्तर--

प्राय: शोध और समीक्षा ग्रन्थों में हिन्दी कवियों के वस्तुवर्णन, प्रकृति-वर्णन, सौन्दर्यवर्णन आदि का स्वतन्त्र मूल्यांकन हुआ है, जो वर्ण्य वस्तु के अध्ययन की स्वतन्त्र दृष्टि पर आधारित है । इसमें प्राय: अभिप्राय का आधार ग्रहण नहीं किया गया । वर्णन के मौलिक और परम्परागत दोनों भाग इस प्रकार के अध्ययन में मिले हुए हैं । इस कारण वर्णनात्मक अभिप्रायों पर बहुत कम प्रकाश पड़ा है । वर्ण्य वस्तु-विवेचन और वर्णनात्मक अभिप्राय पर आधारित विवेचन दोनों दो चीजें हैं । किसी कवि के वस्तु वर्णन विषयक अध्ययन में यह देखा जाता है कि उसने वर्णन कितनी सफलता, गहराई और सूझबूझ के साथ किया है, जबकि वर्णनात्मक अभिप्राय सम्बन्धी अध्ययन मे यह देखा जाता है कि अमुक कवि ने वर्णन में किस सीमा तक परम्परागत अवयवों को ग्रहण किया है । कवियों के वर्णन पर विचार करते समय प्रथम पक्ष पर अधिकतर विचार किया गया है । यहां हमें दूसरे पक्ष पर विचार करना ही अभीष्ट है क्योंकि प्रस्तुत अनुशीलन की मूल दृष्टि अभिप्रायपरक है । विवेच्य कवि तुलसी के वर्णन कौशल पर चिंतन करते हुए विद्वानों ने उसकी विविध प्रकार से समीक्षा की है । बहुधा उन्हें परम्परावादी कहा गया है, जो वस्तुत: सत्य भी है । वर्णन व्यापार में उन्होंने कविपरम्परा का बहुलता से अनुसरण किया है, जो वस्तुत: प्रस्तुत विवेचन को बल प्रदान करता है । यहां हम अपनी दृष्टि अभिप्रायपरक विवेचन पर केन्द्रित रखते हुए आवश्यकतानुसार वर्णन-कौशल पर भी दृष्टिपात करेंगे ।

तुलसी के काव्य में प्रयुक्त वर्णनात्मक अभिप्रायों के विवेचन की सुविधा के लिए हम इस विषय को ५ वर्गों में विभाजित करेंगे --

१. व्यक्तित्व वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय ।

२. वस्तुवर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय ।

३. क्रिया अथवा कार्य व्यापार वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय ।

४. रूप वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय ।

५. प्रकृति वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय ।

६. विविध वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय ।

ये सभी वर्ग किसी न किसी विन्दु पर एक दूसरे से सम्बद्ध भी हैं । विवि वर्ग के अन्तर्गत सभी वर्गों के अवशिष्ट एवं लघु वर्णनात्मक अभिप्राय आ जाते हैं ।

१. व्यक्तित्व वर्णन विषयक ~~अभि~~ वर्णनात्मक अभिप्राय

राजा-- अलंकार शेखर में वर्णनीय के अन्तर्गत सर्वप्रथम राजा का उल्लेख हुआ है ।[१] केशवदास ने भी राज्य श्रीभूषण वर्णन में राजा को प्रथम स्थान पर रखा है ।[२] आचार्य केशव मिश्र ने राजा के वर्णन में कीर्ति, प्रताप, आज्ञा, दुष्ट शान्ति, विवेक, धर्मपरायणता, प्रयाण, संग्राम, शस्त्राभ्यास, नीतिनिपुणता और जनानुशीलता, प्रजापालकता, शत्रुहीनता, उदारता, धीरता, गम्भीरता, स्थिरता, उद्यम और ऐश्वर्य आदि को स्थान देने का विधान किया है --

नृपेकीर्तिप्रतापाऽऽज्ञा दुष्टशान्ति विवेकिता: ।
धर्म प्रयाण संग्राम शस्त्राभ्यास नयज्ञमा: ।।
प्रजापालोऽरि शैलादिनिवासोऽरिपुशून्यता ।
औदार्यधैर्य गाम्भीर्यैश्वर्यस्थैर्यक्षमादय: ।।[३]

गोस्वामी जी ने इस प्रकार के राजाओं में शीलनिधि, सत्यकेतु, प्रतापभानु, दशरथ और राम का उल्लेख किया है, जिसमें उक्त अभिप्राय को स्थूलरूप से ग्रहण किया गया है । यद्यपि एक ही स्थान पर वर्णन में समस्त तत्व नहीं मिलते तथापि इन राजाओं के व्यक्तित्व में कुल मिलाकर उक्त सभी विशिष्टताएं मिल जाती हैं ।

---

१. वर्ण्यौच राजा देवी च देशो ग्राम: पुरी सरित ।
— अलंकारशेखर । षष्ठ रत्न । द्वितीय मरीचि । १

२. राजा रानी राजसुत प्रोहित दलपति दूत ।
मंत्री मंत्र, पयान, हय, गय, संग्राम अभूत ।।
— केशवदास, कविप्रिया, आठवां प्रभाव ।१

३. केशव मिश्र -अलंकार शेखर, षष्ठरत्न, द्वितीयमरीचि, ३-४

गोस्वामी जी प्राय: राजा को धर्मनिष्ठ ,प्रतापी, नीतिनिधान कहते हैं, उदाहरणार्थ सत्यकेतु,प्रतापभानु और दशरथ के वर्णन देखिए –

(क) बिस्व बिदित एक कैकय देसू । सत्यकेतु तहँ बसै नरेसू ।
धरम धुरंधर नीति निधाना । तेज प्रताप सील बलवाना ।।
रा० १।१५३

(ख) सचिव समान बंधुबलवीरा । आप प्रतापपुंज रनधीरा ।।
रा० १।१५४

(ग) अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ ।
धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी । हृदयँ भगति अति सारंगपानी ।।
रा० १।१८८

इन उदाहरणों में राजा की जो विशेषताएँ संक्षेप में कही गई हैं वे केशवमिश्र द्वारा वर्णित सभी तथ्यों को अपने में समेट लेती है । कथा-प्रवाह के वेग में वर्णनात्मक अभिप्रायों के ही ढांचे पर तुलसी ने राजा का स्थूल शब्दचित्र प्रस्तुत कर दिया है ।

रानी रानी का वर्णन काव्य में सौभाग्यवती, सुन्दरी, शीलवती, लज्जाशीला, पतिव्रता शृंगार विभूषिता एवं कामिनी के रूप में होने का उल्लेख है । सारी विशेषताओं का सर्वत्र अथवा एक साथ उल्लेख मात्र वर्णन में ही सम्भव है, उससे चरित्र निर्माण में कठिनाई आ सकती है । जैसे जहाँ उसे प्रतिव्रता कहा जाय वहीं कामिनी भी कहना औचित्यपूर्ण नहीं कहा जायगा । गोस्वामी जी ने अपने शिष्टवर्णन की प्रकृति के अनुसार दशरथ की रानियों का संकेत इस प्रकार किया हैं--

कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरिपद कमल बिनीत ।। रा०।१।१८८

मंत्री– केशवमिश्र ने मंत्री के विषय में कुछ भी नहीं लिखा किन्तु केशवदास ने राज्यश्री में मंत्री को भी स्थान दिया है । दो दोहों में केशवदास ने

क्रमश: मंत्रीवर्णन और मंत्री मति वर्णन का विधान किया है तथा उसे सर्वज्ञ, राजनीतिज्ञ कुलीन, क्षत्री, क्षमाशील एवं उसकी मति को चतुर्दश विद्याओं से विभूषित बताया है ।[१]

गोस्वामी जी ने मंत्री का कहीं विशद वर्णन नहीं किया, न उसके लिए अवकाश ही था । इसलिए इतनी विशेषताओं के साथ वर्णन न कर उन्होंने मंत्री के लिए मात्र 'सयाना' शब्द का प्रयोग किया जो बहुत ही अर्थगर्भित है और मंत्री की सारी विशेषताओं को स्वत: आत्मसात् करता है । राजा प्रतापभानु के मंत्री धर्मरुचि तथा रावण के मंत्री माल्यवंत के लिए 'सयाना' शब्द का प्रयोग हुआ है --

१. नृपहितकारक सचिव सयाना । नाम धरमरुचि सुक्र समाना ।।
सचिव सयान बंधु बलबीरा । आपु प्रतापपुंज रनधीरा ।।
रा०१।१५४

२. माल्यवंत अति सचिव सयाना । तासु वचन सुनि अति सुखमाना ।।
रा० ५।४०

यद्यपि तुलसी ने इसमें अभिप्रायपरक वर्णन को यथेष्ट प्रश्रय नहीं दिया है, फिर भी ऐसा नहीं है कि मंत्री के मूल वैशिष्ट्य की ओर उनका ध्यान गया ही न हो ।

राजकुमार -- राजकुमार के बारे में केशवदास ने लिखा है --

बिद्या बिबिध बिनोदयुत शील सहित आचार ।
सुन्दर शूर, उदार विभु बरणियराजकुमार ।।[२]

----

१. राजनीति रत राज रत शुचि सरवज्ञ कुलीन ।
क्षमा शूर, यश, शीलयुत मंत्रीमंत्र प्रवीन ।।
पांच अंग गुण संग षट विद्यायुत दशचारि ।
आगम संगम निगम मति ऐसे मंत्र विचारि ।।
-कविप्रिया । पांचवा प्रभाव । दोहासं०१७,२

२. कविप्रिया । आठवाँ प्रभाव ।६

साहित्यिक रचनाओं मैं प्राय: राजकुमार ही आगे चल कर कथा का नायक बन जाता है । गौस्वामी जी के काव्य-नायक राम भी अपने तीनों भाइयों के सहित राजकुमार के रूप मैं सामने आते हैं और आगे चलकर काव्य के नायक बनते हैं । किशौरावस्था मैं बालक मैं जितने उदात्त गुण हौने चाहिए वे सभी चारों भाइयों मैं हैं । केशवदास ने जिन बातों का उल्लेख किया है वह तौ सामान्य कुमार मैं भी हौ सकता है, गौस्वामी जी उससे भी आगे बढ़कर राम कौ धनुष बाण धारण कर मृगया खेलते हुए तथा पुरवासियों की सुख सुविधा हेतु प्रयत्नशील हौते हुए दिखाते हैं[१] जौ राजकुमार के लिए अधिक स्वाभाविक और उचित है । गौस्वामी जी ने इस प्रकार राजकुमार-वर्णन मैं कुछ और अभिप्राय जौड़ दिए हैं ।

पुरौहित --तुलसी की रामकथा मैं रघुवंश के पुरौहित वशिष्ठ एक महत्वपूर्ण पात्र पात्र हैं । उन्हें कुलगुरु का स्थान प्राप्त है । उनके सम्पूर्ण चरित्र मैं कुलीनता, सत्यता, शील, वेद विज्ञता , सरलता और संयम कूट कूट कर भरा हुआ है और यत्र तत्र इसका कथन भी प्राप्त हौता है किन्तु एक स्थान पर पुरौहित का विस्तृत वर्णन नहीं हुआ है ।

दूत- केशवदास ने राज - श्री वर्णन मैं राजा, रानी, राजकुमार, मंत्री और पुरौहित के अतिरिक्त दूत, दलपति आदि का भी विधान किया है । तुलसी-साहित्य मैं दूत की यौजना भी हुई पर वर्णनात्मक अभिप्राय पर आधारित उसका वर्णन नहीं हुआ है । पटुता और सूझ-बूझ दूत की प्रमुख विशेषता हौती है । मानस मैं हनुमान और अंगद दूत कर्म करते हैं, दौनों मैं यह विशेषता पाई जाती है । अंगद कौ दूत बनाकर रावण के पास भेजते हुए राम उनसे कहते हैं --

----

१. बंधु सखा संग लैहिं बौलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ।।

अनुज सखा संग भौजन करहीं । मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं ।।

जैहि बिधि सुखी हौहिं पुर लौगा । करहिं कृपानिधि सौइ संजौगा ।।

- रा० १।२०५

बहुत बुझाइ तुमहिं का कहऊँ । परम चतुर मैं जानत अहऊँ ।

काज हमार तासु हित होई । रिपु सन करेउ बतकही सोई ।। रा०६।१८

इस कथन में दूत के वर्णनीय तत्त्वों का समावेश हो गया है ।

राजकन्या - काव्यवर्णन में राजकन्या परम सुन्दरी और सुलक्षणी के रूप में वर्णित की जाती है । तुलसी ने भी ऐसा ही किया है, पर वे विस्तार से वर्णन करने के लिए ठहरते नहीं बल्कि उसकी विशिष्टताओं का कथन मात्र कर देते हैं ।

तुलसी साहित्य में छः राजकन्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है । १. पर्वतराज हिमालय की कन्या उमा , २. राजा शीलनिधि की कन्या विश्वमोहिनी, ३. राजा जनक की चार कन्याएँ, सीता, उर्मिला, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति । जानकीमंगल पार्वतीमंगल तथा रामचरितमानस के विवाह प्रसंगों में इन राजकन्याओं की सुन्दरता और सुलक्षणता का प्रसंगानुसार वर्णन किया गया है । सीता का सौन्दर्य अप्रतिम और अवर्णनीय तथा रति को लज्जित करने वाला है । विश्वमोहिनी की सुन्दरता और सुलक्षणता ने नारद जैसे ऋषि को विचलित कर दिया । नारद जब शीलनिधि की राजधानी पहुँचे तो राजा ने अपनी कन्या विश्वमोहिनी को उनके समक्ष लाकर प्रस्तुत किया और उसके गुण दोष बताने का आग्रह किया -

आनि देखाई नारदहिं भूपति राजकुमारि ।

कहहु नाथ गुन दोष सब एहि कै हृदय विचारि ।।

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी । बड़ी बार लगि रहे निहारी ।।

लच्छन तासु बिलोकि भुलाने । हृदय हरष नहिं प्रगट बखाने ।।

- रा० १।३०-३१

इस वर्णनात्मक अभिप्राय का आभास पाने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है ।

राज-समाज के कुछ उल्लेखनीय व्यक्तित्व अभिप्राय की परिपाटी पर दिखए गए । लोकाश्रित काव्य होने के कारण भक्तिकाल के कवियों के वर्णनों में राज-समाज से सम्बद्ध इस प्रकार के व्यक्तित्व प्रशंसात्मक वैशिष्ट्य और विस्तार के

साथ नहीं चित्रित किए गए । ऐसा वर्णन राज्याश्रित कवियों के लिए अपेक्षा कृत अधिक उपादेय और अनिवार्य था । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में ऐसे वर्णन सर्वाङ्गश: सुरुचिपूर्ण विस्तार नहीं पा सके । उन्होंने ऐसे वर्णन अत्यन्त संयमित और सानुपातिक रूप में प्रस्तुत किए हैं ।

राज-समाज के अतिरिक्त लोक-समाज में कुछ ऐसे व्यक्तित्व हैं जिनका अंकन गोस्वामी जी ने अभिप्रायात्मक शैली पर किया है । काव्यशास्त्र-ग्रन्थों में इनका उल्लेख हमें प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु गोस्वामी जी के ये व्यक्तित्व अभिप्रायात्मक ही लगते हैं इन्हें शास्त्र को उनका अवदान स्वीकार किया जाना चाहिए । नीचे हम उनका उल्लेख उसीक्रम में कर रहे हैं ।

संत - संतों की विशेषताओं के सम्बन्ध में तुलसी ने अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर विस्तार से लिखा है । वे स्वयं भी एक महान संत थे और संतों के बारे में लिखना उनकी हार्दिक रुचि का विषय था । अपनी वैराग्य - संदीपनी नामक रचना में उन्होंने दोहा और चौपाई मिलाकार तैंतीस छन्दों में संत-स्वभाव वर्णन तथा नौ छन्दों में संतमहिमा का वर्णन किया है ।[१] रामचरितमानस के आरम्भ में दो दोहों में संत की वन्दना की गई है और उन्हें समान एवं सरलचित्त कहा गया है ।[२] मानस के उत्तरकाण्ड में भरत राम से संतों के लक्षण की जिज्ञासा करते हैं । राम उनकी जिज्ञासा का शमन इस प्रकार करते हैं —

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता । अगनित श्रुति पुरान बिख्याता ।।

---

१. वै०सं० १-४२

२. बंदौं संत समान चित हित अनहित नहीं कोउ ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ।।
संत सरलचित जगतहित जानि सुभाउ सनेहु ।
बालविनय सुनि करि कृपा रामचरिन रति देहु ।।रा०।१।३

बिषय अलंपट सील गुनाकर । पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ।।
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ।।
कोमलचित दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ।।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ।।
बिगत काम मम नाम परायन । सांति बिरति बिनती मुदितायन ।।
सीतलता सरलता मइत्री । द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री ।।
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर । जानेउ तात संत संतत फुर ।।

--रा०७।३७-३८

उत्तरकाण्ड में ही अन्यत्र संतों के हृदय को नवनीत के समान कोमल और द्रवणशील बताया गया है ।[१] ऋषि, मुनि योगी, यती आदि के वर्णन में भी अधिकांश वर्णनीय तत्व यही है, किन्तु संतों में और इनमें तुलसीदास जी के प्रयोगानुसार किंचित् भेद है । उन्होंने संत का प्रयोग सज्जन के अर्थ में किया है, ऋषि मुनि और योगीजनों में तपस्या, यज्ञ, वैराग्य आदि की स्थिति भी होती है जो सन्त के लिए अनिवार्य नहीं है । विश्वामित्र यज्ञ के प्रयोजन से राम लक्ष्मण को माँग कर ले गए थे । मानस के अरण्यकाण्ड में अत्रि, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि ऋषि मुनियों को अरण्य में आश्रमवासी रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

ब्राह्मण --तुलसी ने ब्राह्मणों को पूज्य कहा है ।[२] ब्राह्मणों के व्यक्तित्व के दो प्रमुख वर्णनीय तत्व हैं वेदाभ्यास और तपस्या । मानस के अयोध्याकाण्ड में वशिष्ठ जी भरत से कहते हैं कि उस विप्र की दशा शोचनीय है जो वेद, विहीन, धर्मच्युत और और विषयासक्त हैं --

सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धरम बिषय लयलीना ।।

---

१. संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह पै कहा न जाना ।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुखद्रवहिं सुसन्त पुनीता ।।
रा० ७।१२५

२. पूजिय बिप्र सीलगुन हीना । सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना ।।
रा० ३।३४

ब्राह्मणों का प्रताप उनकी तपस्या से संचित होता है ।[१] तुलसी ने प्रमुख अवसरों पर प्राय: ब्राह्मणों को दान लेते हुए वर्णन किया है ।

गुरु -- तुलसी-साहित्य में गुरु को सर्वत्र पूज्य कहा गया है । मानस के आरम्भ में ही गोस्वामी जी ने गुरुपद नख का स्मरण किया है ।[२] भक्ति-काल के संत कवियों ने गुरु-माहात्म्य को इतने ऊँचे उठा दिया था कि सतगुरु धीरे धीरे ब्रह्म का पर्याय बन गया । सम्भव है कि भक्त कवियों पर भी उसका कुछ न कुछ प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा हो । गुरु के विषय में मुख्य वर्णनीय तत्त्व यह है कि वह शिष्य को ज्ञान देता है, उसका अज्ञान दूर करता है, शोक का हरण करता है साथ ही वह अत्यन्त शीलयुक्त एवं कोमल स्वभाव का होता है । प्रमाण के लिए रामचरितमानस की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुरु घोर नरक महुं परई ।

रा०७।९९

एक सूल मोहि बिसर न काऊ । गुरु कर कोमल सील सुभाऊ ।।

रा० ७।११०

मित्र - मित्र की विशेषताएं और लक्षण रामचरित मानस के किष्किन्धाकाण्ड में निबद्ध हैं । संस्कृत के नीति श्लोकों में उत्तम मित्र के बारे में यह श्लोक बहुत प्रचलित है -

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गुह्यति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतंच न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षण प्रतिमिदं प्रवदन्ति संत: ।।

---

१. तप बल बिप्र सदा बरियारा । तिन्ह के कोपन कोउ रखवारा ।

रा०१।१६५

२. श्रीगुरुपद नखमनिगन जोती । सुमिरत दिब्यदृष्टि हिय होती ।।

रा० ।१।१ ।

गोस्वामी जी ने भी सन्मित्र में इन्हीं बातों की आवश्यकता बतायी है --

जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी । तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी ।।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र क दुख रज मेरु समाना ।।
जिन्हके अस मति सहज न आई । ते सठ कत हठि करत मिताई ।।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रगटइ अवगुनन्हिं दुरावा ।।
देतलेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ।।
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा । स्रुति कह संत मित्र गुन एहा ।।

-- रा० । ४।७

सेवक -- तुलसी ने सेवक धर्म का उल्लेख स्फुट रूप से कई स्थानों पर किया है ।
सेवक का प्रधान लक्षण है सैव्य की सेवा करना और उसका अनुशासन मानना ।
मानस में इस पर बल दिया गया है --

सेवक सो जो करइ सेवकाई । अरि करनी करि करै लराई ।।

--रा० १।२७१।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानइ जोई ।।

तुलसी की रामकथा में हनुमान की भूमिका एक सच्चे सेवक की भूमिका है ।

इसके अतिरिक्त माता, पिता, भ्राता, पत्नी, पति और पुत्र आदि के लिए भी रूढ़ वर्णनीय तत्वों का विनियोग किया गया है । उत्तम कोटि के भाई, पुत्र, पिता और माता में सराहनीय विशेषताओं का होना स्वाभाविक ही है, विस्तार के भय से यहाँ उनका सोदाहरण उल्लेख करना सम्भव नहीं है । संक्षेप में इतना ही कहना अलं है कि कौशिल्या और सुमित्रा उत्तम कोटि की माताएं, दशरथ उत्तम कोटि के पिता, लक्ष्मण और भरत उत्तम कोटि के भ्राता, सीता उत्तम कोटि की पत्नी, राम उत्तमकोटि के पति और पुत्र के रूप में प्रतीक स्तर तक जो उभर सके हैं, वह वर्णनीय विशेषताओं पर आधारित चरित्र के भरोसे ही सम्भव हुआ ।

प्रतिकूल व्यक्तित्व के वर्णनतत्त्व -- साहित्य में व्यक्तित्वपरक वर्णनात्मक अभिप्रायों में जिस प्रकार अनुकूल व्यक्तित्वों का अंकन होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल

व्यक्तित्वों का भी । ये व्यक्तित्व या तो खल नायक के पक्षधर होते हैं या इनका अंकन नीतिपरक प्रसंगों में होता है । रामचरित मानस में ऐसे दृष्टान्त पर्याप्त हैं । नमूने के लिए यहाँ मात्र कुछ का उल्लेख किया जा रहा है --

राक्षस -- साहित्य में राक्षस का वर्णन करते हुए उसे तामसी, धर्मविरोधी, कुटिल, पापी, दुराचारी, संत, ब्राह्मणों और गायों के हिंसक आदि कहा गया है । मानस में राम जन्म के पूर्व रावण और उसके साथी राक्षसों की दुर्वृत्तियों का विस्तृत वर्णन हुआ है ।[१] राक्षस, राम के नहीं बल्कि साहित्य में सदैव देवताओं के भी प्रतिद्वन्द्वी और पीड़क के रूप में वर्णित किए गए हैं । रामकथा का सम्पूर्ण प्रतिपक्ष चरित्र इसका उदाहरण है ।

असंत - असंत ईर्ष्यालु पर निन्दा श्रवण में रुचि रखने वाले, काम, क्रोध, मद, लोभ से युक्त, निर्दय, कपटी, कुटिल, विकारी, अकारण शत्रुता रखनेवाले, हितैषी की भी हितहानि करने वाले, मिथ्याचारी, परद्रोही, परनारीरत आदि होते हैं--

> सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ । भूलेउ संगति करिअ न काऊ ।
> तिन्ह कर संग सदा दुखदाई । जिमि कपिलहिं घालइ हरहाई ।।
> खलन्ह हृदय अतिताप बिसेषी । जरहिं सदा पर संपति देखी ।।
> जहुं कहुं निंदा सुनहिं पराई । हरषहिं मनहुं परी निधि पाई ।।
>
> ^ ^
>
> परद्रोही परदार रत परधन पर अपबाद ।
> ते नर पांवर पाप मय देह धरे मनुजाद ।। रा०७।३९

२. वस्तु-वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय --

यद्यपि कवि के काव्य में वस्तुवर्णन का प्रभूत अवकाश रहता है, विशेषकर प्रबन्ध काव्य में तो बहुत अधिक रहता है, फिर भी अभिप्राय या मोटिफ की शैली पर वही वर्णन होता है जो वस्तुएं प्रमुख और स्थूल होती हैं तथा जिनके अधि

---

१. रा० १।१८२ - १८४

कांश कवियों द्वारा वर्णन किए जाने की सम्भावना रहती है । इसलिए अभिप्रायात्मक वस्तु वर्णन का क्षेत्र सामान्य वस्तुवर्णन की अपेक्षा सीमित हो जाता है -
तुलसी-साहित्य में भी वस्तु वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय का निरीक्षण करने पर यह निष्कर्ष उभर कर सामने आता है । वस्तु तत्व के कुछ ऐसे विशिष्ट रूप हैं जिनमें छोटी छोटी वस्तुओं का वर्णन अन्तर्भूत रहता है । यहाँ हम उन्हीं विशिष्ट वस्तुओं के अभिप्रायात्मक वर्णन को अंग वस्तुओं सहित प्रस्तुत कर रहे हैं ।

तुलसी-साहित्य में कुछ मुख्य वर्ण्य वस्तुओं के वर्णन का वर्णनात्मक अभिप्राय पर आधारित विवेचन इस प्रकार है --

१. देश - केशव मिश्र ने देश की वर्णनीय वस्तुओं का विधान इस प्रकार किया है --

देशे बहु खनिद्रव्यपण्यधान्यकरोद्भवा: ।
दुर्गग्राम जनाधिक्य नदी मातृकतादय: ।।[१]

अर्थात् देश में बहुमूल्य खनिज, द्रव्य व्यापारिक वस्तुएं और धान्य का उद्भव होना चाहिए, उसमें दुर्ग, ग्राम तथा जनाधिक्य भी होना चाहिए और सिंचाई के लिए जल-दायिनी नदियाँ होनी चाहिए । प्राचीनकाव्य एवं शास्त्रकारों की दृष्टि में ये एक श्रेष्ठ देश की अनिवार्यताएं थी । राम सप्तसमुद्रों की मेखला से घिरी हुई पृथ्वी के एकमात्र भूप हैं । उनका देश एक श्रेष्ठ देश है और उसमें गोस्वामी जी उन सभी वस्तुओं की योजना की है --

लता बिटप मांगे मधु चवहीं । मनभावतो धेनु पय स्रवहीं ।।
ससिसम्पन्न सदा रह धरनी । त्रेता भई कलजुग कइ करनी ।।
प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनिखानी । जगदात्मा भूप जग जानी ।।
सरिता सकल बहहिं बर बारी । सीतल अमल स्वाद सुखकारी ।।
सागरनिज मरजादा रहहीं । डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं ।।
--रा० ७।२३

----

१. केशव मिश्र-अलंकार शेखर। षष्ठ रत्न, द्वितीय मरीचि । ६

पर्वतों में मणि का होना, नदियों में सुन्दर जल प्रवाहित होना तथा सागर का मर्यादित होकर रत्नदान करना देश के तो वर्णनीय तत्व हैं ही, स्वयं इन वस्तुओं के भी हैं ।

राज्य -- राज्य उस समग्र वस्तुस्वरूप की संज्ञा है, जिसमें राजा, रानी, सचिव और प्रजा इत्यादि हों । अत्यन्त सुन्दर भू भाग में अगम देश तक उसका विस्तार हो । उसमें ऊँचे ऊँचे गढ़ हों जो शत्रुओं द्वारा अभेद्य हों । सेना, सिंहासन, राजदरबार, बंदीजन, छत्र और चंवर आदि भी हों । गोस्वामी जी ने सीधे ढंग से कहीं विस्तृत राज्य वर्णन कर इन सभी वर्णनीय तत्वों की योजना यद्यपि नहीं की है, तथापि परोक्ष रूप से प्रयाग को राजा (तीर्थराज) का पद देते हुए उसके वर्णन में इन तत्वों की योजना की है --

सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी । माधव सरिस मीतु हितकारी ।।
चारि पदारथ भरा भंडारू । पुन्य प्रदेस देस अति चारू ।।
छेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा । सपनेहुं नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा ।।
सेन सकल तीरथ बर बीरा । कलुष अनीक दलन रनधीरा ।।
संगम सिंहासन सुठि सोहा । छत्र अखयबटु मुनि मन मोहा ।।
चंवर जमुन अरु गंग तरंगा । देखि होहिं दुख दारिद भंगा ।।

--रा०२।१०५

राज्य को समुद्र पर्यन्त विस्तृत होना चाहिए । तुलसी के राम इसी प्रकार के राजा हैं । वे चक्रवर्ती हैं --

भूमि सप्त सागर मेखला । एक भूप रघुपतिकोसला ।।रा०।७।२२

कालिदास ने रघुवंश के सभी राजाओं को आसमुद्र क्षितीशानां कहा ।[1] राजा को अपने प्रताप से युद्ध आदि करके समुद्र पर्यन्त राज्य विस्तार करते हुए वर्णित किया जाता है । राजा प्रतापभानु ने अपनी चतुरंगिनी सेना और जुझारू योद्धाओं के माध्यम से अनेक लड़ाइयाँ जीतीं और सातों द्वीपों को वश में कर लिया । इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी पर वह एकमात्र राजा बन गया --

----

१. कालिदास , रघुवंश प्रथम सर्ग, श्लोक संख्या

सैन संग चतुरंग अपारा । अमित सुभट सब समर जुझारा ।।
सैन बिलोकि राउ हरषाना । अरु बाजे गहगहे निसाना ।।
विजय हेतु कटकई बनाई । सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ।।
जहँ तहँ परी अनेक लराईं । जीते सकल भूप बरियाईं ।।
सप्तदीप भुजबल बस कीन्हें । लै लै दण्ड छाँड़ि नृप दीन्हे ।।
सकल अवनि मंडल तेहि काला । एक प्रतापभानु महिपाला ।।

रा० १।१५४

इसी प्रसंग में प्रतापभानु के राज्य का वर्णन भी आगे किया गया है जिसमें कहा गया है कि प्रतापभानु के राज्य में प्रजा समस्त कष्टों से रहित और सुखी है, सभी नर नारी सुंदर और धर्मशील हैं । राज्य में नाना, वापी, कूप, तालाब और सुन्दर वाटिकाएं हैं ।[1] कवितावली में राम प्रेम के बिना ऊँचे से ऊँचे सांसारिक वैभव की व्यर्थता का कथन करते हुए तुलसी ने राज्य और राजा के स्थूल वर्णनीय उपादानों को एक सवैये में निबद्ध किया है ।[2] राम का राज्य वर्णन वर्णनीय तत्त्वों से भरपूर भी है, साथ ही उसमें गोस्वामी जी ने कुछ अन्य मौलिक विशेषताएं भी समाविष्ट की है ।

नगर - तुलसी की रचनाओं में नगर वर्णन मात्र राम चरित मानस में है । मानस का कथानक तीन नगरों से सम्बद्ध है , १. अयोध्या , २. मिथिला , ३. लंका । तीनों का ~~वर्णन~~नगर वर्णन विषयक रूढ़ियों पर ही बहुत कुछ आधारित है ।[3] इन नगरों के वर्णन के अन्तर्गत ही और भी अनेक वस्तुओं का उल्लेख अभिप्रायात्मक

---

१. सब सुख बरजित प्रजा सुखारी । धरम सील सुंदर नर नारी ।।

^ ^ ^

नाना वापी कूप तड़ागा । सुमन वाटिका सुंदर बागा ।। २४०।१।१५५

२. झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर ~~कटकिन-सुंदर-कम्मर~~ परे मधु अंबु चुवाते ।
तीखे तुरंग मनोमतिचंचल पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते ।।
भीतर चन्दमुखी अवलोकति बाहर भूप खरे न समाते ।।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जुपै जानकी नाथ के रंग न राते ।। क० ।७।४४

प्रणाली पर हुआ है । प्रस्तुत विवेचन में उन वस्तुओं का भी उल्लेख किया जा रहा है ।

नगर को संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन कवियों ने प्राय: पुर कहा है । केशव मिश्र ने पुर के वर्णन का विधान इस प्रकार किया है --

पुरेऽट्ट [illegible] ध्वजा: ।
प्रासाद[illegible] रामा वापी वैश्या सती नदी ।।[१]

अर्थात् पुर में अट्टालिका, खाईं, सिंहद्वार, बन्दनवार, ध्वजा, बड़े-बड़े महल, राजपथ, जलप्याऊ, वारि का सरोवर, नदी, वैश्या और सती का वर्णन होना चाहिए। आचार्य केशवदास ने भी नगर वर्णन में इन्हीं बातों की अनिवार्यता बतायी है ।[२] गोस्वामी जी ने अयोध्या और मिथिला नगर का वर्णन लंका की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया है । नीचे वर्णनीय उपादानों को लेकर तीनों नगरों के वर्णन से उदाहरण दिए जा रहे हैं, जो वर्णन की अभिप्रायात्मक शैली को स्वयं प्रमाणित करते हैं -

१. वापी, कूप, सरिता और सरोवर -

बापी कूप सरित सर नाना । सलिल सुधासम मनि सोपाना ।।
रा० १।२१२ (जनकपुर)

बापी तड़ाग अनूपकूप मनोहरायत सोहहीं ।
सोपान सुन्दर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं ।।
रा० ७।२६(अयोध्या)

बन बाग उपवन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं । (लंका०)
रा० ५।३

२. सुमन वाटिका बाग आदि -

सुमन बाटिका बागवन बिपुल विहंग निवास । (जनकपुर)
रा०१।२१२

---

१. केशवमिश्र, अलंकार शेखर षष्टरत्न । द्वितीय मरीचि ।

२. खाई कोट अटा ध्वजा, वापी कूप, तड़ाग ।

बापी तड़ाग अनूपकूप मनोहरायत सोहहीं ।
सोपान सुन्दर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं ।

रा० ७।२६(अयोध्या)

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं ।

रा०। ५।३(लंका)

२. सुमन बाटिका,बाग आदि

सुमन बाटिका बागबन बिपुल बिहंग निवास । (जनकपुर)

रा०।१।२१२

सुमन बाटिका सबहिं लगाईं । बिबिध भाँति करिजतन बनाईं ।।

रा०।७।२८ (अयोध्या)

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।

रा० ५।३ (लंका)

३. बाजार

चारु बजार बिचित्र अंबारी । रा०१।२१३ (जनकपुर)

बाजार चारु न बनै बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए (अयोध्या) रा०७।२८

४. चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारुपुर बहुबिधि बना (लंका०)रा०५।३)

४. कोट (किला)

हौत चकित चित कोट बिलोकी । रा०१।२१३ (जनकपुर)

पुर चहुँ पास कोट अति सुन्दर । (रा०७।२७ (अयोध्या)

कनक कोट बिचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना ।। (लंका०) रा० ५।३

५. धाम (अट्टालिका)

धवलधाम मुनि पुरट पट सुघटित नाना भाँति । रा०१।२१३(जनकपुर)

धवल धाम ऊपर नभ चुंबत । रा० ७।२७ (अयोध्या)

६. अश्वशाला एवं गजशाला

बनी बिसाल बाजि गज साला । हय गय रथ संकुल सब काला (जनकपुर)

रा० १।२१४

रबि रुचि तीन तुरग तिन्ह साजे ।
बरन बरन बर बारि बिराजे ।।रा०१।२६८ (अयोध्या)

गजबाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै । (लंका)
रा०५।३

७. खाई[१] (परिखा)

खाई सिंधु गंभीर अति चारिउं दिसि फिरि आव । (लंका)
रा०१।१७५

उपर्युक्त उदाहरणों से इन तीनों नगरों के अभिप्रायपरक वर्णन की समानता दृष्टिगत होती है । कथित उपादानों के अतिरिक्त भी तीनों नगरों के वर्णन में कुछ उपादान ऐसे हैं, जो रूढ़ कहे जा सकते हैं जैसे सुन्दर नर नारी, सेना, नट, मागध और चारणों की भीड़ आदि। किन्तु शास्त्र विधान में ये सम्मिलित नहीं किए गए हैं । तीनों नगरों का स्वरूप मात्र नगर का ही न होकर नगर और राजधानी का सम्मिलित रूप है । खाई का उल्लेख मात्र लंका के लिए एक स्थान पर बालकाण्ड में मिलता है । खाई दुर्ग के चतुर्दिक ही प्राय: वर्णित की जाती है और लंका का स्वरूप एक दुर्ग का है[१] युगों पहले पुरातन संस्कृति से युक्त नगर होने के कारण तथा अपनी सात्त्विक मनोवृत्ति के कारण सम्भवत: गोस्वामी जी ने नगर में वेश्या आदि का वर्णन करना उचित नहीं समझा । फिर भी नगर वर्णन में एक कवि परिपाटी का अनुसरण किया गया है इसमें दो मत नहीं होना चाहिए । इतना अवश्य है कि कवि की कला और नगरों की ऐतिहासिक भिन्नता के कारण नगरों के वर्णन में जो पारस्परिक विभेद होना चाहिए, वह पाया जाता है । एक नगर दूसरे नगर की प्रति कृति मात्र नहीं जान पड़ता है । उदाहरण के लिए अयोध्या और मिथिला में सुन्दर नर नारी बसते हैं पर लंका में ऐसा नहीं कहा गया है । लंका को सोने की बताकर[२] राक्षसों को अखाड़ों में लड़ते हुए दिखा कर[३] तथा

----

१. गिरि परचढ़ि लंका तेहि देखी । कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी ।। रा०५।३
२. कनक कोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतनाघना । रा०५।३
३. नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं । रा०५।३

उन्हें महिष, मनुष्य, धेनु का मांस भक्षण करते हुए दिखा कर[१] उसके पृथक् अस्तित्व को भी विस्मृत नहीं किया गया है ।

मन्दिर —यद्यपि मन्दिर का उल्लेख रामचरितमानस में तीन चार बार आया है पर एक स्थान को छोड़कर शेष स्थानों पर मन्दिर के विषय में कोई वर्णन नहीं किया गया है । मात्र विभीषण के गृह में स्थित राम मन्दिर पर कवि की दृष्टि टिक सकी है , वह भी मात्र एक क्षण के लिए । इस मन्दिर में स्थित अंकित रामायुध और पालित तुलसी के पौधों का उल्लेख कर कवि ने उसे बड़ी सफलता पूर्वक चित्रित कर दिया है । कथा के वेग में कवि मात्र एक दोहे में इस मन्दिर का ~~चित्र~~ रेखाचित्र यों बना देता है -

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ ।
नवतुलसिका वृंद तहं देखि हरष कपिराइ ।। रा० ।५।५

रामायुध और तुलसी का पौधा दोनों को रूढ़ उपादान माना जा सकता है ।

3. क्रिया अथवा कार्य व्यापार वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय

क्रिया वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्रायों के अन्तर्गत हम काव्य में प्राय: घटित होने वाले ऐसे कार्य व्यापारों के वर्णनीय तत्वों की गवेषणा तुलसी की रचनाओं के आधार पर करेंगे, जिसमें परम्परागत रूढ़ियों का समावेश हुआ है, और कविजन जिनके वर्णन में पूर्ववर्ती कवियों से अधिकांशत: प्रभावित रहे हैं । क्रियाओं का सुनिश्चित विधान भी समाज में प्रचलित रहता है जो ऐसे अभिप्रायों को और भी अनिवार्य और स्वाभाविक बना देता है । ये सभी मानव जीवन के कार्य-व्यापार हैं, जैसे उत्सव, युद्ध आखेट, यज्ञ, तपस्या आदि । तुलसी की रचनाओं में भी प्रचुरमात्रा में ऐसे कार्य व्यापार वर्णित है और उन्होंने उनके वर्णन में वर्णनात्मक अभिप्रायों का खुलकर प्रयोग किया है । नीचे ऐसे कार्य व्यापारों में से कुछ का विस्तृत परिचय दिया जा रहा है ।

उत्सव-वर्णन - तुलसी के काव्य में कई स्थानों पर उत्सवों का वर्णन प्राप्त होता है । व्यवस्थित विवेचन की सुविधा के लिए हम इसे ५ भागों में विभाजित करते हैं --

---

१ कहं महिष मानस धेन खर अज खल निसाचर भच्छहीं । रा० ५।३

१. पुत्र जन्मोत्सव , २. बाललीला, ३. विवाहोत्सव , ४. राज्याभिषेक का उत्सव , ५. पर्व एवं त्यौहार ।

१. पुत्रजन्मोत्सव --

तुलसी-साहित्य में इस प्रकार का एक मात्र उत्सव है राम जन्मोत्सव । यद्यपि कृष्ण चरित पर भी गोस्वामी जी ने कृष्णगीतावली की रचना की है पर यह कृति बाललीला-वर्णन से आरम्भ होती है, इसमें जन्मोत्सव का वर्णन नहीं है । प्राय: काव्यों में पुत्रजन्मोत्सव के रूप में नायक का जन्मोत्सव ही वर्णित किया जाता है । गोस्वामी जी ने भी ऐसा ही किया है । रामचरित मानस में राम जन्मोत्सव का प्रसंग अत्यन्त भव्य रूप में वर्णित है ।[1] ~~तथा~~ गीतावली में भी राम-जन्मोत्सव का विस्तृत वर्णन है ।[2]

पुत्रजन्मोत्सव - वर्णन के अभिप्राय शास्त्रीय ग्रन्थों में निबद्ध नहीं मिलते । संस्कृत साहित्य के कवियों ने ऐसे प्रसंगों में विशेष रुचि नहीं दिखाई किन्तु हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों ने आराध्य या काव्य-नायक के जन्मोत्सव का विस्तृत वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है । विभिन्न कवियों के एतत्सम्बन्धी वर्णनों को समक्ष रखकर देखने पर इनमें प्रयुक्त वर्णनात्मक अभिप्रायों का पता सहज ही चल जाता है । तुलसी भी इन अभिप्रायों के प्रयोक्ता हैं और मानस तथा गीतावली में उनके द्वारा किए गए ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं । ऐसे कुछ प्रयोग इस तरह है --

शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में पुत्र का जन्म , चराचर में हर्ष, देवों द्वारा पुष्प वर्षा एवं दुंदुभि वादन , माता-पिता और गुरु आदि का हर्षित होना वेदविहित क्रियानुसार संस्कारादि का सम्पादन, वेदध्वनि बधाई का बजना द्रव्य मनि, चीर आदि का लुटाया जाना, जन्मोत्सव की तरह तरह से तैयारियाँ, विविध वस्तुओं का दान , सोहर का गाया जाना, आनन्दबधाई , घर-घर में मंगलाचार,

---

१. रा०१।१९४

२. गी० १।१-७

नाच-गान, रनिवास मैं प्र[illegible], मागध, सूत, भाट, नट,याचक कौ अभीष्ट वस्तु मिलना लौकरीतियौं का सम्पादन छठीं का उत्सव, न्यौछावर बँटना आदि कुछ ऐसे अभिप्राय हैं जिनका वर्णन रामजन्मोत्सव के प्रसंग मैं तुलसी नै किया है । उदाहरण के लिए गीतावली का पहला पद ही पर्याप्त हौगा --

> आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई ।
> रूप सील गुनधाम राम नृप-भवन प्रगट भए आई ।।
> अति पुनीत मधुमास लगन ग्रह बार जौग समुदाई ।
> हरषवंत चर अचर भूमिसुर तनरुह पुलक जनाई ।।
> बरषहिं बिबुध निकट कुसुमावलि नभ दुंदुभी बजाई । ~~कौस~~
> कौसल्यादि मातु मन हरषित यह सुख बरनि न जाई ।।
> सुनि दसरथ सुत जन्म लिए सब गुरुजन बिप्र बौलाई ।
> बैद-बिदित करि क्रिया परम सुचि आनंद उर न समाई ।।
> सदन बैद-धुनि करत मधुर मुनि बहु बिधि बाज बधाई ।
> पुरबासिन्ह निज नाथ हैतु निज निज संपदा लुटाई ।।
>
> -गी०१।१

गीतावली के प्रारम्भिक सात पदौं मैं तथा रामचरित मानस के राम-जन्मप्रकरण मैं पुत्रजन्मौत्सव के वर्णन, वर्णनात्मक अभिप्रायौं का प्रभूत विस्तार दैखा जा सकता है । कृष्ण भक्तकवियौं नै विशेषकर सूरदास नै तुलसी की अपेक्षा कई गुना अधिक मात्रा मैं इन अभिप्रायौं का प्रयौग किया है ।[१]

बाल लीला --

बाल्यावस्था मैं शिशु जौ अनेक प्रकार की क्रीड़ाएं करता है वे सामान्यजन के लिए भी आह्लादकारिणी हौती हैं । कविजनौं का चित्र तौ इन प्रसंगौं के चित्रण मैं और भी रमता है । यह प्रसंग पुत्र जन्मौत्सव के बारे मैं लिखते हुए हम

---

१. द्रष्टव्य - सूरसागर (प्रथम खण्ड)दशमस्कन्ध पद १३-३४

ऊपर कह चुके हैं कि भक्तिकाल के सगुण भक्त कवियों ने पुत्रजन्मोत्सव वर्णन में विशेष रुचि दिखाई है, ठीक वही बात बाललीला के सम्बन्ध में भी सत्य है । कृष्ण भक्तिशाखा के अग्रगण्य कवि सूरदास ने तो बाललीला का इतना सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन किया कि साहित्यचिन्तक उन्हें जन्मान्ध माने जाने की धारणा का विरोध करने लगे । तुलसी ने उतना विस्तृत वर्णन तो नहीं किया है किन्तु फिर भी गीतावली के लगभग ३६ पदों में[१] कृष्ण - गीतावली के १७ पदों में,[२] कवितावली के आरम्भिक ७ सवैयों में[3] तथा रामचरित मानस के दो प्रसंगों में[४] जितनी बाल-लीला वर्णित हुई है, उसे मात्रा की दृष्टि से सामान्य नहीं कहा जा सकता । इनमें कृष्ण-गीतावली में कृष्ण की बाललीला तथा रामचरित मानस गीतावली और कवितावली में राम की बाललीला का वर्णन है । सम्पूर्ण बाललीला परक वर्णन, वर्णन विषयक अभिप्रायों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । प्रयुक्त अभिप्रायों का यहां संक्षिप्त परिवीक्षण किया जाता है --

मां की गोद में शिशु की क्रीड़ा - तुतला कर बोलना, घुटनों के बल चलना, फिर ठुमुक ठुमुक कर चलना, नूपुरों की ध्वनि होना, असम्भव वस्तुओं जैसे चन्द्रमा आदि को लेने का हठ करना, धूलधूसरित रूप, दंतुलियों की आभा, किल-कारी मारना, बालविनोद करना, प्रतिविम्ब देखकर डरना, आसानी से भोजन करने के लिए तैयार न होना, बालसखाओं के साथ खेलकूद करना आदि अभिप्राय तुलसी के बाल वर्णन में अपनाए गए हैं स्थानाभाव के कारण इन सबका उदाहरण देना न तो सम्भव ही है और न बहुत आवश्यक ही, क्योंकि ये चारों रचनाओं में बहुत सुगमता से प्राप्त हैं, किसी विशेष खोज-बीन की आवश्यकता नहीं है ।

----

१. गी० १।८-४४

२. कृ०गी० । १-१७

३. क० ।१।१-७

४. रा० १।२०३,२०३ तथा रा० ।७।७६

उपर्युक्त बालसुलभ क्रियाओं के वर्णन के साथ साथ माता-पिता की कुछ आकांक्षाएं भी जुड़ी हुई मिलती है । उन्हें भी अभिप्राय माना जा सकता है, जैसे पुत्र कब बोलेगा, कब माता-पिता को मधुर शब्दों में सम्बोधित करेगा कब खड़ा होकर चलेगा आदि । शिशु के प्रति माँ और पिता द्वारा सम्पन्न क्रियाएं भी अभिप्राय के रूप में बाल वर्णन में गृहीत होती है जैसे शिशु के पालने पर सुलाना, चलना सिखाना, खिलाना, झुलाना आदि । शिशु के जन्म का समाचार सुनकर किसी विद्वान ब्राह्मण का आना एक ऐसा कथानात्मक अभिप्राय है जिसकी ओर डॉ० सत्येन्द्र का ध्यान गया है ।[1] सूर वर्णित कृष्ण चरित में यह ब्राह्मण यशोदा के मायके से आता है । यशोदा उसके भोजनादि की सर्वोत्तम व्यवस्था करती हैं । जब ब्राह्मण भोग प्रस्तुत कर भगवान का ध्यान लगाने लगता है, बालक कृष्ण चुपके से पहुंच कर सारे भोगों का भक्षण कर जाते हैं ।[2] पूर्ण रूप से तो नहीं, किन्तु आंशिक रूप से इस अभिप्राय का ग्रहण तुलसी ने भी किया है । आगम में निष्णात् एक ब्राह्मण अयोध्या आता है । कौशिल्या उसका आसन, भोजन और वस्त्रादि से विधिवत् सत्कार करती हैं -

अवध आजु आगमी एकु आयो ।
करतल निरखि कहत सब गुनगन बहुत न परिचो पायो ।।
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो ।
संग सिसु सिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ।।
पांव पखारि पूजि दियो आसन आस बसन पहिरायो ।
मेले चरन चारु चार्यो सुत, माथे हाथ दिवायो ।। गी०१।१४

कथात्मक मोटिफ (अभिप्राय) का विवेचन करते हुए डॉ० सत्येन्द्र ने जिस बाल अभिप्राय (चाइल्डमोटिफ) का उल्लेख किया है, वह अपने में एक व्यापक स्वरूप छिपाए हुए है । यद्यपि उन्होंने कथात्मक दृष्टि से ही बाल अभिप्राय का नामोल्लेख किया है, तथापि मेरी धारणा है कि यदि उसमें उपर्युक्त वर्णनात्मक अभिप्रायों

----

१. डॉ० सत्येन्द्र-मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ०३६२
२. सूरदास-सूरसागर-दशमस्कन्ध।२४८

साथ ही अन्य प्रकार के बालविषयक अभिप्रायों को सम्मिलित कर दिया जाय तो बाल अभिप्राय का एक व्यापक स्वरूप निर्मित हो सकता है, और वह साहित्यिक अभिप्राय परक अध्ययन में बालवर्णन की उत्तम कसौटी बन सकता है ।

विवाहोत्सव--

विवाहोत्सव के वर्णनों में लोकरीतियों का वर्णन होता है । वर्णन के यही उपादान अभिप्राय बन जाते हैं । तुलसी-साहित्य में इस प्रकार के अभिप्राय बहुत मिलते हैं । जीवन का एक रमणीय प्रसंग होने के कारण विवाहोत्सव-वर्णन में भी कवियों ने तन्मयता दिखाई है । तुलसी ने भी बड़ी रुचि के साथ विवाहोत्सव का वर्णन किया है । प्रबन्ध काव्य में इसके वर्णन के लिए अवकाश सीमित होने के कारण उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना कर - यथातृप्ति विवाह-वर्णन किया है, ये ग्रन्थ हैं -- पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामललानहछू ।

तुलसी-साहित्य में यद्यपि कुल मिलाकर ५ विवाह वर्णित हैं, किन्तु उत्सव वर्णन की दृष्टि से इसे दो ही कहना मंगल-और उपयुक्त होगा --१. शिव पार्वती का विवाह, २. राम-सीता का विवाह

राम-सीता विवाह के साथ-साथ लक्ष्मण, उर्मिला, भरत-माण्डवी एवं शत्रुघ्न-श्रुतिकीर्ति के विवाह की सूचना मात्र दी गई है । विवाहोत्सव के विस्तृत वर्णन का मुख्य आधार तो राम-सीता का विवाह ही है । ये वर्णन निम्नलिखित रचनाओं में हैं --

१. शिव-पार्वती विवाह-रामचरितमानस और पार्वतीमंगल में ।

२. राम-सीता विवाह-रामचरितमानस,जानकी-मंगल तथा रामलला नहछू में इनमें प्रयुक्त विवाह वर्णन सम्बन्धी अभिप्रायों का सोदाहरण परिचय निम्नलिखित है --

१. तोरण-ध्वजा,वितान आदि की रचना --

रचे रुचिर बर बन्दनिवारे ।
मनहु मनोभव फंद संवारे (राम-सीता विवाह , रामचरितमास ।

मंगलकलस अनेक बनाए ।
ध्वजपताक पट चमर सुहाए ।।

रा०। १।२८६

मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह गृह सोहहीं । शिव-उमा

रा०।१।६४ विवाह

कहेउ हरषि हिमवान बितान बनावन ।
हरषित लगीं सुआसिनि मंगल गावन ।। पार्वतीमंगल ,,
तोरन कलस चँवर धुज बिबिध बनाइन्ह । ,, ।६६,६७

२. बारात का प्रस्थान

बनै न बरनत बनी बराता ।
होहिं सगुन सुंदर सुभदाता ।।

राम-सीता विवाह रामचरितमानस

< <

ऐहि बिधि कीन्ह बरात पयाना ।
हय गय गाजहिं हनै निसाना ।। रा०१।३०३,३०४

बहुबिधि बाहन जान बिमान बिराजहिं
चली बरात निसानु गहगहबाजहिं ।।

शिव-उमा विवाह पार्वतीमंगल

पा०मं० १०७

राउ छाँड़ि सब काज साज सब साजहिं ।
चलेउ बरात बनाइ पूजि गन राजहिं ।।
बाजहिं ढोल निसान सगुन सुभ पाइन्ह । राम-सीता विवाह जानकीमंगल
सिय नैहर जनकौर नगर नियराइन्ह ।।

जा०मं० । १३३-३४

३. अगवानी

नियरानि नगर बरात हरषी लैन अगवानी गए ।

जा०मं० १३५

प्रमुदित गै अगवान बिलोकि बरातहि   शिव उमा विवाह   पार्वतीमंगल

पा०मं० ।११५

करि बनाव सजि बाहन नाना ।

चले लेन सादर अगवाना ।।   ,,   रामचरित मानस

रा०।१।६५

आवत जानि बरात बर सुनि गहगहे निसान ।

सजि गज रत पदचर तुरग लेन चले अगवान ।।   रामसीता विवाहराम०मा०

रा० १।३०४

४. जनवास –

अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा ।   राम-सीता विवाह रामच०मा०

जहँ सब कहँ सब भाँति सुपासा ।।

रा० १।।३०६

लै अगवान बरातहिं आए ।

दिए सबहिं जनवास सुहाए ।।   शिव उमा विवाह   ,,

रा०१।६६

दीन्ह जाइ जनवास सुपास किए सब ।   ,,   पार्वतीमंगल

पा०मं० ११७

आनंदपुर कौतुक कोलाहलबनत सो बरनत कहाँ ।

लै दियो तहँ जनवास सकल सुपास नितनूतन जहाँ ।। राम-सीताविवाह जानकी

जा०मं० १३५   मंगल

५. परिछन --

मंगल आरति साजि बरहिं परिछन चलीं ।

जनु बिगसीं रवि-उदय कनक-पंकज -कली ।। राम-सीता विवाह   ,,

जा०मं०१४८

सजि आरती अनेक बिधि मंगल कलस सँवारि

चलीं मुदित परिछनि करन गजगामिनि बरनारि ।।   ,,   रामच०

रा०१।३१७

मयना सुभ आरती सँवारी ।
संग सुमंगल गावहि नारी ।   शिव-उमा विवाह   रामचरित मानस
कंचन थार सोह बर पानी ।
परिछन चली हरहिं हरषानी ।।

रा०। १।३०६

भरी भाग अनुराग पुलकतनु मुदमन ।   ,,   पार्वती मंगल
मदनमध गजगवनि चलीं बर परिछन ।।

पा०मं०।११२,८५

६. लोक-वेद आचार

संकल्पि सिय रामहिं समरपी सील सुख सौभागहँ ।
जिमि संकरहिं गिरिराज गिरिजा हरिहिं श्री सागरहँ
सिंदूर बंदन होमलावा होन लागीं भाँवरी ।   राम-सीता जा०
सिलपोहिनी करि मोहिनी मन हर्यो मूरति साँवरी ।।   विवाह मंगल

जा० मं० ।१६२

रामचरित मानस के राम सीता विवाह प्रसंग में इसी प्रकार विविध लोक वेद आचार के अन्तर्गत गुरुओं द्वारा शाखोच्चार, गणपति पूजा, होम, लावा, कथा के माता पिता द्वारा वर का पाद प्रक्षालन ,पाणिग्रहण, कन्यादान,ग्रन्थि-बंधन, सिन्दूरदान, कोहबरगमन, लहकौरि गौरि खेल आदि वर्णित है । मानस के शिव-उमा विवाह प्रसंग में भी इनमें से अधिकांश आचरण वर्णित हैं । स्थानाभाव के कारण यहाँ उन सबका उदाहरण दे पाना कठिन है ।

७. दान-दहेज

कहि न जाइ कछु दाइज भूरी ।
रहा कनक मनि मंडप पूरी ।।   राम-सीता विवाह   रामचरित मानस
कंबल बसन बिचित्र पटोरे ।
भाँति भाँति बहु मोल न थोरे ।।
गजरथ तुरग दास अरु दासी ।   राम-सीता
धेनु अलंकृत कामदुहा सी ।।   विवाह
रा०१।३२६

दासीदास तुरग रथ नागा ।
धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा ।। शिव-उमा विवाह रामचरित मानस
अन्न कनक भाजन भरि जाना ।
दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ।।

रा० ।१।१०१

~~दाइज दीन्ह न जाइ बखाना~~

दाइज बसन मनि धेनु धनु हय गय सुसेवक सेवकी । ,, पार्वतीमं०
दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहि पियारी पेवकी ।।

पा०मं०१४७

दाइज भयउ बिबिध बिधि जाइ न सो गनि।
दासी,दास,बाजि,गज,हेम,बसन मनि ॥ राम-सीता विवाह जा० मं०

जा०मं० १७५

८. जेवनार : मंगलकारी

चहुँप्रकार जेवनार भई बहु, भाँतिन्ह ।
भोजन करत अवधपति सहित बरातिन्ह ।।
देहिं गारि बरनारि नाम लै दुहुँ दिसि ।
जेंवत बढ़ेउ अनंद-सोहावन सो निसि ।।

जा०मं० १७८-७६

भाँति अनेक भईं जेवनारा ।
सूप सास्त्र जस कछु व्यवहारा ।। शिव-उमा विवाह रामचरित मानस
बिबिध पाँति बैठी जेवनारा ।
लागे परुसन निपुन सुआरा ।।
नारिबृंद सुर जेंवत जानी ।
लगींदेन गारी मृदु बानी ।।

रा०१।६६

पुनि जेवनार भई बहु भाँती ।
पठए जनक बोलाइ बराती ।। राम-सीता विवाह

सूपौदन सुरभी सरपि सुंदर स्वादु पुनीत ।
छन महँ सब कै परुसि गै चतुर सुआर बिनीत ।। रा०१।३२८

भइ जेवनार बहोरि बुलाइ सकल सुर ।
बैठाए गिरिराज धरम-धरनी धुर ।। शिव-उमा विवाह पार्वतीमंगल
परुसन लगे सुआर बिबुध जन सेवहिं ।
देहि गारि बर नारि मोद मन भेवहिं ।।
पा०मं० १५३

९. पान

नृप कियौ भौजन पान पाइ प्रमोद जनवासेहि चले । राम-सीता जनकी-मंगल
जा०मं०१८० विवाह
अँचवाइ दीन्हें पान गवने बास जहँ जाको रह्यो शिव-उमा रामचरितमानस
रा०१।९९ विवाह

१०. विदाई के अवसर पर कन्या को सीख देना

जननी उमा बोलि तब लीन्ही ।
लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही ।। शिव-उमा विवाह ,,
रा०१।१०२
पुनि-पुनि सीय गोद करि लेहीं ।
देइ असीस सिखावन देहीं ।। राम-सीता विवाह ,,
होएहु संतत पियहिं पियारी ।
चिर अहिबात असीस हमारी ।।
सासु ससुर गुरु सेवा करेहू ।
पति रुख लखि आयेसु अनुसरेहू ।।
रा०१।३३४

इनके अतिरिक्त और भी कुछ छोटी-छोटी बातें हैं जो अभिप्राय के आकार-प्रकार में विद्यमान दिखाई देती हैं, यथा विवाह-मंडप में कन्या को शृंगार कराकर

उसकी सखियाँ ही ले आती हैं, और कोई नहीं । ऊपर वर्णित वैवाहिक क्रियाओं में जो उपादान हैं, अभिप्रायात्मक वर्णन होने के कारण वे भी लगभग समान और सुनिश्चित से हैं, जैसे दहेज में दासी, दास, हाथी, घोड़ा, रथ, मणि, आभूषण, वस्त्रादि का ही वर्णन सर्वत्र मिलता है चाहे वह शंकर का विवाह हो अथवा राम का कवि के अभिप्रायात्मक वर्णनों में ऐतिहासिक तथ्यान्तर धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है, अन्यथा पर्वतराज हिमांचल और विदेहराज की कन्या के विवाह में काल और परिवेश का विशाल अन्तराल होते हुए भी इतना साम्य क्यों होता । इतना होते हुए भी अपवाद स्वरूप कथा की प्रमुख घटनाओं का वैभिन्य अभी भी सुरक्षित है, उदाहरणार्थ शिव और राम की बारात के स्वरूप में जो भिन्नता है, वह [illegible] अभिप्रायों से प्रभावित नहीं हुई है ।

वर्णनात्मक अभिप्रायों की दृष्टि में रखकर ऊपर हमने रामचरित मानस, पार्वती-मंगल और जानकीमंगल का पर्यवेक्षण किया है । तुलसी की जिन दो रचनाओं में विवाह का प्रसंग और मिलता है वे हैं - गीतावली और रामलला नहछू । गीतावली में तुलसी ने वैवाहिक क्रियाओं के वर्णन से तटस्थ रहकर मात्र वर्णनात्मक अभिप्राय की दृष्टि से यह कृति उल्लेखनीय नहीं है । रामलला नहछू में विवाह का सर्वांङ्गीण वर्णन होकर मात्र एक चित्र मिलता है । यह 'नहछू' का चित्र है । नहछू का यह प्रसंग यज्ञोपवीत के अवसर का है या विवाह के अवसर का, इस बात को लेकर विद्वानों में मतभेद है । मेरी धारणा है कि यह विवाह से ही सम्बद्ध है क्योंकि इसमें राम के लिए स्पष्टत: दूलह शब्द का प्रयोग हुआ है[१]। यहाँ इस विषय पर विस्तार से विचार करने का कोई औचित्य नहीं है, अस्तु हमें मात्र इतना ही कहना चाहिए कि इसे लोक परम्पराश्रित विषय का वर्णन करने वाली रचना ही मानना ठीक है, इसका ऐतिहासिक विश्लेषण संगत नहीं है ।

राज्याभिषेकोत्सव-वर्णन -

रामचरित मानस में राज्याभिषेक के चार प्रसंग हैं । १. अयोध्याकाण्ड

---

१. गोदलिये कौसिल्या बैठि रामहि बर हो ।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो ।।

मैं राम राज्याभिषैक की तैयारी , २. किष्किन्धाकाण्ड मैं सुग्रीव का राज्या-भिषैक , ३. लंकाकाण्ड मैं विभीषण का राज्याभिषैक । ४. उत्तर काण्ड मैं विधिवत् राम का राज्याभिषैक । इनमैं दूसरै और तीसरै प्रसंग तौ सूचनात्मक है, जिनमैं वर्णन नहीं कै बराबर है । वर्णनात्मक अभिप्राय की दृष्टि सै प्रथम और चतुर्थ प्रसंग ही दैखनै यौग्य है ।

अयोध्याकाण्ड मैं राज्याभिषैक की कैवल तैयारी हौती है, वह सम्पन्न नहीं हो पाता । इसी बीच राम का वनवास हो जाता है । अस्तु इस प्रसंग मैं राज्याभिषैक की तैयारी का ही वर्णन ही प्राप्त हौता है, जिसका बहुलांश ऐसा है जो प्रत्यैक उत्सव-वर्णन मैं वर्णित हौता है जैसै विविध वितान की रचना, रसाल और पुंगीफल कै वृक्ष रौपना, चौक और बाजार की साज-सज्जा, ध्वज, पताका, तौरण, कलश की सज्जा आदि ।[१] राज्याभिषैक की विशैष क्रिया का वर्णन इस प्रसंग मैं नहीं है । मात्र दो एक कथन जैसै तीर्थों कै जल का आनयन तथा कनक सिंहासन की रचना आदि ऐसै हैं, जो विशैष रूप सै राज्याभिषैकोत्सव वर्णन कै अंग हैं ।

रामचरितमानस कै उत्तरकाण्ड मैं राज्याभिषैक प्रसंग जिस राम-कथा कै अनन्तर है, वह भी माङ्गलिक अवसरौं की परम्परित पृष्ठभूमि सै भिन्न नहीं है । एक तरफ तौ उसकै आयौजन का मुख्य कारण राम कै वन सै वापस आनै का हर्ष है दूसरी तरफ वही प्रसंग राज्याभिषैक की पीठिका भी बन जाता है । ऐसै आयौजनौं कै पूर्व हौनै वालै वर्णनीय अभिप्रायौं का उल्लैख हम विवाहौत्सव कै प्रसंग मैं कर चुकै हैं । राज्याभिषैक का जौ मुख्य अभिप्राय यहाँ वर्णित है वह है ब्राह्मणौं कौ प्रणाम करै राम का सीता कै सहित कनक सिंहासन पर बैठना, वैद-मंत्रौच्चार तथा राजतिलक । प्रसंग इस प्रकार है --

----

१. रा० । २।७

रबि सम तेज सो बरनि न जाई । बैठे राम द्विजन्ह सिर नाई ।।
जनक सुता समेत रघुराई । पेखि प्रहरषे मुनि समुदाई ।।
बेदमंत्र तब द्विजन्ह उचारे । नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे ।।
प्रथमतिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा । पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा ।।
रा० ७।१२

पर्व एवं त्योहार --

तुलसी-साहित्य में पर्व एवं त्योहार की चर्चा अत्यन्त स्वल्प है । तीर्थराज प्रयाग में सूर्य के मकरगत होने पर माघ मास में होने वाला स्नान पर्व ही एकमात्र विशिष्ट पर्व है। इसका वर्णन अभिप्राय बद्ध नहीं है ।

त्योहार के अन्तर्गत गीतावली के उत्तरकाण्ड में वर्णित दो त्योहारों को लिया जा सकता है ये हैं दीपमालिका और होली (वसंत) दीपमालिका वर्णन में स्फटिक भित्तियों के शिखरों पर सोने के दीपों के ज्योतित होने का वर्णन है,[1] जो वर्णनात्मक अभिप्राय है । होलीवर्णन में फाग खेलने, मृदंग, झांझ, डफ, तथा कुहुघोष के वाद्य बजने में ~~-फाग-खेलने-मृदंग,-झांझ,-डफ,-तथा~~ पिचकारी लेकर रंग क्रीड़ा करने, अबीर लगाने का उल्लेख हुआ है,[2] जो होली वर्णन की रूढ़ क्रियाएं हैं और जिसे सभी कवि अपनाते रहे हैं ।

आखेट --

आखेट का ही दूसरा नाम मृगया है । क्षत्रिय राजाओं एवं राजकुमारों के जीवन में मृगया खेलने का वर्णन अवश्यमेव किया जाता रहा है । खरदूषण के दूतों से मानस के अरण्यकाण्ड में राम कहते हैं --

हम छत्री मृगया बन करहीं । तुम्हसे खल हम खोजत फिरहीं । रा०।३।१९

---

१. गी० । ७।२०
२. गी० । ७।२१,२२

आचार्य केशव मिश्र ने मृगया वर्णन की रीति इस प्रकार बताई है --

मृगयायां च संचारी वागुरा नीलवेषता ।
मृगाधिक्यं तृणकाले हिंस्र दौड़ी गतित्वरा ।।[१]

केशवदास ने मृगया वर्णन में विविध, पशुओं पक्षियों को मारने का वर्णन आवश्यक बताया है और उनकी पूरी एक सूची प्रस्तुत की है ।[२] गोस्वामी जी का मृगया-वर्णन सहज और स्वाभाविक है, वह किसी परिपाटी पर पूर्णरूपेण अवलम्बित नहीं है । रामचरितमानस में मृगया के दो प्रसंग हैं --

१. राजा प्रतापभानु द्वारा मृगया खेलना २. राम द्वारा मृगया खेलना इन दोनों में केवल पहला ऐसा है जो मृगया प्रसंग की चित्रात्मकता लिए हुए है । इसमें घोड़े पर चढ़कर राजा प्रतापभानु का गम्भीर वन में जाना, अनेक मृगों को मारना और फिर एक वाराह के पीछे पड़कर दूर जंगल में पहुंच जाना वर्णित है --

चढ़ि बर बाजि बार एक राजा । मृगया कर सब साजि समाजा ।
बिन्ध्याचल गंभीर बन गयऊ । मृग पुनीत बहु मारत भयऊ ।।
फिरत बिपिन नृप दीख बराहू । जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ।।
रा० १।१५६

यद्यपि इस वर्णन में मृगयावर्णन का शास्त्रोचित विस्तार नहीं है फिर भी जिन क्रियाओं की ओर संकेत है वे अभिप्राय से भिन्न नहीं है । राम के मृगया-वर्णन में मात्र इतना कहा गया है कि वे बंधु और सखाजनों को साथ लेकर नित्य मृगया खेलने जाते हैं और पुनीत मृगों को मारते हैं ।[3]

युद्ध -- युद्ध के वर्णनीय तत्त्वों का विधान केशवमिश्र ने इस प्रकार किया है --

---

1. अलंकारशेखर। पञ्चरत्न। द्वितीय मरीचि।३२
2. केशव मिश्र - कविप्रिया ।आठवाँ प्रभाव ३२,३३
3. बंधु सखा संग लेहिं बुलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ।।
पावन मृग मारहिं जिय जानी । दिन प्रतिनृपहिं देखावहिं आनी ।।
रा० १।२०५

युद्धे तु वर्म बलवीर रजांसि तूर्य [illegible]: ।
छिन्नातपत्र रथचामर केतु कुम्भि योधा: सुरीवृत भटा: सुरपुष्पवृष्टि: ।।[1]

केशवदास के अनुसार संग्राम का वर्णन करते समय सेना, कोलाहल, कवच, उड़ती हुई धूल, साहस, शस्त्रों का प्रहार, अंगभंग, योद्धाओं का समूह, अंधकार, सिर कटे हुए धड़, योगिनियों के साथ रुद्र और रुधिरमय भयानक भूमि आदि को तालाब नदी तथा समुद्र का रूपक देते हुए वर्णन करना चाहिए ।[2]

गोस्वामी जी युद्ध वर्णन में बहुत कुछ इन्हीं आधार स्तम्भों पर [illegible] रहे हैं । रामचरितमानस के अरण्य काण्ड और लंकाकाण्ड में तथा कवितावली के [illegible] में ही युद्ध-वर्णन के प्रसंग मिलते हैं । नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जिनसे युद्ध वर्णन में तुलसी द्वारा किए गए अभिप्रायों का प्रयोग स्पष्ट हो जायगा ।

(क) रणवाद्य के साथ सैना का प्रस्थान

बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ । सुनि धुनि होइ भटन्ह मन चाऊ ।।
बाजहिं भेरि नफीरि अपारा । सुनि कादर उर जांहि दरारा ।।
रा० ६।४१

< <

चलत कटक दिगसिंधुर डिगहीं । छुभित पयोधि कुधर डगमगहीं ।।
रा० ६।७६

(ख) धूल का उठना

उठी रेनु रबि गयउ छपाई । मरुत थकित बसुधा अकुलाई ।।रा०।६।६६

(ग) गर्जन-तर्जन, शस्त्रों का प्रहार

गर्जहि तर्जहि सहज असंका । मानहु ग्रसन चहत हहिं लंका ।।
रा०५।५५

< <

---

1. अलंकारशेखर। षष्ठ रत्न। द्वितीय मरीचि। १६
2. केशवदास। कविप्रिया, आठवां प्रभाव, २६,३०

उर दईउ कईउ कि धरहु धाए बिकट भट रजनीचरा ।।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसु धरा ।।
रा०।३।१६

(घ) अपने-अपने पक्ष की जय-जयकार

दुहुँ दिसि जय जयकार करि निज निज जोरी जानि ।
भिरे बीर इत रघुपतिहि उत रावनहिं बखानि ।। रा० ६।७६

(ङ०) रुधिर-सरिता

कादर भयंकार रुधिर सरिता चली परम अपावनी ।
दोउ कूल दलरथ रेत चक्र अबर्त बहति भयावनी ।।
जलजंतु गज पदचर तुरग खर बिबिध बाहन को गने ।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने ।। रा० ६।८७

(च) शिर से विच्छिन्न धड़

बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं । रा० । ६।८८

(छ) योगिनियों के साथ रुद्र -

जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी तीर तीर बैठी सो समर सर
खोरिकै।
तुलसीबैताल भूतसाथ लिए भूतनाथ हेरि हेरि हंसत है हाथ जोरि जोरि कै ।।
क०६।५०

इनके अतिरिक्त युद्ध-वर्णन के अन्य छोटे छोटे अभिप्राय भी राम-खरदूषणयुद्ध से लेकर राम-रावण युद्ध तक बिखरे हुए मिलते हैं । युद्ध-वर्णन में कल्पित अभिप्रायों का प्रयोग तुलसी ने अपेक्षाकृत अधिक किया है । ऐसे कवि अभिप्रायों का अधिक आश्रय लेते हैं जिन्हें युद्ध को देखने सुनने का अनुभव नहीं होता ।

तपस्या -

यद्यपि काव्यशास्त्रियों ने तपस्या के वर्णनीय तत्त्वों का उल्लेख नहीं किया, फिर भी हम ऐसा पाते हैं कि किसी पात्र को कठोर तपस्या रत होते हुए वर्णन करने की एक निश्चित प्रक्रिया साहित्यकारों के बीच पहले प्रचलित थी जिसमें

तपस्वी क्रमश: भोजन छोड़कर फल-फूल, फिर फल-फूल छोड़कर कन्दमूल, फिर उसे भी छोड़कर पेड़ों की पत्तियाँ और फिर उन्हें भी छोड़कर क्रमश: जल और वायु के सहारे जीवित रहता था। ऐसी अवस्था में उसकी मानसिक समाधि और शारीरिक कृशता का वर्णन कवि अवश्यमेव करता था। तदनन्तर कथाभिप्राय की प्रेरणा से तपस्वी को सिद्धि मिल जाती थी।

तुलसी ने पार्वती और मनु-शतरूपा के कठोर तप का वर्णन इसी प्रकार की अभिप्रायात्मक प्रणाली पर किया है। उदाहरण के लिए तपस्यारत मनुशतरूपा का एक चित्र प्रस्तुत है -

कृस सरीर मुनि पट परिधाना। सत समाज नित सुनहिं पुराना।।
द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग।।
करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा।।
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे।।
< < रा० १।१४३-४४

एहिबिधि बीते बरष षट सहसबारि आहार।
सेवत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार।। रा०।१।१४४

४. रूपवर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय

इसके अन्तर्गत हम उन अभिप्रायों का अध्ययन करेंगे जो रूप-वर्णन के प्रयोजन से तुलसी-साहित्य में अपनाए गए हैं, साथ ही कवि-परम्परा में उनका प्रचलन पहले से रहा है। उन्हें दूसरे शब्दों में हम रूप-वर्णन के रूढ़ उपादान भी कह सकते हैं। काव्य में पाये जाने वाले रूपवर्णन का सम्पूर्ण भाग इसके अन्तर्गत नहीं आ सकता, क्योंकि यह वर्णन रूढ़ाश्रित होता है और रूढ़ि प्रयोग का आधार जातिगत होता है व्यक्तिगत नहीं। अस्तु जातिगत रूपवर्णन का परीक्षण ही वर्णनात्मक अभिप्रायों की कसौटी पर होना चाहिए। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। राम के शिशु रूप का वर्णन वहाँ तक वर्णनात्मक अभिप्राय की सीमा में आता है जहाँ तक उनका रूप वही है जो सामान्य शिशु जाति का होता

है । किन्तु जहाँ उनका शिशुत्व रामत्व में बदलने लगता है, उनके रूप का वर्णन वर्णनात्मक अभिप्राय की सीमा से बाहर हो जाता है ।

इसस्थिति का अपवाद भी हमें यहीं मिल जाता है, यद्यपि वह अभिप्राय सिद्धान्त को प्रभावित नहीं करता । साहित्य में रूप वर्णन के सम्बन्ध में अभिप्राय प्रयोग की प्रक्रिया ऐसी होती है कि अदृष्ट व्यक्तित्व के रूप वर्णन में परम्परा कथित तथ्यों को अपनाया जाता है । इन तथ्यों के दो स्रोत हो सकते हैं । पहला स्रोत तो उसी व्यक्तित्व का पूर्व के साहित्यकारों द्वारा किया गया रूप वर्णन है । यदि प्रथम स्रोत उपलब्ध नहीं है तो वय और काल के अनुसार रूपवर्णन की जातीय विशेषताओं का उस व्यक्तित्व पर आरोपण कर दिया जाता है । स्रोत चाहे जो भी हो, दोनों ही स्थितियों में अभिप्रायात्मक रूप-वर्णन का अध्ययन व्यक्तित्व को ही लेकर होगा, जाति को लेकर नहीं । नीचे हम तुलसीकृत अभिप्रायात्मक रूप-वर्णन का अध्ययन जिन-जिन रूपों के सन्दर्भ में करेंगे उनमें से कुछ में एक का और कुछ में दोनों स्रोतों का योग है । वर्णनात्मक अभिप्रायों पर हुए रूप वर्णन में सबसे महत्वपूर्ण चीज है रूप वर्णन सम्बन्धी पारम्परिक अप्रस्तुत विधान जिसका परिचय आवश्यकतानुसार विवेचन के साथ यहाँ दिया जायगा ।

<u>शिशु रूप-वर्णन : राम, कृष्ण का शिशु रूप</u> - तुलसी ने राम के शिशु रूप का वर्णन रामचरितमानस, गीतावली और कवितावली में किया है तथा कृष्ण के शिशु रूप का वर्णन कृष्ण-गीतावली में । कृष्णगीतावली में कृष्ण का शिशुरूप वर्णन कवि ने दत्तचित्त होकर नहीं किया । तुलसी की चित्तवृत्ति राम के शिशु रूप वर्णन में ही अधिक जमी है । कविपरम्परा में राम और कृष्ण के शिशु रूप का वर्णन जितने कवियों ने किया है, उसका सुनिश्चित आकलन भी आज तक सम्भव नहीं हो सका । कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार के रूप वर्णन में परम्परित उपादानों की कोई कमी न थी ।

तुलसी ने अधिकतर इन्हीं उपादानों को ग्रहण करके राम का शिशु-रूपचित्रण किया है, यद्यपि प्रयोग में नवीनता और मौलिकता अवश्य है । बाललीला के विवेचन में हम जो कुछ लिख चुके हैं उससे भी राम के शिशु रूप का कुछ न कुछ आभास

होता है,उसके अतिरिक्त निम्नलिखित बातें और उल्लेखनीय हैं --बाल्यावस्था में राम के छोटे-छोटे अरुणाभ चरण अत्यन्त कोमल हैं, पैरों में नूपुर है, कटि में किंकिणी है, हाथ में कंकण है, वक्ष पर बघनखा है ।[१]उनकी घुंघुराली अलकें मुखमण्डल पर लटकती हैं ।[२]भाल पर गोरोचन का तिलक है,[३] कानों में कुण्डल है,[४] हाथों में पहुँची है[५] आँखों में अंजन है । वे पीत वस्त्र (झंगुलियां) पहने हुए हैं ।[६] उनके कंठ में कठुला है,[७] सिर पर चौतनी टोपी है ।[८] किलकारी मारकर जब वे हंसते हैं, छोटी-छोटी दंतुलियों की स्वच्छ आभा बिखर जाती है ।[९] सम्पन्न परिवार के एक सर्वांङ्ग,सुन्दर और स्वस्थ शिशु का यही सहज स्वाभाविक रूप प्राचीनकाल में होता था जिसे राम और कृष्ण का वर्णन करने वालों ने आवश्यकतानुसार ग्रहण किया । यही शिशु-रूप वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय का ग्रहण है । तुलसी कृत शिशुरूप वर्णन भी इसी प्रणाली पर आश्रित है । गीतावली के २५ पदों में हुए राम के शिशु-रूप वर्णन में यही अभिप्राय प्रयुक्त हैं ।[१०] कवितावली के ५ सवैयों में भी यही अभिप्राय मिलते हैं[११] तथा राम चरित मानस के दो प्रसंगों (बालकाण्ड में रामजन्म के बाद का प्रसंग[१२]तथा उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि द्वारा राम के बाल रूप दर्शन का प्रसंग),[१३] तथा उत्तर काण्ड में कागभुशुण्डि द्वारा राम के बाल-रूप दर्शन का

---

१. गी०। १।१६

२. ~~क० १।५~~ घुंघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर ।क०।१।५

३. भ्राजत भाल तिलक गोरोचन । गी०।१।२१

४. कुण्डल लोल कपोलन की । क०।१ ।५

५. एवं ६. मंजुकर कंजनि पहुँचियाँ रुचिरतर

पियरी झीनी झंगुली सांवरे सरीर खुली । गी०१।३०

७. कठुला कंठ मंजु गजमनियाँ । गी० ।१।३१

८. सोहति सीस लाल चौतनियाँ । गी० १।३१

९. बरदन्त की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की ।

चपला चमकै घनबिज्जु जगै छबि मोतिन माल अमोलन की ।। क०१।५

१०. गीता० १।७-३२

११. क० १।१-५

१२. रा० १।२०२-२०३

१३. रा० ७।७६

में भी इन्हीं अभिप्रायों के आधार पर शिशु रूप-वर्णन हुआ है । यहाँ यह बात कही जा सकती है कि राम का शिशु रूप सभी रचनाओं में भिन्न तो हो नहीं सकता, जो उचित भी है, किन्तु मेरा आशय मात्र इतना है कि इस प्रकार के वर्णन वर्णनात्मक अभिप्राय पर आधारित हैं, जिनका अस्तित्व मध्यकालीन कवियों के काव्य में था । इसे कवि की अयोग्यता न मानकर साहित्य रचना का समसामयिक प्रभाव ही मानना संगत होगा । सूर ने कृष्ण के बालरूप वर्णन में तुलसी से पूर्व इन्हीं अभिप्रायों का खुलकर प्रयोग किया था ।[१] अन्य भक्तिकालीन कवियों में भी यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती है ।

स्त्री रूप-वर्णन : सीता का रूप –

काव्य में प्राय: स्त्री जाति का रूप वर्णन न होकर किसी स्त्री पात्र या नायिका के रूप सौन्दर्य का वर्णन होता है और उसी से स्त्री रूप के आकर्षण और सौन्दर्य का बोध कराया जाता है । काव्य में स्त्रियों को प्राय: कुरूप न कहकर सदैव गौरवर्णी, सुमुखी, सुलोचनी, मृगनयनी पिकबयनी, गजगामिनी आदि ही कहा जाता रहा है । कहने का तात्पर्य यह कि काव्य में स्त्रीमात्र को सुन्दरी माना जाता है ।

गोस्वामी जी ने भी ऐसे प्रयोग बहुत किए हैं जिनमें विशिष्ट सौन्दर्य के उपमानों को सामान्यत: स्त्री मात्र पर आरोपित किया गया है । यह प्रवृत्ति काव्यात्मक अभिप्राय से ही सम्बद्ध है । मिथिला में जो नारियाँ राम-सीता विवाह के अवसर पर सुंदर गीत गाती हैं वे सभी सुनयनी और पिकबयनी कही गई हैं –

जूथ जूथ मिलि समुखि सुनयनी । करहिं गान कल कोकिल बयनी ।।

रा० । १।२८६

इसप्रकार के कथनों के कुछ उदाहरण ये हैं --

कहहिं परसपर कोकिलबयनी । येहि बिबाह बड़लाभ सुनयनी ।।

रा०१।३१०

---

१. सूरदास-सूरसागर-दशम् स्कन्ध(सम्पूर्णबाल वर्णन प्रसंग) ।

चली मुदित परिछनि करनि गजगामिनि बर नारि ।। रा० १।३१७

निज निज अटनि मनोहर गान करहिं पिकबैनि ।
मनहुं हिमालय सिखरनि लसहिं अमर मृगनैनि ।। गी० ७।२१

फुंड फुंड फूलन चली गजगामिनि बर नारि ।। गी० ।७।१६

ये सभी सुन्दरियाँ विशेष अवसरों पर षोडश शृंगार किए रहती हैं इसके दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

१. नव सप्त साजें सुंदरी सब मत्त कुंजर गामिनी ।। रा० ।१।३२२

२. सो समो देखि सुहावनो नव सत सँवारि सँवारि ।। गी०।७।१८

इस प्रकार काव्यरूढ़ि में प्रचलित विशेषताओं से स्त्री के आकर्षक रूप का वर्णन वर्णनात्मक अभिप्राय पर ही आधारित माना जाना चाहिए ।

स्त्री रूप के वर्णन के समस्त अभिप्राय सीता के रूपांकन में व्यवहृत हुए हैं । गोस्वामी जी एक ओर तो जननी मानने के कारण पार्वती और सीता के सौन्दर्य चित्रण से तटस्थ रहते हैं और शीलता का निर्वाह करते हैं, तथा दूसरी ओर अन्य पात्रों के मुख से सीता के सौन्दर्य की अभिव्यंजना बड़ी चातुरी के साथ कर भी देते हैं । ग्राम बधूटियों के मुख से कई बार सीता को विधु बदनी[1], सुकुमारी[2] आदि कहलाते हैं । सीताहरण के अनन्तर रामचरित मानस में राम का जो प्रलाप वर्णित है उसमें सीता के अंगों की सादृश्यव्यंजना के लिए स्त्री रूप वर्णन के समस्त रूढ़ अप्रस्तुत एकत्र हो गए हैं --

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृग नैनी ।
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ।।
कुंदकली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ।।
बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ।।
श्रीफल कनक कदलि हरिषाहीं । नेकु न संक सकुच मनमाहीं ।।

रा०३।३०

---

१. संग लिए बिधु बैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो है । क० २।१६

२. गए जो पथिक गोरे सांवरे सलोने सखि :
संग नारि सुकुमारि रही । गी० १२।३८

इन चौपाइयों में [illegible] हो जाने पर स्त्री रूप के श्रेष्ठतम उपमानों को प्रसन्न होते हुए दिखाया गया है और प्रकारान्तर से सीता के अंग-प्रत्यंग का सौन्दर्य व्यक्त कर दिया गया है । सीता और राम के रूप-सौंदर्य के वर्णन में तुलसी ने अनेक उभयनिष्ठ अप्रस्तुतों का व्यवहार किया है, जो वर्णनात्मक अभिप्राय के प्रति कवि की आसक्ति को और भी पुष्ट करता है । रूपवर्णन करते समय कवियों का ध्यान सादृश्यविधान की ओर जाता है और वे उपमानों की आवश्यकता अनुभव करते हैं । ऐसी अवस्था में जो कवि अभिप्राय या मोटिफ के आधार पर वर्णन करना चाहते हैं, वे पारम्परिक अथवा रूढ़ अप्रस्तुतों को ग्रहण कर लेते हैं । तुलसी के सौन्दर्य-वर्णन का एक बहुत बड़ा भाग इस कोटि में आता है । स्त्री रूप वर्णन और उसी के प्रसंग में सीता के रूप वर्णन की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं । नीचे हम तुलसी के द्वारा वर्णित स्त्री रूप के उपमेय, उनके पारम्परिक उपमान तथा उनके सूचक धर्मों का सूचीबद्ध उल्लेख करते हैं --

	उपमेय	कथित उपमान	सूचक धर्म
मुख	मुख	शरद कमल, शरद शशि	कान्ति
	शरीर की द्युति	विद्युल्लता, दामिनी, कनक	वर्ण, आभा
	केश	भ्रमर समूह	श्यामता
	भौंहें	काम का धनुष	मादक सुन्दरता
	नेत्र	खंजन, मीन, मृग	चंचलता, विशालता
	नासिका	शुक	समरूपता
	दंतपंक्ति	कुंदकली, दाड़िम, दामिनी	श्वेतिमा
	कंठ, ग्रीवा	कपोत की ग्रीवा	समरूप सौन्दर्य
	ध्वनि	कोकिल की ध्वनि	स्वर माधुरी
	कटि	सिंह की कटि	तनुता, क्षीणता
	हास्य	वरुणपाश	सम्मोहन
	गति	हंस गज	मस्ती
उरोज		श्रीफल	गोलाई, काठिन्य
	उरु	कदली	चिक्कणता

उपमेयों के ये उपमान वर्णनात्मक अभिप्राय के वे अंग हैं जो स्त्री के रूप-वर्णन के लिए कवि-परम्परा में प्रयुक्त होते रहे हैं । संस्कृत में कालिदास और माघ तथा हिन्दी में विद्यापति और सूर जैसे चोटी के कवियों ने इन उपमानों को व्यापकता से अपनाया है । इन उपमानों में कहीं ऐसे भी हैं जो स्त्री और पुरुष दोनों के सौन्दर्य वर्णन में उभयनिष्ठ रहते हैं । तुलसी साहित्य में इस तरह के अनेक उपमान उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिसका उपयोग एक ही उपमेय के लिए राम और सीता दोनों के रूप-सौंदर्य -वर्णन में अनेकश: हुआ है । राम के रूप-वर्णन पर अभिप्राय की दृष्टि से विचार कर लेने के बाद यह तथ्य स्वत: स्पष्ट हो जायगा ।

राम का रूप-वर्णन --

तुलसी ने रामचरित मानस, गीतावली, कवितावली आदि रचनाओं में कई स्थानों पर राम का रूप-वर्णन किया है । राम का सौन्दर्य अत्यन्त मोहक है । रूप वर्णन के सभी स्थल एक परिपाटी पर योजित जान पड़ते हैं । इसके लिए रूढ़ अप्रस्तुतों को बार बार ग्रहण किया है । उपमानों की अनेकश: आवृत्ति काव्यरूढ़ि परक वर्णन का लक्षण है । इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि तुलसी रूप वर्णन में सामग्री की दृष्टि से अधिकांश मात्रा में परम्परा पर ही आश्रित रहे हैं, किन्तु इतना होते हुए भी उनकी सामग्री-संयोजन की कला का वैशिष्ट्य वर्णनों में विरसता नहीं उत्पन्न होने देता ।

तुलसी ने राम के शरीर की द्युति, कपोल, चिबुक, ग्रीवा, अधर, रद, नासिका हँसी, भृकुटि, ललाट केश स्कन्ध बाहु हाथ, पैर, नेत्र, नाभि और त्रिवली आदि अंगों का वर्णन किया है । 'राम' के शिशु रूप का उल्लेख हम इसके पूर्व कर चुके हैं। उसके अतिरिक्त रूप वर्णन की दृष्टि से राम के ४ रूप और हैं जिस पर हम यहां विचार करेंगे --

इन चारों रूपों में वय और परिधान का साधारण अन्तर पाया जाता है, शरीर का मूल रूप तो सर्वत्र समान ही है । जैसे वनवास के पूर्व राम मणिमाला

पहने हुए दिखाए गए हैं ।[१] विवाह के अवसर पर वे विवाह के परिधान में हैं जिसमें कई प्रकार के पीत वस्त्र और मौर आदि का वर्णन है ।[२] बाल्यावस्था में वे जहाँ चौतनी टोपी या मोरपंख धारण करते हैं वहाँ वनवासी होने पर जटाजूट बाँध लेते हैं ।[३] समयानुसार ये सामान्य भेद तो रूप में आते ही रहते हैं, पर ये कभी मूल रूप की स्वाभाविकता को बाधित नहीं करते ।

अधिकतर राम के रूप का वर्णन तुलसी ने प्रचलित उपमानों के ही आधार पर किया है । इस सम्बन्ध में उपमेय उनके उपमान और सूचक धर्मों की एक सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है जो राम के रूप-सौन्दर्य वर्णन से सम्बद्ध है और जिसके कुछ उपमान राम के रूप-वर्णन में होने के साथ सीता के रूप वर्णन में भी मिलते हैं, जिससे उनकी उभयनिष्ठता का पता चलता है --

उपमेय	उपमान	सूचक धर्म
शरीर का वर्ण	शरद ऋतु का चन्द्रमा नवकमल, नील कमल, नीलमणि, नीलमेघ, तमाल, मरकत, घटा	श्यामता
केश	मधुपसमूह, तमपुंज	,,
भृकुटि	मनोज चाप	मादक आघात
आनन	चन्द्रमा, कमल, मदन	सौन्दर्य
कण्ठ	कंबु, केकी का कंठ	सौन्दर्य, आकार
चरण	राजीव, शरदकमल	कोमलता

----

१. उर मनिहार पदिक की सोभा । बिप्रचरण देखत मन लोभा ।। रा०। १।१९९

२. पिअर उपरना काखासोती । दुहुँ आचरन्हि लगे मनि मोती ।।
नयन कमल दल कुंडल काना । बदन सकल सौंदर्ज निधाना ।।
रा० १।३२७

३. सिरनि जटा मुकुट मंजुल सुमन जुत । गी० ।२।२९

उपमेय	उपमान	सूचक धर्म
नाभि	यमुना की भँवर	समरूपता
स्कन्ध	सिंह का स्कन्ध देश	विशालता
दांत	कुन्दकली, चपलता	उज्ज्वलता
नख की ज्योति	मोती की ज्योति, शशि की ज्योति	शुभ्रता
नासिका	कीर	सौन्दर्य, आकार
जानु	कदली दंड	कोमलता, आकार
मुक्तामाल	हंसावली	शुभ्रता, चमक
कुण्डल	मोर	आकृति
तूणीर	शिली मुखाकार	कालिमा
हास्य	चन्द्रकिरण की आभा	उज्ज्वलता
खड़े होने की मुद्रा	युवा मृगराज की मुद्रा	निर्भीकता

उपमेयों के ये उपमान भी पुरुष-सौन्दर्य के लिए साहित्य में प्रचलित हैं। तुलसी ने राम के रूप वर्णन में इनका यथास्थान व्यवहार किया है जो अभिप्रायात्मक वर्णन की परम्परा से जुड़ा हुआ है।

नखशिख वर्णन --

रूप - सौन्दर्य के चित्रण में नखशिख वर्णन भी एक प्रमुख काव्य रूढ़ि रही है। संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी के रीतिकाल तक नखशिख वर्णन की प्रवृत्ति अक्षुण्ण रूप में देखी जा सकती है। चन्दवरदायी और मलिक मोहम्मद जायसी ने अपनी नायिकाओं का वर्णन पर्याप्त रुचि के साथ किया है।[१]

स्त्री का नख-शिख वर्णन -

गोस्वामी जी ने सीता का नखशिख वर्णन नहीं किया है। इसका कारण उनके हृदय में सीता के प्रति असीम भक्तिभाव का होना और उन्हें जननी के

---

१. जायसी-पद्मावत - (नखशिख वर्णन खण्ड)

रूप में मानना ही बताया जाता है । कवि ने विभिन्न पात्रों के मुख से तो सीता के अंगों का सौन्दर्य उपमानों के माध्यम से कह ही दिया है । राम के प्रलाप में तो कवि अत्यन्त ही सचेष्ट होकर स्त्री-सौन्दर्य के श्रेष्ठतम उपमानों को पुंजीभूत कर देता है ।[१] पति के मुख से ऐसा कहलाने से मर्यादा भी सुरक्षित रहती है और कवि कर्म भी सम्पन्न हो जाता है । उक्त प्रसंग नायिका के नखशिख वर्णन के पर्याप्त निकट पहुँच जाता है । मात्र दो कमियां इसमें रह जाती हैं, पहली तो यह कि इसमें शरीर के उपमेय अंगों के अनुसार उपमानों का व्यवस्थित क्रम नहीं है और दूसरी यह कि वर्णन शरीर के ऊर्ध्वभाग से अधोभाग की ओर चलता है जो शिखनख वर्णन का लक्षण है । यद्यपि नायिका के नखशिख वर्णन की परम्परा तुलसी-साहित्य में आचारित प्राप्त नहीं होती तथापि राम के प्रलाप का यह प्रसंग सीता के सौन्दर्य वर्णन का एक अद्वितीय प्रयास है जो साहित्य में कहीं देखने में नहीं आता । अभिप्रायों का इतना तो अनुसरण हुआ ही है कि उपमेयांगों के उपमानों का कथन हो जाता है, नखशिख वर्णन के लिए उसकी क्रमिक योजना ही शेष रह जाती है ।

तुलसी यद्यपि परम्परा में प्रचलित घोर शृङ्गारिक भावना पर आधारित नखशिख वर्णन से दूर रहे हैं, तथापि नख से शिखा तक पार जाने वाले क्रमिक और आकर्षक रूप-सौन्दर्य से वे अनभिज्ञ नहीं हैं । गीतावली में राम और सीता को दूल्हा और दुल्हन के रूप में चित्रित करते समय वे कहते हैं कि दोनों के शरीर में सुन्दरता का नख से शिख तक निर्वाह हुआ है —

> दूलह राम सीय दुलही री
>
> घन दामिनि-बर बरन, हरन-मन सुंदरता नखसिख निबही री ।।गी०१।१०४

पुरुष का नखशिख वर्णन -

तुलसी के काव्य नायक राम "कोटि मनोज लजावनिहारे" हैं । उनका सौन्दर्य अनुपम है । वे नख से शिख तक सर्वाङ्ग सुन्दर हैं । उन्हें वन की ओर जाते

---

१. खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुपनिकर कोकिला प्रबीना ॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी । कमल सरद अहि ससि भामिनी ।। रा०३।३०

देखकर ग्रामाङ्गनाएं उनके नख-शिख सौन्दर्य को निहारती हैं, आपस में वार्तालाप करती हैं --

१. नखसिख नीके नीके निरखि निहाईं
तन सुधि गईं मन अनत न जाईं । गी०।२।४०

२. लोने नखसिख निरुपम निरखन जोग
बढ़े उर कंधर बिसाल भुज बर हैं । गी० २।४५

गोस्वामी जी ने कौशिल्या की गोद में राम के बालरूप का चित्रण किया है, इसे नखशिख वर्णन कहा जा सकता है --

कामकोटि छबि स्याम सरीरा । नीलकंज बारिद गंभीरा ।
अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ।।
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ।
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गंभीर जान जेहि देखा ।।
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हिय हरिनख अति सोभा रूरी ।।
उर मनिहार पदिक की सोभा । बिप्रचरन देखत मन लोभा ।।
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छबि छाई ।।
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ।।
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ।।
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु संवारे ।।
पीत झंगुलिया तन पहिराई । जानु पानि बिरचित मोहि भाई ।
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा । सो जाने सपनेहु जेहि देखा ।।
सुखसंदोह मोह पर ज्ञान गिरा गोतीत ।
दंपति परम प्रेमबस सिसु कर चरित पुनीत ।।

रा० १।१६६

यहां राम वात्सल्य भाव के आलम्बन हैं। वर्णन के उपसंहार तक वे भक्तिभाव के आलम्बन बन जाते हैं । इस आधार पर हम कह सकते हैं कि वर्णनात्मक अभिप्राय में नारी और पुरुष के रूप सौन्दर्य वर्णन के क्षेत्र में प्रचलित नखशिख

वर्णन की चिराचरित प्रथा से भी तुलसी किसी न किसी तरह जुड़े हुए हैं ।

५. प्रकृति-वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्राय --

सारिहित्यिक अध्ययन में कवियों के प्रकृति वर्णन पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है । तुलसी-साहित्य के अध्येताओं ने भी तुलसी के प्रकृति वर्णन पर यथावसर विचार किया है और उसके आलम्बन , उद्दीपन, उपदेशिका आदि विविध रूप बताए हैं । प्रस्तुत विवेचन में हमारा उद्देश्य समग्र दृष्टि से तुलसी के प्रकृतिचित्रण पर विचार करना नहीं है । यहां हमारा प्रयोजन मात्र यह निरीक्षण करना है कि प्रकृति के विभिन्न आयामों के वर्णन में तुलसी ने वर्णनात्मक अभिप्रायों (वर्णन के रूढ़ तत्त्वों) का उपयोग अपने काव्य में किस सीमा तक किया है । उदाहरणार्थ यदि कहीं सरोवर का वर्णन है तो उसमें यह पता लगाना अभीष्ट है कि काव्यशास्त्रियों द्वारा बताए गए सरोवर के वर्णनीय तत्त्वों का वर्णन हुआ है या नहीं , साथ ही यह भी देखना है कि अमुक वर्णन, वर्णनात्मक अभिप्रायों के ही आधार पर है अथवा स्वतन्त्र शैली पर है या उसमें दोनों का योग है ।

नीचे हम प्रकृति के कुछ प्रमुख उपादानों को लेकर तथा तुलसी साहित्य को आधार मानकर वर्णनों में प्रयुक्त अभिप्रायों का निरीक्षण करेंगे ।

पर्वत वर्णन --

अलंकार शेखर में शैल वर्णन का विधान इस प्रकार किया गया है -

शैले मेघौषधी धातुवंशकिन्नरनिर्झराः ।

तुङ्ग पादगुहारत्न वनजीवाद्युपत्यकाः ।। अ०शे० ६।२।१४

अर्थात् शैल में मेघ, औषधी, धातु, किन्नरों के वंश, निर्झर, ऊंची चोटियां, गहरी गुफाओं , वन्यजीवों और उपत्यकाओं का होना वर्णित करना चाहिए । केशव दास ने भी गिरि वर्णन में लगभग इन्हीं वस्तुओं की अनिवार्यता बतायी

है ।[१] कालिदास विरचित कुमारसम्भव में पर्वत वर्णन के ये सभी अभिप्राय सम्पूर्ण भव्यता एवं कलात्मकता के साथ पाए जाते हैं ।[२]

तुलसी के काव्य में कहीं अधिक विस्तार के साथ पर्वत का वर्णन नहीं हुआ है । राम को मनाने चित्रकूट गए हुए भरत चित्रकूट पर्वत देखने जाते हैं , इस प्रसंग में कवि ने चित्रकूट शैल की जो शोभा चित्रित की है उसमें वन्य जीवों तथा वनस्पतियों का योग है ।[३] उसके पूर्व ही राम को चित्रकूट में रहने का परामर्श देते हुए ऋषि वाल्मीकि ने उस शैल की किंचित रूपरेखा इस तरह बतायी --

चित्रकूट गिरि करहु निवासू । तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू ।।
सैल सुहावन कानन चारू । करि केहरि मृग बिहँग बिहारू ।। रा०।२।१३३

उक्त दोनों प्रसंगों में पर्वत के साथ वन का वर्णन जुड़ा हुआ है । वस्तुत: यह स्वाभाविक भी है और इसे अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि पर्वत का परिवेश वन से भिन्न नहीं होता । रामचरित मानस के अयोध्याकाण्ड में ही अन्यत्र कामद गिरि का संक्षिप्त वर्णन है ।[४] रामशैलवन में निर्झर एवं शिखरों के साथ-साथ वन की सारी विशेषताएं सम्मिलित हैं । कामद गिरि वर्णन में भी वन्य वस्तुएं ही प्रधान हैं । मानस के उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि का वासस्थल बताने हेतु सुमेरु पर्वत का प्रसंग आया है जिसके नील शैल का शिखर कनकमय है,[५] इसमें भी कोई अन्य वर्णनीय तत्व समाविष्ट नहीं है ।

गोस्वामी जी ने आलम्बन के रूप में पर्वत का वर्णन नहीं किया अन्यथा उसकी समस्त विशेषताएं एकत्र ही मिल जातीं । उनका पर्वत वर्णन पात्रों के सम्पर्क

----

१. तुंग शृंग दीरघ दरी सिद्ध सुन्दरी धातु ।
सुर नर युत गिरि वरणिये औषधि निरझर पातु ।। कविप्रिया, आठवां प्र०।१०

२. कालिदास -कुमार सम्भवम्, प्रथमसर्ग

३. रा० २।२३६

४. रा० २।२७६

५. गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी । नीलसैल एक सुंदर भूरी ।
तासु कनक मय सिखर सुहाए । चारि चारु मोरे मन भाए ।। रा०।७।५६

से तथा प्रसंग में आ जाने के कारण हुआ है, अस्तु पर्वत-वर्णन के अभिप्राय उनके काव्य में यत्रतत्र बिखरे हुए हैं । उनकी स्थिति और उनका अस्तित्व जानने हेतु उन्हें कथा प्रसंगों के बीच में खोजना होगा । इस प्रकार अन्वेषण करने से जो अभिप्राय मिले हैं उनका उल्लेख इस प्रसंग में नीचे किया जा रहा है --

पर्वतों में मणिरत्न और खनिज

प्रगटीं गिरिन्ह विविध मनि खानी ।
जगदातमा भूप जग जानी ।। रा० ७।२३
-- रामराज्य-वर्णन प्रसंग

पर्वत में औषधियाँ --

देखा सैल न औषध चीन्हा ।
सहसा कपि उपारि गृह लीन्हा ।। लक्ष्मण-मूर्छा प्रसंग
--रा० ६।५८

पर्वत पर किन्नर --

अमर नाग किन्नर दिसिपाला ।
चित्रकूट आए तेहि काला ।। चित्रकूट में राम का निवास
--रा० २।१३४

गीतावली के 'चित्रकूट-वर्णन' में पर्वत शिखरों को बादलों से घिरा हुआ दिखाया गया है --

सोहत स्यामजलद मृदु घोरत धातु रंगमगे सृंगनि ।
मनहुं आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि भृंगनि ।।
सिखर परसि घन घटहिं मिलत बगपांति सो छबि कबि बरनी ।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ।।
गी० ।२।५०

गोस्वामी जी ने अपनी रुचि के अनुसार पर्वतों में सर्वत्र मुनियों का वास भी दिखाया है जो सहज एवं स्वाभाविक भी है ।

वन-वर्णन --

अलंकार शेखर में वन-वर्णन का विधान इस प्रकार किया गया है --

अरण्ये ऽहि वराहेभयूथ सिंहादयो द्रुमा: ।
काकोलूक कपोताद्या भिल्लभल्लुदवाग्नय: ।।[१]

अर्थात् अरण्य में सर्प, सुअर, गजयूथ, सिंह, द्रुम, कौआ, उलूक, कपोत, भील, भालू दावाग्नि इत्यादि का वर्णन होना चाहिए । यह विधान वन-वर्णन के दुखद एवं दुर्गम रूप को प्रस्तुत करता है । वनवास के लिए जाते हुए राम के साथ जाने को जब सीता उद्यत हो जाती हैं, तो रामवन की विपरीतताओं को कह-कहकर उन्हें रोकने और अयोध्या में ही रहने के लिए तैयार हो जाने का प्रयास करते हैं । वन्य जीवन के कष्टों का बोध करानेवाली इन पंक्तियों में वन-वर्णन के अधिकांश अभिप्राय आ गए हैं --

कानन कठिन भयंकर भारी । घोर घामु हिम बारि बयारी ।।
कुस कंटक मग कांकर नाना । चलब पयादेहि बिनु पदत्राना ।।
चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे । मारग अगम भूमिधर भारे ।।
कंदर खोह नदी नद नारे । अगम अगाध न जाहिं निहारे ।।
भालु बाघ बृक केहरि नागा । करहिं नाद सुनि धीरज भागा ।।
भूमि सयन बलकल बसन असन कंद फल मूल ।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं सबुइं समय अनुकूल ।।
नर अहार रजनीचर करहीं । कपट वेष बिधि कोटिक करहीं ।।
लागइ अति पहार कर पानी । बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ।।
ब्याल कराल बिहंग बन घोरा । निसिचर निकर नारि नर चोरा ।।
--रा०२।६२-६३

सचमुच वन का वास्तविक रूप तो यही है जहां जीवन निर्वाह अत्यन्त कठिन होता है । वनवास का अर्थ ही है कि भौतिक सुख सुविधाओं का परित्याग कर आतप-वात सहते हुए, कष्टों को झेलते हुए जीवन बिताना । राम को चौदह वर्ष का

----

१. केशव मिश्र - अलंकार शेखर -षष्ठ रत्न, द्वितीय मरीचि , १२ ।

वनवास इन्हीं कष्टों को झेलने के लिए दिया गया था । इसी के कारण गोस्वामी जी को वन-वर्णन करने का प्रभूत अवकाश मिला । राजा प्रतापभानु के मृगया प्रसंग में वाराह का होना, राम को वन में कोल-भीलों का मिलना आदि घटनाएँ वन-वर्णन के शेष अभिप्रायों की द्योतक हैं । भालु तो राम की सेना के एक अंग ही थे ।

वन का रमणीय रूप

वन में शास्त्रविधीत वर्णनीय तत्वों का अध्ययन ऊपर हो चुका । तुलसी ने वन के उक्त दुर्गम रूप के अतिरिक्त एक और रूप रमणीय रूप का वर्णन भी किया है जिसमें मृग आदि भोले वन्य जीवों, नाना फल फूलों से लदे हुए द्रुमों, पुष्पित लता बेलियों, कल-कल निनाद करते हुए निर्झरों, मन्द मन्द चलती हुई शीतल और सुरभियुक्त हवाओं, निर्मल सरोवर और सरिताओं, कलरव करते हुए पक्षियों का उल्लेख किया गया है, साथ ही वन की विपरीतताओं को भी अनुकूलताओं के रूप में चित्रित किया है । वन के रमणीय रूप के ये वर्णनीय तत्व भी स्वाभाविक लगते हैं । प्रकृति विविध रूपा है । इसका स्वरूप कभी रमणीय से रमणीय और कभी भयानक से भी भयानक होता है । काव्य-परम्परा में वन के इस रमणीय रूप का वर्णन भी पाया जाता है, फिर भी वन के रमणीय रूप को अभिप्राय सम्मत मानने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए ।

तुलसी ने रामचरित मानस और गीतावली में वन के ऐसे रमणीय रूपों की सृष्टि की है । मानस के अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट वन से सम्बद्ध इस प्रकार के प्रसंग पाए जाते हैं ।[१] सुन्दर काण्ड में हनुमान वारिधि के उस पार जाकर जिस वन की शोभा देखते हैं[२] वह भी वन का रमणीय रूप ही है तथा रामराज्य में वन के

---

१. रा० २।१३२-३३,१३६, २४६,२७६,३११-१२

२. रा० ५।३

जिस समृद्ध रूप का चित्र है,[१] वह भी अत्यन्त रमणीय है । रमणीय वन का एक दृष्टान्त प्रस्तुत है –

राम सैल बन देखन जाहीं । जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं ।।
झरना झरहिं सुधा सम बारी । त्रिबिध ताप हर त्रिबिध बयारी ।।
बिटप बेलि तृन अगनित जाती । फल प्रसून पल्लव बहु भांती ।।
सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं । जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं ।।
सरनि सरोरुह जल बिहग कूजत गुंजत भृंग ।
बैर बिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहु रंग ।। रा०२।२४९

वन का रमणीय रूप कभी-कभी प्रभावशाली प्राणी के सान्निध्य के कारण होता है । तुलसी की रचनाओं में राम सीता और लक्ष्मण तथा अरण्य के ऋषि मुनि इस प्रकार का प्रभाव रखते हैं । राम जहाँ भी जाते हैं वन का कठोर वातावरण सुखद एवं नयनाभिराम बन जाता है –

आइ रहे जब ते दोउ भाई ।
तबते चित्रकूट कानन छबि दिन दिन अधिक अधिक अधिकाई ।

गी० २।४६

गीतावली के ५ गीतों में चित्रकूट वन का वर्णन है ।[२] विनय पत्रिका में भी दो पदों में चित्रकूट-वर्णन है ।[३] कुल मिलाकर तुलसी की रचनाओं में वन के रमणीय रूप के जितने चित्र हैं उनमें चित्रकूट वन का ही वर्णन सर्वाधिक प्रमुख और विस्तृत है ।

समुद्र वर्णन –

समुद्रवर्णन के वर्णनीय तत्त्व प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार निबद्ध किए गए हैं –

अब्धौ गिरिपाद्रि रत्नानि पोतमकरौ जलप्लवाः ।

विष्णु [illegible] वृद्धिरौर्वोऽब्द पूरणम् ।।[१]

तुलसी ने समुद्र-लंघन के प्रसंग में रामचरित मानस में चार स्थानोंपर मात्र एक एक चौपाई में समुद्र में स्थित जल जन्तुओं का संकेत किया है ।[२] अन्य वर्णनीय तत्व स्फुट रूप से यत्रतत्र मिल जाते हैं । प्राय: सादृश्यविधान में ऐसे कथन उपलब्ध होते हैं जिनमें उपर्युक्त श्लोक में वर्णित तथ्यों की सत्यता चरितार्थ होती है समुद्र-वर्णन के ये अभिप्राय कहीं व्यवस्थित समुद्र-वर्णन न होने से इधर-उधर ढूंढने से ही छिटपुट बिखरे हुए प्राप्त होते हैं । उक्त उदाहरण प्रस्तुत हैं --

१. समुद्र के जलजन्तु मगर, घड़ियाल, मछली और सर्प

देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा । प्रगट भए सब जलचर बृंदा ।।

मकर नक्र नाना झष ब्याला । सत योजन तन परम बिसाला ।।

रा० ६।३

२. समुद्र में जलपोत का होना --

संकर चाप जहाजु सागरु रघुबर बाहुबल ।

बूड़े सकल समाजु चढ़े जो प्रथमहिं मोहबस ।। रा०।१।२६१

३. समुद्र में रत्न का होना --

सागर निज मरजादा रहहीं । डारहिं रतन तटन्हिं नर लहहीं ।।

रा०।१।२६४

४. समुद्र में छोटी बड़ी नदियों का आगमन --

जिजमि सरिता सागर महुँ जाहीं । जद्यपि ताहि कामना नाहीं ।

रा०।१।२६४

---

१. केशव मिश्र । अलंकार शेखर, षष्ठ रत्न, द्वितीय मरीचि । ११

२. रा० ५।५०,५८ , रा० ६।४,४७

(५) समुद्र का पूर्णचन्द्र को देखकर बढ़ना

देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ।। रा०।१।८

सिन्धु को शरीर समुद्र का वासी तुलसी ने नमस्कार कहा है, इसलिए समुद्र वर्णन के बहुत कुछ अभिप्राय आ गए हैं ।

सरिता-वर्णन--

काव्य में सरिता-वर्णन इस प्रकार किया जाता है --

सरित्याम्बुधि यायित्वं वीच्यौवनजाजादय: ।
पद्मानि षट्पदा हंसनक्राद्या: कूलशाखिन: ।।[१]

केशवदास ने इसके अतिरिक्त सरिता के तीर पर यज्ञकुण्ड, मुनि ~~केशवदास ने इसके अतिरिक्त सरिता के तीर पर यज्ञकुण्ड~~, मुनिवास, स्नान, दान, पावनता आदि का वर्णन भी विषय बताया है ।[२] आलम्बन रूप में कहीं सरिता-वर्णन भी तुलसी-साहित्य में नहीं हुआ । विनयपत्रिका के ३ पदों में गंगा का तथा एक पद में यमुना का जो वर्णन है[३] वह प्रकृति-वर्णन न होकर स्तुति की तरह है ।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में 'रामराज्यवर्णन' के अन्तर्गत अयोध्या-नगरी की भौगोलिक स्थिति का परिचय देते हुए सरयू नदी का प्रसंग आया है, जिसमें सरिता के निर्मल जल, सुन्दरघाट, पंकरहित तट, सरिता के तीर पर घोड़े हाथियों के पानी पीने का स्थान, पनघट(जहाँ पुरुष स्नान नहीं करते ।) तथा स्नान के लिए निर्मित घाट राजघाट(जहाँ चारों वर्णों के लोग स्नान करते

---

१. अलं केशव मिश्र, अलंकार शेखर, षष्टरत्न , दि०म०।६

२. जलचर हय गय जलज तट यज्ञकुंड मुनिबास ।
स्नान दान पावन नदी बरनिय केशवदास ।। कविप्रिया ,७ वाँ प्रभाव।१४

३. वि०प० १।१८,१६,२०,२१

है) सरिता के तीर पर बने हुए मंदिर, मन्दिरों के चारों ओर उपवन, कहीं-कहीं सरिता के तीर पर उदासी, मुनि (सन्यासी साधु आदि) द्वारा कुटियाँ तथा लगाए गए तुलसिका के वृक्षों का वर्णन मिलता है, यहाँ एक साथ ही कई वर्णनात्मक अभिप्राय ~~एक साथ~~ आ गए हैं --

उत्तर दिसि सरजू बह निर्मल जल गंभीर ।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पंक नहिं तीर ।।

दूरि फराक रुचिर सो घाटा । जहँ जल पिअहिं बाजि,गज ठाटा ।।
पनिघट परम मनोहर नाना । तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना ।।
राजघाट सब बिधि सुंदर बर । मज्जहिं जहाँ बरन-चारिउ नर ।।
तीर तीर देवन्ह के मन्दिर । चहुँदिसि तिन्हके उपवन सुंदर ।।
कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी । बसहिं ज्ञानरत मुनि संन्यासी ।।
तीर तीर तुलसिका सुहाई । बृंद-बृंद बहु मुनिन्ह लगाई ।।

रा० ७।२८-२६

इसके अतिरिक्त रामचरित मानस में सरिता पर आधारित तीन सांग रूपकों (कविता-सरिता, कैकेयी-रोष तरंगिणी और रुधिर-सरिता) में सरिता के वर्णनीय तत्व दृष्टिगत होते हैं, तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं ऐसे कथन मिलते हैं । सरिता-वर्णन के वे वर्णनात्मक अभिप्राय जो ऊपर की चौपाइयों में नहीं आ सके हैं, यहाँ उदाहृत किए जाते हैं --

१. सरिता का सागर गमन -

त्रिबिध ताप त्रासक तिमुहानी । रामस्वरूप सिंधु समुहानी ।।

^ ^ रा०।१।४०

नदी उमगि अम्बुधि कहुँ धाई । संगम करहिं तलाव तलाई ।।

^ ^ रा० १।८५

ढाहत भूप रूप तरुमूला । चली बिपति बारिधि अनुकूला ।।

^ ^ रा०१।३४

२. सरिता के तीर पर वृक्षों का होना -

बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा । जनु सरि तीर तीर बनु बागा ।।

ढाहत भूप रूप तरु मूला । चली बिपति बारिधि अनुकूला ।।

--रा० १।३४

३. सरिता में तरंग,कमल और जलविहग इत्यादि --

रघुबर जनम अनंद बधाईं । भंवर तरंग मनोहरताईं ।।

बालचरित चहुं बंधु के बनज बिपुल बहुरंग ।

नृपरानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग ।। रा०।१।४०

इसके अतिरिक्तकविता-सरिता रूपक में जलचर,नाव, केवट,पथिक समाज, सरिता की घोर धार, पर्व आदि की भी योजना है[1] जो तुलसी द्वारा निर्मित सरिता के स्वरूप को अभिप्रायात्मक स्वरूप से अधिक सर्वाङ्ग और भव्य बना देती है । सरिता-वर्णन के लिए इन उपादानों को हमें तुलसी का अवदान मानना चाहिए ।

सरोवर एवं उद्यान-वर्णन -- अलंकार शेखर में सरोवर-वर्णन का प्रावधान इस प्रकार है --

सरस्वयम्भोलहर्यम्भो गजाद्यम्बुज षट्पदा: ।

हंसचक्रादयस्तीरोधानस्त्रीपान्थकेलय: ।।[2]

तथा उद्यान वर्णन का विधान इस प्रकार है -

उद्याने सरणि: सर्वफल पुण्यलतादय: ।

पिकालिकेकि हंसाद्या: क्रीडावाप्यध्वगस्थिति: ।।[3]

----

१. घोर धार भृगुनाथ रिसानी । घाट सुबद्ध राम बर बानी ।।

राम तिलक हित मंगल साजा । परब जोग जनु जुरे समाजा ।।

-रा० १।४१

२. केशव मिश्र । अलंकारशेखर । षष्ठ रत्न, द्वितीय मरीचि ।१०

३. केशव मिश्र ,अलंकारशेखर ।षष्ठरत्न । द्वितीय मरीचि । १३

उक्त दोनों श्लोकों में स्पष्ट है कि सरोवर के तीर पर उद्यान (तीरोद्यान) तथा उद्यान के मध्य में वापी का वर्णन विधेय होता है, अर्थात् दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों एक दूसरे के बिना शोभाहीन होते हैं। दोनों के इसी अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के कारण दोनों का विवेचन साथ-साथ करना अधिक संगत है। सामान्यत: वापी और तड़ाग भी सरोवर के ही पर्याय हैं।

रामचरितमानस में मुख्यत: तीन सरोवरों का प्रसंग आया है (१) बालकाण्ड का मानस-सरोवर (२) बालकाण्ड में ही जनक की पुष्पवाटिका के मध्य में स्थित सरोवर (३) अरण्यकाण्ड में वर्णित पम्पा-सरोवर। इन तीनोंसरोवरों के वर्णन में वर्णनात्मक अभिप्रायों का प्रयोग हुआ है तथा सभी के चारों ओर जिस उद्यान की शोभा है वह अभिप्रायात्मक वर्णन से व्यक्त की गई है। इतना अवश्य है कि आकार-प्रकार की दृष्टि से तीनों असमान हैं इसलिए मात्रा की दृष्टि से वर्णनात्मक अभिप्रायों का प्रयोग भी तीनों में असमान है।

मानस-सरोवर का शिल्प एक सांगरूपक पर आधारित है। इसमें सुन्दर निर्मल जल, पवित्र चारघाट, सोपान, जल में प्रवाहित तरंगे, जलीय वनस्पतियां, सीप, खिले हुए कमल, कमलपुष्पों में पराग और मकरन्द, सुरभि, भ्रमर समूह का मधुपान, हंस, मछलियां, जलविहग तथा अन्य जलचरों की योजना हुई है। सरोवर के परिवेश में वर्णित उद्यान के अन्तर्गत चारों ओर अंवराई, बसन्त ऋतु, विविधलता वितान वृक्षों में फलफूल, शुकपिकादि पक्षी, वाटिका को सींचने वाले माली आदि का वर्णन है।[2]बालकाण्ड का दूसरा सरोवर तो वाटिका में है ही जिसमें नानाप्रकार के मनोहर विटप हैं, रंग बिरंगे बेलि वितान हैं उनमें नए पल्लव फूल और फल हैं तथा उस वाटिका में चातक कोकिल, कीर, चकोरादि पक्षी हैं।[3] इस वाटिका के मध्य में सरोवर है जो अत्यन्त विचित्र है --

----

१. ~~रा० ।१।३७~~

१. रा० ।१।३७,३८

२. रा० । १।२२७

मध्य बाग सरु सोह सुहावा । मनि सोपान बिचित्र बनावा ।।
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा । जल खगकूजत गुंजत भृंगा ।।
बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत ।
परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत ।। रा०|१|२२८

मानसके अरण्यकाण्ड में विचित्र पंपा-सरोवर भी सरोवर की सभी विशिष्टताओं से युक्त है, यह आलम्बन रूप का चित्र है, इसमें निर्मल जल, मनोहर घाट, मृगों का पानी पीना, पुरइन पत्र, सुखी मछलियां, नाना रंग के विकसित कमल, उन पर गुंजार करते भौंरे, जल में बोलते हुए जलकुक्कुट और कलहंस, चक्रवाक, बक आदि खग, तथा सरोवर के तीर पर मुनिजनों की पर्णशालाओं का उल्लेख है ।[१] इसके चतुर्दिक् कानन है जिसमें चम्पक, बकुल, कदम्ब, तमाल, पाटल, पनस, कटहल, रसाल आदि वृक्ष हैं तथा नाना प्रकार के कुसुमित तरु हैं जिन पर भ्रमर समूह विचर रहा है । कानन में कोकिल की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ रही है ।[२] पम्पा सरोवर के चतुर्दिक् यह उद्यान व अरण्य में होने के कारण नगरों या बस्तियों में, पाये जाने वाले उद्यानों से किंचित् भिन्न है फिर भी उद्यान के अधिकांश वर्णनीय तत्वों की योजना हुई ही है ।

मानस के अतिरिक्त गीतावली में भी एक दो स्थानों पर सरोवर का संक्षिप्त वर्णन हुआ है ।[३]

ऋतु-वर्णन -- काव्य-परम्परा में ऋतु-वर्णन की दो शैलियां प्रचलित थीं --

१. षड्ऋतु वर्णन , २. ऋतुओं का स्फुट वर्णन

षडऋतु, वर्णन में छ: ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त) का क्रमश: वर्णन होता था । हिन्दी में प्राय:शास्त्रानुयायी और रीतिवादी कवियों ने ही ऐसा किया है । संस्कृत साहित्य में कालिदास ने ऋतुसंहार में षड्ऋतु वर्णन किया है । तेरहवीं शताब्दी में रचित अपभ्रंश भाषा का अब्दुर्रहमान कृत 'सन्देश रासक' षड्ऋतुवर्णन की वस्तु सम्पदा से आपूरित है, इसमें वियोगिनी नायिका की दशा सभी ऋतुओं में दयनीय दिखाई गई है । ऋतु-वर्णन रूढ़ परिपाटी पर हुआ है । हिन्दी के रीतिकाव्य में सेनापति का षड्ऋतुवर्णन पर्याप्त प्रसिद्ध है ।

---

१. रा० । ३।३६,४०
२. रा० ।३।४०
३. गी० १।५२ तथा गी० ।२।४७

तुलसी ने अपने काव्य में षड्ऋतु वर्णन की परम्परा का पालन नहीं किया। उन्होंने आवश्यकतानुसार ऋतुओं के स्फुट वर्णन ही किए हैं। वर्षा, शरद और वसन्त, का वर्णन ही तुलसी ने रुचि पूर्वक अपने काव्य में किया है, शिशिर, ग्रीष्म और हैमन्त के लक्षणों का बोधक कोई कथन कहीं भले मिल जाय, व्यवस्थित वर्णन नहीं मिलता। तुलसी के राम भी किष्किन्धाकाण्ड में वियोगी की भूमिका में हैं। वहाँ यदि वे चाहते तो अन्य कवियों की तरह छः ऋतुओं का वर्णन कर सकते थे। उन्होंने वर्षा और शरद इन दो ऋतुओं का वर्णन किया भी है किन्तु रामको एक वर्ष तक वहाँ रोक रखना अनौचित्य होता क्योंकि वे एक असहाय वियोगी नहीं अपितु पुरुषार्थी नायक हैं, जो हर सिद्धि के लिए सतत् यत्नशील रहते हैं अतएव वर्षा और शरद वर्णन कर तुलसी ने कथा को आगे बढ़ा दिया।

छः ऋतुओं के एकत्र वर्णन का बोध तुलसी को अवश्य था इसका पता रामचरितमानस के 'कविता-सरिता' सांगरूपक की कुछ पंक्तियों से चलता है --

कीरति सरित छहूं रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी।।
हिम हिमसैल सुता सिव ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभुजनम उछाहू।।
बरनव राम बिबाह समाजू। सो मुद मंगलमय रितुराजू।।
ग्रीषम दुसह रामबन गमनू। पंथकथा खर आतप पवनू।।
बरषा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगल कारी।।
रामराज्य सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई।। रा०१।४२

इन पंक्तियों में रामचरितमानस के ६ कथाप्रसंगों को ६ ऋतुओं के समान बताया गया है। इन पंक्तियों से यह प्रतीत होता है कि साहित्य रचना के क्षेत्र में षड्-ऋतु वर्णन का जो अभिप्राय प्रचलित था उससे तुलसी अनभिज्ञ नहीं थे। यदि उन्होंने षडऋतु वर्णन नहीं किया तो यह किसी विशेषकारण से ही हुआ होगा।

तुलसी ने वर्षा, शरद्, और वसन्त का ही वर्णन अपने काव्य में किया है। इन वर्णनों में इन ऋतुओं के वर्णनीय अभिप्राय प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं, साथ ही उनमें प्रयोगगत मौलिक दृष्टि भी है। इन तीन ऋतुओं को आधार मानकर ऋतुवर्णन में अभिप्राय-प्रयोग का संक्षिप्त अनुशीलन नीचे किया जा रहा है --

१. वर्षा वर्णन -- वर्षा वर्णन का विधान अलंकार शेखर में इस प्रकार हुआ है --

वर्षासु घनशिखिस्मय हंसगमा: पह्०कर्कंदलीकुद्भेदौ ।
जाती कदम्ब कैतकझण्झानिल निम्नगा हर्स्तिप्रीति: ।।[१]

केशवदास ने भी वर्षा में हंसों का प्रयाण, बक, दादुर, मोर आदि का बोलना, कैतकी पुष्प, कदम्ब, जलवृष्टि तथा दामिनी आदि का वर्णन विधेय बताया है[२]

तुलसी-साहित्य में वर्षा-वर्णन दो स्थलों पर हुआ है -

१. रामचरितमानस के किष्किन्धाकाण्ड में , २. गीतावली के उत्तरकाण्ड में। इसके अतिरिक्त गीतावली के अरण्यकाण्ड का प्रथम पद भी वर्षावर्णन से सम्बद्ध है ।

रामचरितमानस के किष्किन्धाकाण्ड में प्राप्त वर्षा वर्णन यद्यपि शैली की दृष्टि से श्रीमद्भागवत से प्रभावित है तथापि वर्षा वर्णन के समस्त अभिप्राय उसमें समाविष्ट हुए हैं । गीतावली के दो बड़े बड़े गीतों में जो वर्षा वर्णन हैं वह 'हिंडोला' उत्सव के प्रसंग में हुआ है,[३] क्योंकि यह उत्सव इस ऋतु में होता है -

उक्तवर्णनों के आधार पर वर्षावर्णन के कुछ वर्णनीय तत्वों का उदाहरण प्रस्तुत है --

१. बादलों का घिरना और गरजना -

वर्षाकाल मेघ नभ छाए । गरजत लागत परम सुहाए ।।
घन घमण्ड गरजत नभ घोरा । प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।।

रा० ४।१३-१४

२. दामिनी का चमकना --

दामिनि दमक रही घन मांही । खल के प्रीति जथा थिर नाहीं ।।

रा०।४।१४

३. दादुर, पिक मोर , मधुप, चकोर, चातक का बोलना -

दादुर मुदित भरे सरित सर महि उमंग जनु अनुराग ।
पिक मोर मधुप चकोर चातक सोर उपबन बाग ।। गी०।७।१८

---

१. केशव मिश्र -अलंकारशेखर, षष्ठरत्न , द्वितीय मरीचि, २३
२. केशवदास ।कविप्रिया। ७ वां प्रभाव ।३१
३. गी०।७।१८,१६

४. इन्द्रधनुष की छटा -

देखे राम-पथिक नाचत मुदित मोर ।

मानत मानहुं संतड़ित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टंकोर ।। गी०३।१

उक्त सभी वर्णनों में हंस के प्रयाण, केतकी और कदम्ब के फूलने का उल्लेख नहीं है किन्तु इसके अतिरिक्त ऐसी अनेक बातें हैं जो केशवमिश्र अथवा केशवदास के वर्षावर्णनविधान में नहीं है । गोस्वामी जी ने सूक्ष्म निरीक्षण के साथ वर्षा-वर्णन को सर्वाङ्ग और सुन्दर बनाया है ।

शरदवर्णन - केशवमिश्र ने शरद वर्णन का विधान इस प्रकार किया है --

शरदीन्दुरविपटुत्वं अच्छताऽगस्त्यहंसवृषदर्पाः ।

सप्तच्छदाः सिताभ्राब्जरुचिः शिखिपद्ममदपाताः ।।[१]

इनमें से कुछ अभिप्रायों का उपयोग गोस्वामी जी ने अपने शरदवर्णन में किया है जैसे कुश,कास का फूलना, अगस्त्य का उन्दय होना, पानी का घटना, कमलों का प्रफुल्लित होना आदि इन चौपाइयों में वर्णित है --

बरषा बिगत सरद रितु आई । लछिमन देखहु परम सुहाई ।।

फूले कास सकल महि छाई । जनु बरषाकृत प्रगट बुढ़ाई ।।

उदित अगस्ति पंथ जल सोखा । जिमि लोभहि सोखइ संतोषा ।।

सरिता सर निर्मल जल सोहा । संत हृदय जस गत मद मोहा ।।

रस रस सूख सरित सर पानी । ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी ।।

रा० । ४।१६

किन्तु तुलसी ने इतना ही नहीं बल्कि इससे और आगे बढ़कर शरद ऋतु में खंजन का आना, धरती का पंक -विहीन होना, नृप तापस,वणिक,भिक्षुकों का नगर-त्याग, कमलों का प्रफुल्लित होना, शरदशशि द्वारा आतप का दूर होना ,

---

१. केशव मिश्र । अलंकार शेखर ।षष्ठरत्न ,द्वितीय मरीचि, २४

मसक दंश का भय समाप्त होना आदि बातों का भी उल्लेख किया है ।[१] केशवदास ने शरदवर्णन में पथिकों , मित्रों और राजाओं के प्रस्थान का कथन आवश्यक माना[२] जबकि तुलसी ने नृप,तापस, वणिक,भिखारी का प्रस्थान उल्लिखित किया । वस्तुत: वर्षा का अन्त होने पर सभी वर्ग के लोग अपने-अपने कार्यों का सम्पादन करने हेतु बाहर निकलते हैं । वर्णनात्मक अभिप्राय में उनमें से कुछ का कथनकर स्थिति की सूचना देना ही कवि को अभीष्ट रहता है । इसीलिए तुलसी ने कुछ मौलिक कथन प्रस्तुत कर दिया है । वस्तुत: वह भी अभिप्राय-प्रयोग से परे नहीं है ।

गीतावली के उत्तरकाण्ड में वर्षा और वसन्तऋतु के उत्सवों हिंडोला और वसन्तोत्सव (होली) के बीच में एक पद में दीपावली का वर्णन है जो शरदऋतु का पर्व है ।[३] यद्यपि इसमें शरद ऋतु का कहीं नाम नहीं लिया गया है और न उसका कोई अन्य लक्षण ही दिखाया गया है ।

बसन्त-वर्णन - तुलसी ने रामचरितमानस में लगभग ५ बार बसन्त-वर्णन किया है । ये सभी वर्णन कथा प्रसंग के बीच में स्वत: ही आए हुए प्रतीत होते हैं । आलम्बन-रूप में प्रकृति वर्णनकी तरह वसन्त-वर्णन इनमें से कोई नहीं है । उनकी परिचयात्मक सूची इस प्रकार है -

---

१. जानि सरद रितु खंजन आए । पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए ।।
पंक न रेनु सोह अस धरनी । नीति निपुन नृप के जसि करनी ।।
चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि ।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि ।। रा०४।१६
फूले कमल सोह सर कैसा । निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा ।।
सरदातप निसि ससि अपहरई । संत दरस जिमि पातक टरई ।।
मसक दंस बीते हिम त्रासा । जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा ।।
रा० । ४।१७

२. केशवदास ।कविप्रिया,सातवां प्रभाव ।३३

३. गी० । ७।३०

१. शिव समाधि भंग करने आए हुए काम के सहायक के रूप में प्रसंग वश बसन्त का वर्णन बालकाण्ड में ।
२. नारद-समाधि भंग करने आए हुए काम के सहायक के रूप में प्रसंगवश बसन्त का वर्णन ,बालकाण्ड में ।
३. रामजन्म के समय बसन्त का संक्षिप्त वर्णन बालकाण्ड में ।
४. पुष्पवाटिका-प्रसंग में वसन्त की सुषमा का वर्णन बालकाण्ड में
५. काम-अनीक सांग रूपक में वियोगी राम के हृदय में बसन्त की मादकता का प्रभाव अरण्यकाण्ड में ।

इसके अतिरिक्त गीतावली के दो गीतों में 'फाग' उत्सव के सन्दर्भ में बसन्त का वर्णन हुआ है ।[१]

कवि-समय विवेचन के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि वसन्त साहित्य में काम का सखा माना गया है । वसन्त का विस्तृत उल्लेख भी उक्त प्रसंग में हो चुका है । रामचरितमानस में ऊपर दिखाए गए पांच वसन्त वर्णन के प्रसंगों में से प्रथम दो कवि समय और कथानक रूढ़ि से भी सम्बद्ध है । समाधि-भंग के प्रसंग में जहां बसन्त का उल्लेख आता है वहां उसमें काम भावना के व्यापक प्रसार की क्षमता दिखाई जाती है । शिव समाधि भंग के प्रसंग में भी काम जब रुचिर ऋतुराज का प्रकटीकरण करता है तब मृत शरीर में भी मनसिज का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है --

प्रकटेसि तुरत रुचिर रितुराजा । कुसुमित नव तरु राजि बिराजा ।
बनउपवन बापिका तड़ागा । परम सुभग सब दिसा बिभागा ।।
जहँ जहँ जनु उमगत अनुरागा । देखि मुएहुं मन मनसिज जागा ।।

रा० । १।८६

इसके अतिरिक्त शीतल ,मंद,सुगंध समीर (त्रिविध समीर)का चलना, सर सरोवरों में पुष्पों का विकसित होना उन पर भ्रमरों का गुंजार आदि का कथन भी वसन्त

---

१. गी० ७।२१,२२

के इस वर्णन में है ।[१]नारद समाधि के प्रसंग में रंगविरंगे विटपों का पुष्पित होना, कोकिल का कूजना तथा देवलोक की अप्सराओं का नृत्यगान भी उल्लिखित है ।[२] रामका जन्म भी मधुमास में होता है और यहां इस ऋतु के मध्याह्नकाल को शीत और आतप की प्रतिकूलता से रहित बताया गया है,[२क] जो वस्तुतः सत्य है ।

पुष्पवाटिका का प्रसंग भी वसन्त के पूर्वोक्ततथ्यों के अनुसार हुआ है ।[३] वसन्त-वर्णन का सबसे जीवन्त स्थल मानस के अरण्यकाण्ड में काम-अनीक रूपक है । इसमें अभिप्रायों का प्रयोग तो हुआ ही है पर उन्हें ज्यों का त्यों न रखकर कवि ने अपनी चित्रण कला से एक भव्यचित्र के रूप में प्रस्तुत किया है । प्रस्तुत वर्णन में वसन्त विरही के मन को भयभीत करने वाला है । इस ऋतु में विशाल विटपों से लताएं लिपटी हुई हैं, जैसे विविध वितान तान दिया गया हो। कदली और ताड़ ध्वजा पताका की तरह हैं, कोकिलाएं मदमस्त हाथी की तरह कूज रही हैं, ढेक, महोख, मोर, चकोर, कीर, पारावत, मराल, तीतिर, लवा आदि पक्षी भी बसन्त की सुषमा में सम्मिलित हैं, पर्वतशिला से बहते हुए निर्भर, चातक ध्वनि भ्रमर गुंजार, त्रिविध समीर आदि का भी इसमें वर्णन है ।[३४]

वसन्त के जिन वर्णनीय तथ्यों का प्रस्तुतीकरण तुलसी की पंक्तियों के माध्यम से किया गया, बसन्तवर्णन विधान में उन्हीं तथ्यों को केशवमिश्र ने भी ग्राह्य बताया था --

सुरभौ दोला कोशिलदक्षिणावातद्रुपल्लवोद्भेदाः ।
जातीतरपुष्पचयाऽऽम्रमंजरीभ्रमरझङ्कारा: ।।[३५]

----

१. रा० १।८६

२. रा० । १।१२६

२क. नौमीतिथि मधुमास पुनीता । सुकुलपच्छ अभिजित हरि प्रीता
मध्यदिवस अति सीत न घामा । पावन काल लोक विश्रामा ।। रा०१।१९१

३. रा० १।२२७

४. देखहु तात बसंत सुहावा । प्रिया हीन मोहिं भय उपजावा ।।
बिटप बिसाल लता अरुझानी, बिबिध बितान दिए जनु तानी ।।

(आगे जारी......)

हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि पूर्वाचार्यों और कवियों द्वारा प्रचलित अभिप्रायों को सहर्ष अपनाते हुए भी तुलसी ने कुछ आगे बढ़कर अपने वर्णन को प्रभावशाली बनाने का यत्न किया है ।

ग्रीष्म,हेमन्त और शिशिर -- हम कह चुके हैं कि इन तीन ऋतुओं का वर्णन तुलसीने नहीं किया है । मानस के अरण्यकाण्ड में राम नारद को उपदेश देते हुए उन्हें 'मोहविपिन' का परिचय देते हैं, जिसमें छ: ऋतुओं का इस विपिन में होना बताया गया है । ग्रीष्म, हेमन्त और शिशिर के एक एक लक्षण की ओर यहीं इंगित किया गया है -

जप तप नेम जलासय झारी । होइ ग्रीषम सोखे सब नारी ।।

धर्म सकल सरसीरुह बृंदा । होइ हिम तिन्हहि देति दुखमंदा ।।
पुनि ममता जवास बहुताई । फलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ।।

रा० ३।४२ ।

इसमें ग्रीष्म द्वारा जल का शोषण ,हेमन्त द्वारा कमलों का विनाश और शिशिर द्वारा जवास की वृद्धि किया जाना कहा गया है । किन्तु न तो यहाँ इन ऋतुओं का वर्णन है, और न एकाधिक अभिप्रायों की व्यंजना ही हुई है, अस्तु ऋतु -

----

पिछले पृष्ठ का शेष --

कदलिलाल बर धुजा पताका । देखि न मोह धीर न मन जाका ।।
बिबिध भाँति फूले तरु नाना । जनु बानैत बने बहुबाना ।।
कहूँ कहुं सुंदर बिटप सुहाए । जनु भट बिलग बिलग होइ छाए ।।
कूजत पिक मानहुं गज माते । टेक महोख ऊँट बेसरा ते ।।
मोर चकोर कीर बर बाजी । पारावत मराल सब साजी ।।
तीतिर लावक पदचर जूथा । बरनि न जाइ मनोज बरूथा ।।
रथगिरि सिला दुंदुभी झरना । चातक बंदीगुन गन बरना ।।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई । त्रिबिध बयारि बसीठी आई ।।

--रा० । ३।३७-३८

५. केशव मिश्र । अलंकारशेखर, षष्ठ रत्न, द्वितीय मरीचि। २१

वर्णन की दृष्टि से इस प्रसंग का कोई विशेष महत्व नहीं है । सम्पूर्ण प्रसंग में 'षट्ऋतुवर्णन' का हलका सा बोध यहां भी प्रतीत होता है ।

सूर्योदय-वर्णन – अलंकार शेखर में सूर्योदय-वर्णन इस प्रकार बताया गया है –

सूर्ये ऽरुणाता रविमार्गं चक्राम्बुजपथिक लोचन प्रीतिः ।
तारेन्दुदीप कौषाधिधूकतमश्चौर कुमुद कुलटार्तिः ।।[1]

अर्थात् उदय के समय सूर्य में अरुणाता का वर्णन होना चाहिए । सूर्योदय को सूर्य-मणि, चक्रवाक,कमल और पथिक के लिए प्रीतिकारक तथा तारों, चन्द्रमा, दीपक, औषधि उल्लू, तमस चौर, कुमुद और कुलटा स्त्री के लिए कष्ट कारक वर्णन करना चाहिए । इसमें ऐसे-ऐसे अभिप्राय सम्मिलित किए हैं कि उन सबका प्रयोग कथाप्रसंगों में एक साथ हो ही नहीं सकता । कथामुक्त वर्णन में ही इन्हें संकलित किया जा सकता है जैसे सूर्योदय-वर्णन में कुलटा की आर्ति दिखाना तुलसी के लिए विषयवस्तु की दृष्टि से कुछ बेतुकी बात होती । कुन्द पुष्प का दुखी होनातो एक प्रकार से कवि समयात्मक प्रकृति वर्णन है ।

तुलसी ने गीतावली के बालकाण्ड में एक गीत में भोर की बेला का वर्णन किया है ।[2] भोर या प्रातःकाल के वर्णन में भी सूर्योदय वर्णन आ जाता है । इस गीत में चन्द्रमा और तारों का द्युतिहीन होना अरुणा चूड़ (मुर्गा) का बोलना, कोक का प्रसन्न होना, गगन का अरुणामय होना, कीर कलहंस, पिक,केकि, आदि पक्षियों का बोलना, सरोवरों में कमलों का विकसित होना, उनपर मधुपों का घूमना और मकरंद पान करना,दीप, ज्योति का मलिन होना चकोर का शोकार्त्त होना आदि अभिप्रायों का समावेश है –

भोर भयो जागहु रघुनन्दन । गत-ब्यलीक भगतनि उर-चंदन ।।
ससिकरहीन हीन दुति तारे । तमचुर मुखर सुनहु मेरे प्यारे ।।
बिकसित कंज कुमुद बिलखाने । लै पराग रस मधुप उड़ाने ।।
गी० । १।३३

---

१. केशव मिश्र-अलंकार शेखर । षष्ठरत्नद्वितीय मरीचि । १६
२. गी० ।१।३०

कोकगत सोक अवलोकि ससि छीन छबि अरुनमय गगन राजत रुचिर तारे ।

सुनहु तमचुर मुखर कीर कलहंसपिक केकिरव कलित बोलत विहंग बारे ।
सरनि बिकसित कंजपुंज मकरंदवरमंजुतर मधुरमधुकर गुंजारे ।।
अरुन उदित बिगत सर्बरी ससांक किरन हीन
दीन दीप जोति मलिन दुति समूह तारे ।
बिलसित कुमुदनि चकोर चक्रवाक हरष भोर
करत सोरे तमचुर खग गुंजत अलि न्यारे ।। गी०।१।३७

रामचरितमानस के बालकाण्ड में राम द्वारा शिव धनुषभंग के पूर्व तुलसी ने रघुवर-बालपतंग रूपक की सृष्टि की है जिसमें रामरूपी बालसूर्य के उदय होने से संत रूपी कमलों को विकसित होते हुए तथा लोचन रूपी भ्रमरों को हर्षित होते हुए दिखाया गया है ।[१]

चन्द्रोदय-वर्णन :-- तुलसी ने चन्द्रोदय का वर्णन रामचरितमानस में एक सांगरूपक के माध्यम से किया है, इसे 'शशिकेसरी-रूपक' कहा जाता है । रूपक बद्ध होने के कारण इसमें चन्द्रोदय वर्णन के अभिप्रायों को ग्रहण नहीं किया जा सका है क्योंकि कवि की दृष्टि रूपक निर्वाह में उलझी रह गई है साथ ही वह चन्द्रमा में स्थित कालिमा को लेकर आनन्द मिश्रित चमत्कार उत्पन्न करने में लगा रहा । इसीलिए यह वर्णन अभिप्राय-परक न होकर नितान्त आलंकारिक और मौलिक बन गया है, प्रसंग इस प्रकार है --

पूरब दिसि गिरिगुहा निवासी । परम प्रताप तेज बल रासी ।।
मत्त नाग तम कुंभ बिदारी । ससि केसरी गगन बन चारी ।।
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा । निसि सुंदरी केर सिंगारा ।।
कह प्रभुससि महं मेचकताई । कहहु काह निज निज मति भाई ।। रा०।६।१२

---

१. उदित उदय गिरिमंच पर रघुबर बाल पतंग ।
बिगसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग ।। रा०।१।२५४

स्फुट कथनों में कहीं-कहीं चन्द्रोदय वर्णन के अभिप्राय प्राप्त होते हैं। अभिप्राय के अनुसार चन्द्रोदय कुलटा, चक्रवाक, कमल, चोर, विरही, तमस् के लिए कष्टकारक तथा जलधि, जननेत्र, कैरव आदि के लिए प्रीतिकारक होता है। इनमें से अधिकांश बातों की चर्चा हम उदाहरण सहित कवि प्रसिद्धियों के अध्याय में कर चुके हैं जैसे चन्द्रोदय से कुमुद का प्रसन्न और चक्रवाक का दु:खी होना इत्यादि। कुछ बातें शेष रह जाती हैं, उनका भी प्रयोग कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में प्राप्त हो जाता है, उदाहरण के लिए चन्द्रोदय से चोर को कष्ट होता है इसका प्रमाण देखिए --

तिन्हहि सोहावन अवध बधावा। चोरहिं चांदनि रात न भावा।।

रा० । २।११

६. विविध वर्णनात्मक अभिप्राय --अब तक हम व्यक्तित्व वर्णन, वस्तु वर्णन, प्रकृति रूप वर्णन तथा क्रिया-व्यापार वर्णन विषयक वर्णनात्मक अभिप्रायों का अध्ययन तुलसी-साहित्य के सन्दर्भ में कर चुके हैं। साहित्य में विस्तृत वर्णन के लगभग सभी उपादान इन पांच वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। अलंकार शेखर की 'वर्णनीय मरीचि' में तथा केशवदास के 'भूमि श्री' और 'राज श्री' अलंकार विवेचन में वर्णन सम्बन्धी इन्हीं काव्य रूढ़ियों का सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है।

परन्तु इन दोनों आचार्यों ने अपनी रचनाओं में वर्णन की इन रूढ़ियों के आसपास कुछ अतिरिक्त सामग्री और दी है जो यद्यपि विस्तृत वर्णन का आधार तो नहीं बनतीं तथापि कवि-परम्परा में प्रचलित वर्णन के नियमों से जुड़ी हुई अवश्य है। इसे वर्णन की रूढ़ि न कहकर कथन की रूढ़ि कहें तो भी अनुचित न होगा, किन्तु इसकी उपयोगिता विस्तृत वर्णनों के बीच में भी असंदिग्ध है, इसलिए आवश्यक है कि विविध वर्णनात्मक अभिप्रायों के अन्तर्गत हम इन पर भी संक्षेप में विचार कर लें।

अध्ययन की सुविधा के लिए इसे हम निम्नलिखित वर्गों में बांटते हैं --

१. वर्णों का निर्धारण करने वाले अभिप्राय
२. आकार बोधक अभिप्राय
३. स्पर्श गुण बोधक अभिप्राय
४. मुद्राबोधक अभिप्राय

५. फलबोधक अभिप्राय

६. गति बोधक अभिप्राय

७. ध्वनिबोधक अभिप्राय

८. आस्वादबोधक अभिप्राय

९. उदारताबोधक अभिप्राय

इन विविध अभिप्रायों का प्रायोगिक परिचय देने के पूर्व यहां एक बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक है, वह यह कि जिन ग्रन्थों में इनका शास्त्रीय निबन्धन हुआ है वे या तो काव्यशास्त्र के ग्रन्थ हैं या लक्षणग्रन्थ हैं । उदाहरण के लिए हम वर्षा का निर्धारण करने वाले अभिप्रायों को ही लेते हैं । आचार्य केशव-मिश्र ने अलंकारशेखर में शुक्लादि नियम मरीचि शीर्षक से इनकी सूची प्रस्तुत की है ।[१] केशवदास ने सामान्यालंकार के चार विभागों में से वर्ण में इसका निबन्धन किया है ।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय ग्रन्थों में एक वर्ण की विविध ऋतुओं की सूची प्रस्तुत की जा सकती है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अपनी रचना में रचनाकार उन सबका प्रयोग करे ही । वह उन्हीं वस्तुओं का वर्ण-कथन करेगा, जिनका प्रसंग उसकी रचना में आएगा अथवा ऐसा भी हो सकता है कि किसी वस्तु का प्रसंग आए किन्तु कवि उसका वर्ण-कथन अनावश्यक समझे और न करे । यही बात आकृति स्पर्शगुण, मुद्रा, फल, गति, ध्वनि, आस्वाद और उदारता आदि से सम्बद्ध कथन के बारे में भी है । शास्त्रीय ग्रन्थों का यह निबन्धन एक 'कोश' की तरह है । श्रीदिवाकर मणि त्रिपाठी ने 'कवि-कोष' में इन्हीं तथ्यों को सन्निविष्ट किया है ।[३] प्रयोक्ता के लिए आवश्यक नहीं कि वह कोश की सभी बातों को अपने व्यवहार में ले ही । रचनाकी एक विशेष प्रवृत्ति और संस्कार भी होता है जिसके कारण हर प्रकार के अभिप्राय सम्पूर्ण मात्रा में किसी कवि की रचना में आ ही नहीं सकते ।

----

१. केशव मिश्र, अलंकार शेखर, षष्ठ रत्न, तृतीय मरीचि , पृ० ६५, ६६, ६७

२. केशवदास, कविप्रिया, पांचवां प्रभाव

३. दिवाकरमणि त्रिपाठी-कवि परिपाटी (कविकोष)पृ० २३७-२८६

तुलसी ने भी अपने विषय और प्रसंग के अनुरूप इनमें से कुछ अभिप्रायों को ग्रहण किया है । अपने सीमित प्रयोग में उन्होंने इस प्रकार की काव्य व्यवस्थाओं का विरोध प्राय: नहीं किया है । ऐसे उदाहरण तो मिलते हैं कि वे वस्तु का प्रसंग आने पर भी अभिप्राय के मूल भाव-कथन से तटस्थ और उदासीन रह गए हों, पर उनका उल्लंघन उन्होंने नहीं किया है । आगे हम बहुत ही संक्षेप में इस प्रकार के अभिप्राय प्रयोगों पर दृष्टिपात करेंगे ।

१. वर्ण का निर्धारण करने वाले अभिप्राय --श्वेत वर्णन -- श्वेत वस्तुओं की गणना केशवमिश्र ने २१ श्लोकों में तथा केशव दास ने कविप्रिया के ५ दोहों में की है । केशवमिश्र के अनुसार चन्द्र, शुक्र, अश्व, शम्भु, नारद, भार्गव, हली, शेष, इन्दुकान्त, मणि, निर्मोक, मन्दार, हिमालय, हिमहास, मृणाल स्वर्गगङ्गा, हाथीदांत, अभ्रक, सिकता, अमृत, लोध्र, गुण, कैरव, शर्करा आदि के रंग काव्य में श्वेत माने जाते हैं ।[१] केशवदास ने कीर्ति, करहन, जरा, चांदनी, कपूर, बक, भस्म, कपास, चन्दन हंस, सत्ययुग दूध, दधि, संतो का मन, स्फटिक, फेन आदि को भी श्वेत-वर्णी वस्तुएं बताया है ।[२] स्पष्ट है कि यह नियम काव्य के लिए है । यह बात और है कि इनमें से अधिकांश वस्तुएं श्वेत वर्णी होती हैं किन्तु फिर भी सबका वर्ण समान नहीं होता ।

तुलसी ने चन्द्र, शम्भु, हिमहास, कैरव कीर्ति शरदकालीन घन, जरा, चांदनी, दधि, संतों का मन आदि को श्वेत वर्ण माना है ।

नीलवर्णन - केशव मिश्र के अनुसार कृष्ण, चन्द्राङ्क में स्थित चिह्न न्यास, राम, धनंजय, शनि, द्रौपदी, काली, राजवह, वैदूर्य, विष, आकाश, कोपल, शस्त्र, पाप, अन्धकार, रात्रि, अद्भुत और शृंगार रस इत्यादि को नील वर्ण का बताया है ।[३] हम कवि समय में ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि कवियों ने श्याम और नील वर्ण में साम्य

---

१. केशव मिश्र -अलंकारशेखर, षष्ठ रत्न, तृतीय मरीचि, १,२,३

२. कविप्रिया ।पांचवां प्रभाव, ५-६

३. अलंकार शेखर, षष्ठ रत्न, तृतीय मरीचि, ३,४,५,६

होता है । तुलसी में राम को सदैव श्यामवर्ण कहा है तथा नीलाम्बुज से उनके वर्ण की समानता की है --

नीलाम्बुजश्यामल कोमलाड्०गं.... रा०।२।मं० -४

चन्द्राड्०क में स्थित चिह्न को नीलवर्ण (काला) तुलसी ने भी माना है -

कह प्रभु ससि मंह मेचकताई । कहहु काह निज निज मति भाई ॥ रा०।६।१२

इसके अतिरिक्त आकाश, कोकिला, अन्धकार, रात्रि, पाप आदि को भी काला अथवा नीला कहा गया है ।

पीतवर्णन-- केशवदास ने कविप्रिया के ३ दोहों में पीत वस्तुओं का उल्लेख किया है[1]। तुलसी ने हल्दी, चंपक, दीपक, कमल कोश आदि को पीतवर्ण माना है, ऐसा उनके वर्णनों से आभासित होता है ।

अरुण वर्णन - केशवदास ने कविप्रिया के ५ दोहों में अरुणवर्णी वस्तुओं का उल्लेख किया है ।[2] तुलसी ने बालरवि, कुक्कुटशिखा, नयन, दाड़िमकुसुम, किंशुक, पावक, रुधिर आदि की अरुणता का उल्लेख किया है । दो उदाहरण इस प्रकार हैं --

१. अरुणशिखा - (कुक्कुटशिखा)

उठे लषनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान ।

रा० ।१।२२६

२. किंशुक -

घायल वीर बिराजहिं कैसे । कुसुमित किंशुक के तरु जैसे ।।

रा० । ६।५४

श्वेत, पीत और अरुण यही तीन वर्ण प्रधान होते हैं । कुछ वस्तुओं के मिश्रित वर्ण का निबन्धन भी शास्त्रकारों ने किया है, जो उल्लेखनीय नहीं है । वस्तुओं की इस वर्ण व्यवस्था को सर्वांश में कोई भी प्रतिभाशाली रचयिता उसी-

----

१. कविप्रिया, पांचवां प्रभाव, १६-१८

२. वही, ,, २८-३२

रूप में स्वीकार नहीं करता । वह अपने को हर पहलू पर कुछ न कुछ स्वतन्त्र रखना चाहता है, ताकि रचना का कोई अन्य प्रयोजन आ पड़ने पर वह उन नियमों के वशीभूत इस सीमा तक न रहे कि कवित्व की चारुता से पराङ्मुख हो जाय ।

आकार का निर्धारण करने वाले अभिप्राय :--

पूर्णाकार - अम्बुज, आनन, आरसी, निरन्तरप्रेम, और प्रकाश को सम्पूर्ण माना गया है ।[१] तुलसी के काव्य में भी इसका अपवाद नहीं मिलता ।

चक्राकार- चक्री, चक्र, बनैठी, छाता, इत्यादि को चक्राकार माना गया है ।[२] तुलसी की रचनाओं में चक्र का उल्लेख हुआ है पर उसकी चक्राकृति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है । इतना निश्चित है वह आकृति गोल ही है, चक्र का अर्थ ही गोल होता है ।

कुटिलाकार - तुलसी ने अलक, भौंह, कटाक्ष और धनुष की कुटिलाकृति (वक्राकृति) को स्थान-स्थान पर स्वीकार किया है ।

इसके अतिरिक्त, कुच, कंदुक और कलश की वृत्ताकारता तथा कुंडल, मुद्रिका, वलय आदि की मंडलाकारता भी स्थान-स्थान पर कही गई मिलती है ।

स्पर्श गुण का निर्धारण करने वाले अभिप्राय -

कोमल पल्लव, कुसुम, दयालुप्राणी का मन, माखन, मोम, कमल की जड़, रेशम, रेशमीवस्त्र, जीभ, पद, प्रेम और पुष्प को काव्य में कोमल माना जाता है ।[३] तुलसी ने भी इनमें से अधिकांश की कोमलता का कथन किया है ।

कठोर- भुजमूल, मणि, धातु, हीरा, शूर का शरीर, काष्ठ आदि को कठोर माना जाता है[४] इनमें जहां जिसका स्पर्शगुण तुलसी ने लिखा है वह नियम

---

१. कविप्रिया छठां प्रभाव, ४
२. वही, ,, ६
३. वही, ,, १८
४. वही, ,, २०, २१

सम्मत ही है ।

शीतल- चंदन,सुख, मित्र, प्रियका समागम,कपूर,चन्द्रमा,जल,हिम,शीत आदि को शीतल माना जाता है और तुलसी ने भी ऐसा ही माना है ।

तत्प्त- शत्रु का प्रताप,दुष्टों का वचन, विरह, संताप,सूर्य, अग्नि, वज्राग्नि, दुख, तृष्णा,पाप,विलाप आदि को तप्त माना जाता है ।[2] तुलसी यथा-प्रयोग इसे मानते हैं ।

मुद्रा का निर्धारण करने वाले अभिप्राय -

निश्चल सती,योद्धा,संतों का मन आदि को निश्चल स्वीकार किया गया है ।[3] तुलसी ने भी पार्वती सीता आदि सती नारियों को निश्चल वर्णित किया है ।

चंचल घोड़ा, मृग, धन, वानर, पीपल का पत्ता, लोभी का मन, शृगाल,बालक, समय का विधान, कुलटा ,कुटिल,कटाक्ष,मन, स्वप्न,यौवन, मीन, खंजन, भ्रमर हाथी के कान,शोभा,दामिनी तथा वायु चंचल माने जाते हैं ।[4]

तुलसी ने घोड़ा, मृग, पीपल के पत्ते को चंचल माना है । पीपल का पत्ता तो चंचलता का उपमान भी है --

१. पीपर पात सरिस मन डोला । रा० । २।४५

२. तीखे तुरंग कुरंग सुरंगनि साजि चढ़े छंटि छैल छबीले ।। क०।६।३२

बालक को चंचल दिखाया गया है, तुलसी ने भी बाल्यावस्था में राम को चंचल दिखाया है । अन्य विधीत वस्तुओं की चंचलता भी तुलसी ने यथा-प्रयोग स्वीकार की है ।

---

१. केशवदास-कविप्रिया, ६ ठाँ प्रभाव दोहा सं० ३७

२. वही ,, ,, ,, ३६

३. वही ,, ,, ,, २३

४. वही ,, ,, ,, २५,२६

फल का निर्धारण करने वाले अभिप्राय

सुखद — पण्डित, पुत्र, पवित्रता, विद्या, आरोग्ययुक्त शरीर, अभिलाषा के अनुसार मिलने वाला ऐश्वर्य, दान, मान, धन, भोग, जप, राग, वाग, गृह, रूप, सुकृत, सौम्यता और सर्वज्ञता सुखदायिनी होती है ।[१] ये अधिक तर नीति से सम्बद्ध बातें हैं अतएव इनका आभास तो तुलसी की रचनाओं में मिलता है पर स्पष्ट कथन बहुत कम मिलता है ।

दुखद — दुखद वस्तुओं में पाप, पराजय, झूठ, हठ, शठता, मूर्ख मित्र, रोगी ब्राह्मण, कुरूपता, असहिष्णुता, आधि, व्याधि, अपमान, ऋण, दूसरे के घर भोजन और वास, कन्या संतति, वृद्धता, वर्षाकाल का प्रवास दुष्ट मनुष्य, दुष्ट स्वामी, बुरी चाल का घोड़ा, बुरे नगर में रहना, परवशता, दरिद्रता, शत्रु वैर आदि दुखदायी होते हैं ।[२] उनमें से कहीं-कहीं कुछ का प्रयोग तुलसी ने किया है, जिनमें इन नियमों का समर्थन ही है ।

गति का निर्धारण करने वाले अभिप्राय -

काव्याभिप्राय के अनुसार कुलवती स्त्री, हास विलास हंस, गज आदि की मंदगति वर्णनीय होती है । तुलसी ने इसका पूरी तरह पालन किया है, तथा सुन्दरी स्त्रियों की चाल की समानता हंसगति और गजगति से की है --

हंस गवनि तुम नहिं बन जोगू । रा० । २।६३

केशवदास ने प्रकृति की वस्तुओं को अगति और सदागति के रूप में गतिहीनता और गतिशीलता के विचार से दो भागों में विभाजित किया है, इसमें सिंधु, गिरि, ताल, तरु वापी, कूप को अगतिशील तथा महानदी, नद, पंथ, जग और पवन को सदा गतिशील माना है ।[३] तुलसी ने भी इसका प्राय: समर्थन ही किया है, पर कहीं-कहीं पौराणिक रूढ़ियों के अनुकूल प्रयोग से इसका उल्लंघन भी हो गया है जैसे रामचरितमानस में

---

१. केशवदास-कविप्रिया ६ ठां प्रभाव, दोहा सं० २८-२६

२. ,, ,, दोहा सं० ३१, ३२, ३३

३. वही ,, ,, ,, ६०

सिन्धु का रूप धारण कर राम के पास आना ।

ध्वनि का निर्धारण करने वाले अभिप्राय -

क्रूर स्वर- झींगुर, साँप, उलूक, अज, महिषी, कौल, भेड़, काक, वृक, करभ, खर, श्वान आदि का स्वर क्रूर स्वर माना जाता है ।[१] इसे क्रूर स्वर न कहकर कर्ण कटु स्वर या अमधुर स्वर कहना ही उपयुक्त होगा । तुलसी ने ऐसा प्राय: ही कथन किया है यथा -

खर सियार बोलहिं प्रतिकूला । सुनि सुनि होत भरत हिय सूला ।।

रा० २।१५८

किन्तु कहीं कहीं लोकरूढ़ियों के प्रभाव के कारण इसका उल्लंघन भी हो गया है जैसे मकान की मुंडेर पर कौवे का बोलना प्रियपात्र के आगमन का सूचक माना गया है, अतएव वह कटु नहीं लगता ।

बैठी सगुन मनावति माता
कब ऐहैं मेरे लाल कुसलघर कहहु काग फुरिबाता ।।

गी० । ६।१६

मधुर स्वर - पक्षियों का कलरव, केकी, कोकिला, शुक, सारिका, कलहंस, तन्त्रवाद्य, वंशी दुन्दुभि आदि का स्वर मधुर होता है ।[२] तुलसी ने इसे सदैव स्वीकार किया है, पर वियोग में इसे विपरीत प्रभाव उत्पन्न करने वाला दिखाया है ।

आस्वाद का निर्धारण करने वाले अभिप्राय -- प्रिया के मधुर अधर, चन्द्रकिरण, मक्खन, द्राक्षा, बालक की तुतली वाणी, कवियों की उक्ति, मिश्री, दूध, घृत, शृंगार रस, रस, मिष्ठान्न, ऊख, शहद, अमृत आदि मधुर वस्तुएं हैं[३] इस मधुर का अर्थ अनुकूल और

---

१. केशवदास -कविप्रिया- ६ ठां दोहा सं० ४३
२. वही ,, ६ठां प्रभाव ,, ४५
३. वही ,, ,, ,, ४७,४८

सुखदायक भी हैं । तुलसी ने उनमें से इक्की दुक्की वस्तुओं का ही नामोल्लेख किया है । जिसमें उनके कथन नियम विरोधी नहीं हैं ।

शक्ति का निर्धारण करने वाले अभिप्राय –

अबल इसके अन्तर्गत पंगु गूंगा, रोगी, वणिक, भीत, बुभुक्षित, अंधा, अनाथ, बकरी का बच्चा और स्त्री आदि को बलहीन माना गया है ।[१] तुलसी ने यथावसर सबका समर्थन किया है । इनमें से कई का उल्लेख उन चौदह प्राणियों में तुलसी ने किया है जो शव के समान जीवित रहते हैं

कौल काम बस कृपन बिमूढ़ा । अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ।।
सदा रोग बस संतत क्रोधी । बिष्नुविमुख श्रुति संतबिरोधी ।।
तनुपोषक निंदक अघखानी । जीवत सब सम चौदह प्रानी ।।

रा० । ६।३१

बलिष्ठ -- पवन , पवनपुत्र (हनुमान) परमेश्वर, सुरपाल, काम, भीम, बालि, हली, राजा बलि, पृथु, काल आदि को परम वलिष्ठ कहा जाता है ।[२] ये मान्यताएं इतिहास और पुराणाश्रित हैं तथा आस्तिक भावना परक हैं । तुलसी ने सबका तो नहीं पर अधिकांश का प्रयोग इनमें से किया है, कुछ उदाहरण ये हैं –

पवन पुत्र की बलिष्ठता --

पवन तनय बल पवन समाना । बुधि विवेक बिग्यान निधाना ।।

रा० ४।३०

काल का बली होना --

मन पछितैहै अवसर बीते ।
सहसबाहु दस बदन आदि नृप बचे न काल बली ते ।।

वि०प० । २६८

---

१. कविप्रिया ।६ ठाँ प्रभाव, दो० सं० ५०
२. वही ,, ,, ५२

परमेश्वर को तो सर्वत्र परम् शक्तिमान कहा ही गया है । काम की बलिष्ठता भी अपने क्षेत्र में स्वीकृत है ।

उदारताबोधक अभिप्राय -- इसके अन्तर्गत गौरी, गिरीश,गणेश, ब्रज, सरस्वती,सूर्य, चिन्तामणि,कल्पतरु,गौ, जग-माता, जगदीश,राम, हरिश्चन्द्र, बलि, इत्यादि देवों और राजाओं की दानशीलता एवं उदारता का कथन किया जाता है ।[१] पौराणिक रूढ़ियों के विवेचन में हम कल्पतरु,कामधेनु की उदारता का उल्लेख कर चुके हैं । मानस में स्थान-स्थान पर विशेषकर स्तुतियों में तथा विनय-पत्रिका के आरम्भिक स्तोत्रों में इन अभिप्रायों के प्रयोग भरे पड़े हैं सभी देवी-देवताओं को उदार,दयालु,दानशील कहा गया है । सबका उदाहरण देना सम्भव नहीं है । सर्वाधिक विख्यात दानी शिव हैं । उनसे सम्बद्ध एक उद्धरण यहां विनय-पत्रिका से प्रस्तुत है -

दानी कहुं संकर सम नाहीं ।
दीनदयाल दिवोई भावै जाचक सदा सोहाहीं ।। वि०प० ३

बलि, दधीचि,कर्ण, हरिश्चन्द्र की दानशीलता भी वर्णनात्मक अभि-प्रायों में प्रमुख स्थान बना चुकी है । कहीं-कहीं तुलसी ने इसके मानक प्रयोग भी किए हैं --

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा । सहे धरम हित कोटि कलेसा ।।
रा० । २।९५

विविध वर्णनात्मक अभिप्राय को लेकर छ: बड़े बड़े वर्गों में वर्णनात्मक अभिप्राय का अध्ययन करने के अनन्तर भी ऐसा लगता है कि इनकी राशि अनन्त है । फिर भी काव्य-वर्णन के क्षेत्र में जिन प्रमुख वर्णनात्मक अभिप्रायों का प्रचलन पाया जाता है , वे प्रस्तुत विवेचन की सीमा में कहीं न कहीं अवश्य आ जाएंगे, ऐसा विश्वास है ।

---

१. केशवदास-कविप्रिया, ६ ठां प्रभाव, दोहा संख्या ६२,६३,६४

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि तुलसी ने अपनी रचनाओं में वर्णन के क्षेत्र में भी अभिप्रायों को पर्याप्त प्रश्रय दिया है । इसका प्रभाव उनकी वर्णनीयता पर अनुकूल अधिक पड़ा है, प्रतिकूल कम । कथा प्रसंगों की गति में जहां वर्णन के लिए अवकाश नहीं भी था, वहां भी इन अभिप्रायों के सहारे उन्होंने दक्षतापूर्वक वर्ण्यवस्तु का चित्र खींच दिया है । वर्णनात्मक अभिप्रायों को प्रश्रय देने का इतना सुपरिणाम उनके काव्य में स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उसमें वर्ण्य वस्तुओं का प्राय: सर्वाङ्गीण और सुन्दर एवं श्रेष्ठ रूप चित्रित हो सका है । जहां ऐसे अभिप्रायों के प्रयोग से कवित्व में ह्रास की आशंका रहती है, वहां वे अपनी प्रतिभा और मौलिकता के कारण उससे अप्रभावित रहे हैं । वर्णनात्मक अभिप्रायों के प्रयोग की दृष्टि से रामचरितमानस और गीतावली उनकी प्रधान रचनाएं हैं ।

छठवां अध्याय

तुलसी-साहित्य में काव्यरूपगत अभिप्राय

तुलसी ने विविध काव्यरूपों की रचना की है और उनके काव्यरूप विधान में रीति-मयता का स्पष्ट आभास मिलता है। यह रीतिमयता जो परम्परा में निरन्तर पुनरावृत्त होने के कारण काव्य-रूढ़ि के रूप में स्वीकार की जाती है, उसे साहित्यिक अभिप्राय का अर्थ दिया गया है। काव्यरूप का सम्बन्ध रचना के वाह्य पक्ष से है। वाह्य-पक्ष पर तो अभिप्रायों का प्रभाव और भी पहले अत्यन्त स्वाभाविक रूप से पड़ता है। यह प्रभाव इतना घुलमिल जाता है कि कवि के नितान्त प्रयोगशील और नव्यता के आग्रही होने पर भी किसी न किसी अंश तक पड़े बिना नहीं रहता, फिर हिन्दी काव्य तो मध्यकाल तक साहित्यिक अभिप्रायों की ओर आग्रहपूर्वक कुछ न कुछ झुका ही रहा। इस युग के प्राय: सभी कवियों ने अपने-अपने ढंग से परम्परा के काव्य-तत्वों का आधार ग्रहण किया है। इन कवियों के काव्यरूप मूलत: रीतियों और रूढ़ियों के सहयोग से निर्मित हुए हैं। ऐसे कवियों में तुलसी का स्थान प्रमुख है। उनके कृतित्व में काव्य के विभिन्न रूपों का प्रतिनिधित्व हुआ है और सर्वत्र काव्य के रूप निर्माण में उन्होंने रीति, परम्परा और रूढ़ि (जिनका समन्वित आशय हमने अभिप्राय के अर्थ में ग्रहण किया है), का बहुत कुछ आश्रय ग्रहण किया है। काव्य-रूप निर्माण में इन तत्वों की प्रेरणा स्पष्ट दिखाई देने के कारण अभिप्रायों का अध्ययन तुलसी के काव्यरूपों के सन्दर्भ में अनिवार्य हो जाता है। इसकेलिए तुलसी साहित्य के काव्यरूपों को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है --

१. शास्त्रीय काव्य रूप   २. स्वतंत्र विकसित काव्यरूप

प्रथम के अन्तर्गत परम्पराबद्ध शास्त्र सम्मत काव्य रूपों का विवेचन अभीष्ट है। सामान्यतया महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य इसके अन्तर्गत आते हैं। वर्ग की दृष्टि से खण्डकाव्य और महाकाव्य दोनों प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए शास्त्रीय रूप मुख्य रूप से दो ही हैं - प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। स्वतन्त्र विकसित

काव्यरूप के अन्तर्गत हम उन काव्यरूपों को लेंगे जो शास्त्रीय नियमों और बन्धनों से तो पृथक् हैं, किन्तु स्वतन्त्र रीति से विकसित होकर एक काव्य-परम्परा का निर्माण करते हैं यथा चरित-काव्य, मंगलकाव्य, स्तोत्रकाव्य, नीतिकाव्य और गीतिकाव्य आदि । इन सबका प्रतिनिधित्व तुलसी की रचनाओं में हुआ है । उनकी प्राय: सभी काव्यरचनाएं दुहरे काव्यरूप में बंधी हुई प्रतीत होती हैं । प्रत्येक काव्य रचना पर एक तरफ किसी शास्त्रीय काव्य विधा के अधिक से अधिक लक्षण घटित हो जाते हैं और दूसरी तरफ वह मोटिफ से प्रेरित स्वतन्त्र विकसित काव्य-रूपों की भी महत्वपूर्ण कड़ी जान पड़ती है । अभिप्रायों की स्थिति के विचार से दोनों प्रकार के काव्यरूपों की कसौटी पर तुलसी की रचनाओं का पर्यवेक्षण यहां किया जा रहा है --

१. शास्त्रीयकाव्यरूप - जैसा कि कहा जा चुका है कि काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में काव्य के दो शास्त्रीय रूप स्वीकृत हैं -- क. प्रबन्ध, ख. मुक्तक । ये दोनों काव्य के अन्तर्गत श्रव्यकाव्य के तथा श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत पद्यकाव्य के भेद माने जाते हैं । तुलसी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों काव्य रूपों को अपनाया है । इनकी रचनाओं में रामचरितमानस, पार्वतीमंगल, एवं जानकी मंगल को प्रबन्धकाव्य और शेष को मुक्तककाव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है । एक मिश्रित काव्यरूप जिसे 'प्रबन्धाश्रित मुक्तक' कहा जा सकता है, भी उनकी तीन रचनाओं पर घटित होता है । पर शास्त्रीयता के विचार से इस काव्यरूप का स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य नहीं है, और उन सभी रचनाओं को मुक्तक-काव्य के अन्तर्गत समाविष्ट करना संगत है । प्रबन्ध और मुक्तक दोनों काव्यरूपों के लक्षणों का विधान अलंकार शास्त्र में अनेकश: कर दिया गया है । संस्कृत और हिन्दी की विस्तृत काव्य-परम्परा अधिकतर इन्हीं लक्षणों पर चलती रही है । कहने का तात्पर्य यह कि शास्त्रीय काव्यरूपों में उनके शास्त्रीय लक्षण ही अभिप्रायों के प्रतिरूप हैं । तुलसी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में दोनों प्रमुख काव्यरूपों के अभिप्रायों पर यहां क्रमश: विचार अभीष्ट है ।

(क) प्रबन्ध काव्य --इसके दो मुख्य भेद हैं --

क. महाकाव्य   ख. खण्डकाव्य ।

एक ही काव्यरूप के अंग होने से महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों में कुछ न कुछ समरूपता भी है । विशेषकर निबन्धन की दृष्टि से दोनों बहुत अंशों में सम ~~होने~~ होते हैं । दोनों में पाए जाने वाले अभिप्रायों को हम प्रबन्धात्मक अभिप्राय समानार्थीकह सकते हैं । स्थूल दृष्टि से रूढ़ि भी अभिप्राय का समानार्थी ही है और इसलिए प्रबन्धों में पायी जाने वाले अभिप्रायों को प्रबन्धरूढ़ियां कहा गया है । प्रबन्ध-रूढ़ियों में यद्यपि महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों की काव्य रूपगत रूढ़ियां अन्तर्हित हो जाती हैं, फिर भी प्राय: अध्येताओं ने महाकाव्य की रूढ़ियों का अध्ययन करते हुए उन्हें प्रबन्धरूढ़ियां ही कह दिया है । इस कथन में किंचित् व्याप्ति है ऐसा इसलिए कहा जाता है कि मात्रा की दृष्टि से रूढ़ियों का अधिकांश महाकाव्य में ही पाया जाता है, खण्डकाव्य में नहीं । आलंकारिकों ने जहां महाकाव्य के रूप विवेचन और लक्षणानिर्धारण में अधिकाधिक रुचि दिखायी है वहां वे खण्डकाव्य का नाम, मात्र लेकर मौन रह गए हैं । इसलिए प्रबन्धरूढ़ियों का आशय अधिकतर महाकाव्यगत रूढ़ियों(महाकाव्यगत अभिप्रायों) से ही है । हम यहां अपने विषय की दृष्टि से उसे महाकाव्यगत अभिप्राय ही कहेंगे । फिर भी पोषक उद्धरणों में बार-बार आया हुआ 'प्रबन्धरूढ़ि' शब्द भ्रम का कारण न बने इसलिए यह स्पष्टीकरण आवश्यक था ।

प्रबन्धकाव्य के दोनों रूपों के सन्दर्भ में ~~अब हम~~ तुलसी की रचनाओं पर दृष्टिपात करते हुए मानस का सर्वेक्षण करने पर यह साहित्यिक परम्परा के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है । इस तथ्य के बावजूद भी मानस का महाकाव्यत्व विद्वानों के लिए विवाद का विषय रहा है । अध्येताओं ने अनेक तर्कों से इसके महाकाव्यत्व पर प्रश्नचिह्न लगाया है । डॉ० श्रीकृष्णलाल ने इसे मात्र पुराण काव्य स्वीकार किया,[१] तथा मानस के महाकाव्यत्व का निरसन किया है। जो मानस के काव्यरूप के सम्बन्ध में इनकी धारणा नितान्त आपत्तिजनक है इसके काव्यरूप का निश्चय तो हम आगे करेंगे, पहले हम इसमें पाये जाने वाले महाकाव्यगत अभिप्रायों का आकलन करना आवश्यक समझते हैं ।

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल-मानस दर्शन, पृ० २००

मानस में महाकाव्यगत अभिप्राय -- हम स्पष्ट कर चुके हैं कि महाकाव्यगत अभिप्रायों का आशय मूलत: प्रबन्ध-रूढ़ियों से भिन्न नहीं है । इन अभिप्रायों में अधिकांश काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में महाकाव्य के लक्षणों के रूप में गिनाए गए हैं । अन्य प्रबन्धरूढ़ियां भी हैं जो लक्षणों के अतिरिक्त हैं और महाकाव्य रचना की सुदीर्घ परम्परा में जीवन्त हैं । वस्तुत: लक्षण को ही अभिप्राय मानना उपयुक्त नहीं है । परम्परा का आश्रय ग्रहण किए बिना लक्षण अभिप्राय नहीं बन सकता जबकि परम्परा में प्रवाहितरचना-धर्म लक्षण रूप में शास्त्रबद्ध हुए बिना ही अभिप्राय बन जाता है । मानस में प्राप्त महाकाव्य के ये रूपात्मक अभिप्राय लक्षण परम्परा और रूढ़ि तीनों से समन्वित हैं । इनका क्रमश: विवेचन प्रस्तुत है ।

१. मंगलाचरण - ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करने की प्रथा बहुत पुरानी है । साहित्य सृजन के क्षेत्र में महाकाव्य रचना एक विराट संगुम्फन का कार्य है, उसकी निर्विघ्न समाप्ति हो, इसके लिए महाकाव्यकार मंगलाचरण की सृष्टि करता है और उसके माध्यम से वाणी (वाग्देवी)अपने इष्टदेव या अन्य मनोवांछित देवता का स्मरण करता है ।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ कहते हैं --

"ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सित परिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवताया: सांमुख्यमाधत्ते"[१] । तात्पर्य यह कि प्रारिप्सित ग्रन्थ का आरम्भ करने के पूर्व ग्रन्थकार निर्विघ्नसमाप्ति की इच्छा से शास्त्रों में अधिकृत होने के कारण भगवती सरस्वती (वाग्देवी) की आराधना करते हैं । अस्तु यह प्रबन्ध रचना का सबसे पहला अभिप्राय है । तुलसी ने अपने महाकाव्य रामचरितमानस में मंगलाचरण की परिपाटी को सर्वाधिक रुचि के साथ अपनाया है ।

मानसकार ने न केवल ग्रन्थारम्भ में अपितु प्रत्येककाण्ड के आरम्भ में इस अभिप्राय का प्रयोग किया है । सर्वप्रथम मानस में 'वाणी विनायक' की वन्दना इस प्रकार की गई है --

----

१. साहित्यदर्पण-प्रथम परिच्छेद की प्रथम पंक्ति

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ।।
रा० । १ मं० १

वाणी (वाग्देवी) ही काव्य की अधिष्ठात्री देवी हैं और विनायक अर्थात् गणेश विघ्नहर्त्ता देव हैं । दोनों की वन्दना अभिप्राय का सर्वांश रूप में पालन है । मानसके बालकाण्ड में वाणी-विनायक की वन्दना के अनन्तर क्रमशः भवानी शंकर, गुरु, कवीश्वर एवं कपीश्वर, सीता, राम की वन्दना संस्कृत के पांच श्लोकों में तथा गणनायक, दयालु भगवान क्षीरशायी विष्णु, शंकर, और गुरु की वन्दना क्रमशः ५ सोरठों में की गई है । अयोध्याकाण्ड के आरम्भ में शंकर, राम और गुरु की वन्दना अरण्य-काण्ड के आरम्भ में भूप राम तथा वनपथ पर जाते हुए राम की वन्दना, किष्किन्धा-काण्ड में सीतान्वेषण में तत्पर राम, काशी और शंकर की वन्दना, सुन्दर-काण्ड के आरम्भ में भूपाल चूड़ामणि राम और वातजात हनुमान की वन्दना, लंका-काण्ड के आरम्भ में राम और शंकर की वन्दना, तथा उत्तरकाण्ड के आरम्भ में पुष्पकारूढ़ राम, राम के चरण और शंकर की वन्दना की गई है । इतनी अधिक मात्रा में मंगलाचरण संस्कृत और हिन्दी साहित्य के किसी भी प्रबन्ध में नहीं हुआ । अरण्यकाण्ड में पथिक राम, किष्किन्धाकाण्ड में सीतान्वेषण तत्पर राम और सुन्दर-कांड में हनुमान तथा उत्तरकाण्ड में पुष्पकारूढ़ राम की वन्दना काण्ड की विषय-वस्तु से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ती है और इसमें माङ्गलिक आचरण के निर्वाह के साथ-साथ एक विशिष्ट साहित्य-सौष्ठव की सृष्टि भी होती है । कवि जिस काण्ड में प्रवेश करता है अपने नायक के उस रूप का उल्लेख मंगलाचरण में करता है ।

महाकाव्य के जिन लक्षणों का निबन्धन शास्त्रीय ग्रन्थों में हुआ है, उनमें आशीः एवं नमस्क्रिया शब्दों से इसकी व्यंजना की गई है । दण्डी ने महाकाव्य का लक्षण निर्धारण करते हुए लिखा है -

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशोवापि तन्मुखम् ।।[१]

---

१. काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद ।१४ ।

आशी: का अर्थ शुभकामना है । नमस्क्रिया में वे सभी वन्दनाव्यापार आते हैं जो मंगलाचरण में अथवा उसके अतिरिक्त अन्यत्र होते हैं जैसे गुरु, ऋषि, पूज्य आदि की वन्दना । मानस में मंगलाचरण एवं नमस्क्रिया का प्रकरण अत्यन्त विस्तृत है । गुरुवन्दना के कई श्लोकों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, उसके अतिरिक्त मानस की प्रथम चौपाई से ही गुरुवन्दना आरम्भ होती है । विप्रों की वन्दना तथा संतसमाज की रूपक-बद्ध वन्दना (साधु-समाज प्रयाग) भी मानस के आरम्भ में है । इतना ही नहीं तुलसी ने वन्दनीयों में खलों और दुष्टों तक को सम्मिलित कर लिया है ।

यद्यपि महाकाव्यों में मंगलाचरण आशी: एवं नमस्क्रिया का अभिप्राय प्राय: सर्वत्र आचरित है फिर भी ऐसे महाकाव्य मिल जाते हैं जिनमें इसे अत्यन्त नवीनता के साथ प्रस्तुत किया गया है अथवा प्रस्तुत नहीं किया गया है । संस्कृत साहित्य में माघ और भारवि ने इस अभिप्राय के पालन के हेतु अत्यन्त नवीन पथ निर्मित किया और दोनों महाकवियों ने 'श्री' शब्द से अपना महाकाव्य आरम्भ किया । उसके पूर्व कालिदास ने ही अपने महाकाव्य 'कुमार सम्भव' में क्रान्तिकारी पथ का अनुसरण किया था और उसे बिना किसी मंगलाचरण के आरम्भ किया । अपने दूसरे महाकाव्य 'रघुवंश' में उन्होंने अभिप्रायों का विधिवत पालन किया है । प्राचीन काव्य की परम्परा के अनुसार तुलसी ने बड़ी सुरुचि के साथ मंगलाचरण का अभिप्राय अपने रामचरितमानस में अपनाया है ।

नमस्क्रिया का अन्य भाग -- मंगलाचरण में चिराचरित नमस्क्रिया के साथ तुलसी ने आरम्भिक कवियों की वन्दना, वेदों की वन्दना, ब्रह्मा की वन्दना, विप्र और बुधजनों की वन्दना, शारदा और सुर-सरिता की वन्दना, माता, पिता, गुरु, महेश , भवानी, राम के सेवक, स्वामी तथा सखाजनों की वन्दना भी की है । काव्य के नायक राम की नगरी अयोध्या की वन्दना, उसमें बसने वाले नर नारियों की वन्दना नायक राम की जननी कौशल्या की रूपक बद्ध वन्दना (कौशल्या-दिसि-प्राची रूपक) नायक राम के पिता तथा उनकी अन्य माताओं की वन्दना भी इसी प्रसंग में हुई है । विदेहराजजनक की परिजनों सहित वन्दना, तथा भरत, लक्ष्मण,

शत्रुघ्न हनुमान की भी भक्तिभाव से तुलसी ने वन्दना की है । वानरराज सुग्रीव रीछों के राजा जाम्बवंत तथा राक्षसों के राजा विभीषण को भी तुलसी ने मानस के प्रस्तावना भाग में नमन किया है । शुक सनकादि ऋषि मुनि, भक्त तथा राम के उपासक खग, मृग, सुर, नर, असुर सबके प्रति ग्रन्थकार ने प्रणति निवेदन किया है । सीता और रघुनायक का तो अनेक बार कवि ने वन्दन किया है । मानस में आरम्भ के लगभग २० दोहों तक वन्दना का क्रम चला है । अन्त में राम नाम की वन्दना कर ग्रन्थकार ने इस प्रकरण की परिसमाप्ति की है ।

विचारणीय है कि नमस्क्रिया की इतनी विस्तृत योजना का रहस्य क्या है ? क्या ऐसा मात्र भक्ति भावना की प्रेरणा से हुआ है ? ऐसा प्रतीत होता है कि इसका आधार मात्र भक्ति भावना ही नहीं है । यह महाकाव्य रचना के अभिप्राय का ही व्याप्त रूप है । यहाँ महाकाव्य के रचनाशिल्प पर नाट्यशिल्प ~~शिल्प~~ का पूरा प्रभाव है । नाटकों के आरम्भ में जिस प्रकार पात्रों का परिचय देते हैं तथा स्थान और दृश्य का परिचय देते हैं, कुछ वैसा ही आभास नमस्क्रिया के इस प्रकरण में मिलता है । व्यक्ति या जातिरूप में सभी पात्रों की चर्चा तुलसी ने कर दी है । राम-लक्ष्मण, भरत-लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान सीता पात्रों के व्यक्ति रूप हैं तथा खग, मृग, सुर, नर, असुर एवं ऋषि आदि पात्रों के जातिरूप हैं । अयोध्या से स्थान का बोध हुआ है । कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि ने प्रबन्धरचना में नमस्क्रिया का कितना सुन्दर साभिप्राय और सारगर्भित प्रयोग किया है ।

२. आत्म-लघुता-कथन -- मंगलाचरण, आशी: एवं नमस्क्रिया की भांति यह अभिप्राय शास्त्रीय नहीं है । यह मात्र परम्परा में जीवित है । कविजन ग्रन्थ के आरम्भ में अपनी लघुता का कथन करते हैं । इसमें नायक के चरित कथन को एक महान कार्य निरूपित करते हुए ग्रन्थकार अपनी सामर्थ्य को अत्यन्त अल्प बताता है तथा अपनी क्षुद्रता ~~को अत्यन्त अल्प बताता है तथा क्षुद्रता~~ और काव्य विषयक अज्ञानता को निस्संकोच व्यक्त करता है । जिस विषयवस्तु को कवि काव्य में प्रस्तुत करने वाला होता है, अपनी सामर्थ्य को उसके नितान्त अयोग्य बताकर अपने प्रयास को धृष्टता कहता है ।

यह कथ्य वस्तुत: पुराण ग्रन्थों से गृहीत है । जैन पुराणों में भी ऐसे उद्धरण मिल जाते हैं । आदिपुराण के आरम्भ में जिनसेनाचार्य कहते हैं --

क्व गम्भीर: पुराब्धि: क्व मादृक्बोध दुर्विध: ।
सोऽहं महोदधिं दोर्भ्यां तितीर्षुयामि हास्यताम् ।।[१]

महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इसी प्रकार का कथन किया है । वे कहते हैं - 'कहाँ सूर्य से उद्भूत वंश और कहाँ मेरी अल्पज्ञान रखने वाली बुद्धि । मैं एक उडुप (छोटी नौका) के सहारे अगाध एवं दुस्तर सागर को तरने का मूर्खतापूर्ण प्रयास कर रहा हूं । मैं यश: कामी मन्दकवि हूं, इसलिए मैं उसी प्रकार उपहास कर रहा हूं । मैं यश: कामी मन्दकवि हूं ,इसलिए मैं उसी प्रकार उपहास का पात्र बनूंगा जैसे ऊंचाई पर लगे हुए फलों को तोड़ने का असफल प्रयास करने वाला बौना उपहास-भाजन बनता है ।'[२] मानसकार ने भी इसी प्रकार परिपाटी का समादर करते हुए आत्मलघुता का कथन किया है । इसमें ३ बातें प्रमुख हैं --

क्षुद्रता -- कवि ने अपने को दोषों का आगार बताया है और कहा है कि मैं कुपंथ-गामी कलिमल से युक्त वंचक भक्तों में अग्रगण्य हूं -

वंचक भगत कहाइ राम के । किंकर कंचन कोह काम के ।
तिन्ह महं प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धंधक धोरी ।।
जो अपने अवगुन सब कहऊं । बाढ़ें कथा पार नहिं लहऊं ।। रा० ।१।१२

स्वयं को दोषी बताते वाले कवि की कृति में यदि कोई दोष आ भी जाय तो वह दोषमुक्त ही समझा जाता है, इस अभिप्राय का यही प्रयोजन है ।

सामर्थ्यहीनता - तुलसी ने राम चरित-वर्णन में अपनी मति को सर्वथा सामर्थ्यहीन बताया है --

---

१. जिनसेनाचार्य,आदिपुराण,प्रथम पर्व,श्लोक सं० २८

२. क्व सूर्य प्रभवो वंश: क्व चाल्प विषया मति: ।
तितीर्षु: दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।।
मन्द: कवि यश: प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहु: इव वामन: ।।
-- रघुवंश - प्रथम सर्ग, श्लोक २-३

कहँ रघुपति के चरित अपारा । कहँ मति मोरि निरत संसारा ।।
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं । कहहु तूल केहि लेखे माँही ।।
-- रा० १।१२

समुझत अमिति राम प्रभुताई । करत कथा मन अति कदराई ।। रा०।१।१२

काव्यविषयक अज्ञानता: -- तुलसी ने काव्य विषय के ज्ञान से स्वयं को रहित बताया है --

कबित बिबेक एक नहिं मोरे । सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ।।

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौं । मति अनुरूप राम गुन गावौं ।।
-रा० १।६-१२

अन्य कई अर्द्धालियों में भी ऐसे कथन प्राप्त हैं । कुछ लोग इस आधार पर कविय के काव्यज्ञान से रहित होने का निष्कर्ष निकाल लेते हैं । यह सत्यता-कथन न होकर लघुता-कथन है जो विनम्रता और कवि-कर्त्तव्य के काव्याभिप्राय से प्रेरित है । इसका आयोजनकर कवि काव्य में अपने द्वारा किए गए काव्य-दोषों की पूर्वमुक्ति का सरंजाम कर लेता है ।

यहाँ एक तथ्य और ध्यातव्य है । वह यह कि कवियों द्वारा काव्यारम्भ में आत्म-लघुता-कथन किया जाना तो अभिप्राय है ही पर इसके अन्तर्गत उनका कथन विशेष भी कहीं कहीं परम्परा में चलते-चलते अभिप्राय का आधार धारण कर लेता है । उदाहरण के लिए हम इस कथन को ले सकते हैं जिसमें कवि अपने वर्ण्यविषय को अथाह समुद्र ही कहता है । ऊपर जिनसे आचार्य और महाकवि कालिदास के जिन श्लोकों को उद्धृत किया है उनमें यही बात पाई जाती है । तुलसी भी ठीक ऐसी ही बात करते हैं --

करन चहौं रघुपति गुन गाहा । लघुमति मोरि चरित अवगाहा ।
रा० । १।१८

इस प्रकार आत्मलघुता का भाव व्यक्त करते हुए तुलसी ने अपने कथन को बालकों की तुतली वाणी बताते हुए माता-पिता रूप सज्जनों एवं बुधजनों से अपनी इस धृष्टता के लिए क्षमायाचना भी की है ।[१]

---

१. छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाईं । सुनिहहिं बाल बचन मन लाईं ।
जौ बालक कह तोतरि बाता । सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ।। रा०१।८

३. सज्जन-प्रशंसा एवं खल-निन्दा --महाकाव्य के आरम्भ के लक्षणाकारों ने इसे लक्षणारूप में ग्रहण नहीं किया था किन्तु यह अभिप्राय परम्परा में जीवित था, बाद में साहित्य-दर्पणकार ने इसे महाकाव्य के लक्षणों में सम्मिलित कर लिया --

क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणाकीर्तनम् ।।[१]

तुलसी ने पर्याप्त वाग्विदग्धता के साथ सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निन्दा की है । कवि चातुरी के साथ वे संत और असज्जन दोनों को कष्टदायक बताते हुए भी दोनों की वन्दना ही करते हैं -

बंदौं संत असज्जन चरना ।दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ।।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं । मिलत एक दुख दारुन देहीं ।
उपजहिं एक संग जग माहीं । जलजजोंक जिमि गुन बिलगाहीं ।।
सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जग जलधि अगाधू ।
गुन अवगुन जानत सब कोई । जो जेहि भावनीक तेहि सोई ।।
भलोभलाई पै लहै लहै निचाइहि नीचु ।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु ।। रा०।१।५

इसके आगे भी मध्यवर्ती चौपाईयों सहित दो दोहों में सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निन्दा का संयुक्तक्रम मानस में चलता है ।[२] वन्दना के क्रम में इसके पूर्व भी इतना ही अंश सत्संगति-महिमा और खलवन्दना में लिखा गया है । पूरे प्रसंग में वचनवक्रता का प्राधान्य है । ऋजु कथनों में न तो सज्जनों की प्रशंसा की गई है और न खलों की निन्दा । ऊपर प्रस्तुत किए गए उद्धरण में संत और असज्जन दोनों को कष्टप्रद बताया गया है । संतजन बिछुड़ते हुए प्राण हरण कर लेते हैं तथा असज्जन मिलने पर दारुण दुख देते हैं, यहां सज्जनों की निन्दा के व्याज से प्रशंसा की गई है । अभिप्राय की योजना करते हुए तुलसी ने उसकी प्राचीनता को नवीनता के रंग में रंग दिया है ।

---

१. साहित्य दर्पण । षष्ठ परिच्छेद । ३१६

२. रा० । १।६-७

४. पूर्व कवियों का स्मरण -- महाकाव्यों में यह अभिप्राय भी बहुधा प्राप्त होता है। ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ में परम्परा के कवियों और उनकी कृतियों तथा उनके द्वारा बनाए हुए मार्ग का कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करते हैं, क्योंकि ऐसा होने से उन्हें एक आधार भूमि प्राप्त हो जाती है, विशेष कर ऐसी स्थिति में जब कि पूर्व कवियों ने भी उसी विषयवस्तु को अपने काव्य में अपनाया हो। गोस्वामी जी के पूर्व संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में राम-कथा की सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। संस्कृत के काव्य-स्रष्टा व्यास से लेकर भाषा (हिन्दी) के रामकथा कारों तक तुलसी ने सामूहिक रूप से सबको प्रणति निवेदन किया है --

ब्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना ।।
चरन कमल बंदौ तिन्ह केरे। पुरउ सकल मनोरथ मेरे ।।
कलि के कबिन्ह करौं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा ।।
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने ।।
भए जे अहहिं जो होइहहिं आगे। प्रनवउं सबहिं कपट छल त्यागे ।
रा० १।१४

पौरस्त्य कवियों द्वारा प्रशस्त किए गए मार्ग पर सुविधा पूर्वक पीछे के कवि गतिशील होते हैं अतएव इस अभिप्राय के माध्यम से कविजन परम्परा के कवियों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करते हैं। जैन कवियों का तो यह बहुत प्रिय अभिप्राय है। जिनसेनाचार्य आदि पुराण के आरम्भ में इसका निबन्धन इस प्रकार करते हैं --

पुराणकविभिः क्षुण्णे कथा मार्गेऽस्ति मे गतिः ।
पौरस्त्यै शोधितं मार्गं को वा नानुव्रजेन्नरः ।।[1]

इसे वे इस क्रिया के अनुरूप बताते हैं जैसे सघन एवं दुर्गम वन में किसी महाबलशाली हाथी द्वारा पादपों को गिरा गिराकर बनाए गए पथ से होकर कलभ (हाथी का बच्चा) स्वेच्छा पूर्वक सरलता से विचरण करता है।[2] तुलसी ने भी कहा है कि मुनि जनों ने हरिकीर्ति का गान पहले किया है, मैं भी उसी पथ से सुगमता पूर्वक

---

१. आदिपुराण, प्रथम पर्व, श्लोक ३१
२. महाकरीन्द्रसंमर्द विरली कृत पादपे ।
वने वन्यैककलभाः सुलभा स्वैरचारिणः ।। आदिपुराण। प्रथम पर्व।३२

चल रहा हूं --

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई । तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ।रा०१।

रामकथाकर्ता आदि कवि वाल्मीकि का भी स्मरण तुलसी ने किया है ।[१]

५. नायक-वंश-प्रशंसा -- महाकाव्य के विस्तृत कलेवर में वंश वर्णन को भी पहले स्थान मिलता था । ग्रन्थकार या तो नायक के वंश का वर्णन करता था, या फिर अपने वंश का अथवा दोनों का । किन्तु इस परिपाटी को अधिकतर राज्याश्रित एवं दरबारी कवियों के प्रबन्धों में ही प्रश्रय मिला । कालिदास ने अवश्य रघुवंश के प्रथम सर्ग में रघुवंश का वर्णन कर एक स्वतन्त्रचेष्टा की है, अन्यथा आश्रयदाता राजा ही काव्य के नायक होते थे और उन्हीं के वंश की महिमा कवि उन्हें प्रसन्न करने के उद्देश्य से किया करते थे, ग्रन्थकार अपने वंश का वर्णन अपने यश की वृद्धि हे या परिचय देने के प्रयोजन से करते थे ।

लोकाश्रित भक्त कवियों को न तो राजा को प्रसन्न रखने की परवाह ही थी और न अपने यशोविस्तार की कामना ही। अस्तु तुलसी ने प्रबन्धों में वंश नहीं किया है । मात्र नमस्क्रिया के प्रकरण में राम के माता-पिता, भाई, पत्नी आ की नामोल्लेख पूर्वक वन्दना की है । यह मात्र राम के कुटुम्ब की ओर संकेत हुआ, अत: इस अभिप्राय की सर्वाङ्ग स्थिति मानस में नहीं है, यही मानना ठीक होगा

६. रचनाकाल और रचना-स्थल :-- संस्कृत साहित्य में इस अभिप्राय का परिपाल बहुत ही कम मिलता है किन्तु हिन्दी साहित्य में मध्यकाल तक महाकाव्य में रचना के काल और स्थल का उल्लेख करना एक अनिवार्य प्रथा बन गई थी । मानस में तुलसी ने इसका अनुगमन किया है । मानस के रचनाकाल और रचनास्थल के सम्बन्ध में उन चौपाइयों में उनका महत्वपूर्ण वक्तव्य निहित है --

संबत सोरह से एकतीसा । करउं कथा हरिपद धरि सीसा ।।

नौमी भौमवार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।।रा०।१।३४

---

१. बंदौ मुनिपद कंज रामायन जेहि निरमयउ ।

सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित ।। रा०।१।१४

७. काव्याभिधान का रहस्य :-- इस अभिप्राय में उस रहस्य की ओर इंगित किया जाता है जिसके आधार पर महाकाव्य का नामकरण किया गया है । रामचरितमानस का 'मानस' शब्द ही इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । इसके दो अर्थ होते हैं सरोवर और मन या हृदय । दोनों ही अर्थों को तुलसी ने ग्रन्थ के नामकरण का आधार बनाया है --

१. काव्य का नाम रामचरित मानस इसलिए है कि राम के सम्पूर्ण चरित को एक सरोवर के रूप में प्रस्तुत किया गया है । काव्य के प्रस्तावना भाग में मानस रूपक की योजना इस बात को स्पष्ट कर देती है । कवि ने अपने कथ्य विषय को कई बार सर या ताल कहा है और उसमें सरोवर के समस्त उपादान दिखाए गए हैं ।

२. काव्य का नाम रामचरितमानस इसलिए भी है कि प्रथम प्रणेता शंकर ने इसे रचकर अपने मानस अर्थात् मन में रखा और अनुकूल अवसर आने पर इसे पार्वती को सुनाया --

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमय सिवा सन भाषा ।
ताते रामचरित मानस बर । धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर ।।

रा० । १।३५

८. चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति - यह महाकाव्य का लक्षण बद्ध अभिप्राय है । भामह, दण्डी तथा कविराज विश्वनाथ आदि ने इसका उल्लेख किया है ।[१] इसका आशय यह है कि महाकाव्य में चतुर्वर्ग । (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की निबन्धना होनी चाहिए । चारों पुरुषार्थों के फलों का भोक्ता महाकाव्य का नायक होता था भामह और दण्डी के लक्षणों में चारों की प्राप्ति की अनिवार्यता थी किन्तु कविराज विश्वनाथ ने इसे किंचित् शिथिल करते हुए कहा कि चारों वर्गों का उल्लेख हो पर उसमें मात्र एक का ही फलीभूत होना अनिवार्य है --

---

१. चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूप सार्थोपदेशकृत ।

भामह-काव्यालंकार १।१६-२३

चतुर्वर्ग फलायत्तं चतुरोदात्त नायकम् ।। दण्डी, काव्यादर्श १।१५

चत्वारस्तस्यवर्गाः स्युस्तेष्वेकं चफलं भवेत् साहित्य दर्पण ६।३२०

चत्वारस्तस्य वर्गा: स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।[१]

मानस की रामकथा में चारों वर्गों का उल्लेख और प्रतिफल न हुआ है । प्रारम्भ में तुलसी ने चारों वर्गों का कथन करने की स्पष्ट घोषणा की है --

अरथ धरम कामादिक चारी । कहब ग्यान बिग्यान बिचारी ।।

- रा० । १।३७

६. वस्तु-निर्देश -- आचार्य दण्डी ने लिखा है -- 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशोवापित-न्मुखम्' । महाकाव्य में वस्तु निर्देश भी होना चाहिए । वस्तुनिर्देश, से तात्पर्य है महाकाव्य की विषयवस्तु का निर्देश अर्थात् परिचय । यह परिचय काव्य के आरम्भ में संक्षेप में दिया जाता था । महाकाव्य में नायक का सम्पूर्ण जीवन चित्रित होता था और उसमें अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं होती थीं, संक्षेप में उनका परिचय प्रारम्भ में प्रस्तुत करना पाठक के लिए सुविधाजनक भी होता था और कौतूहलवर्द्धक भी ।

वाल्मीकि रामायण में पूरे एक अध्याय में रामकथा की उन प्रमुख घटनाओं की सूचना दी गई है जो काव्य के भीतर विस्तार से वर्णित है ।[२] अपने स्वरूप से यह अध्याय एकदम ग्रन्थ से पृथक है इसे 'लघु रामायण' कहा जाता है । तुलसी ने भी मानस की सम्पूर्ण घटनाओं का वस्तु-निर्देश प्रस्तुत किया है । यह वस्तु निर्देश दो स्थानों पर है --

१. बालकाण्ड में कविता- सरिता के प्रसंग में -- इसमें रामकथा का शृंखलाबद्ध कथन हुआ है और विभिन्न घटनाओं को सरिता के विभिन्न उपादानों के रूप में प्रस्तुत किया गया है - उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं --

बिच बिच कथा विचित्र विभागा । जनु सरि तीर तीर बन बागा ।।
उमा महेस बिबाह बराती । ते जलचर अगनित बहु भांती ।।
रघुबर जनम अनंद बधाई । भंवर तरंग मनोहर ताई ।। रा० । १।४०

२. उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि और गरुण के मध्य हुए संवाद में भी मानस की समस्त घटनाओं की चर्चा कर दी गई है । कागभुशुण्डि ने गरुण को रामकथा सुनाई ।

---

१. साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद।३२०

२. वाल्मीकि रामायण । वालकाण्ड। प्रथम सर्ग अध्याय

उसके अन्तर्गत क्या-क्या सुनाया यह बताते हुए तुलसी सम्पूर्ण कथा का सार-संक्षेप प्रस्तुत कर देते हैं, अभिधा शैली में यह प्रसंग एक दम लघु रामायण के समरूप है --

भयउ तासु मन परम उछाहा । लाग कहइ रघुपति गुन गाहा ।।
प्रथमहिं अति अनुराग भवानी । रामचरित सर कहेसि बखानी ।।
पुनि नारद कर मोह अपारा । कहेसि बहुरि रावन अवतारा ।।
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई । तब सिसु चरित कहेसि मन लाई ।।

रा० ७।६४

मध्यवर्ती चौपाइयों सहित पूरे पांच दोहों तक यह प्रसंग चलता है ।[१] दोनों प्रसंगों में प्रथम का उल्लेख रूपकात्मक प्रणाली पर है और दूसरे का एकदम सपाट । दोनों को ही वस्तुनिर्देश का कृत्य माना जा सकता है पर चूंकि परम्परा में यह अभिप्राय ग्रन्थ के आरम्भ में ही पाया जाता है, अस्तु इसको विशेष महत्त्व-पूर्ण मानना चाहिए । प्रारम्भ और अन्त में दोनों और वस्तु निर्देश की योजना तुलसी की एक विचित्र सूझ-बूझ है, इसमें मध्य की विस्तृत विषयवस्तु में और भी स्थिरता परिलक्षित होती है ।

१०. सर्गबन्धन -- महाकाव्य का सर्ग बन्धन युक्त होना शास्त्रीय लक्षण भी है और प्रबन्धरूढ़ि भी । महाकाव्यगत अभिप्रायों में यह प्रमुख है । भामह, दण्डी और कविराज विश्वनाथ आदि ने महाकाव्य को सर्गबन्धनयुक्त होने का विधान किया है ।[२] महाकाव्य के लिए यह इतना अनिवार्य धर्म माना गया कि 'सर्गबन्ध' शब्द महाकाव्य का पर्याय ही बन गया । दण्डी और भामह दोनों ने सर्गबन्ध शब्द का

----

१. द्रष्टव्य- रा० । ७।६४ - ६८

२. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतांच महच्चयत् । भामह-काव्यालंकार । १६
सर्गबन्धो महाकाव्य मुच्यते तस्य लक्षणम् । दण्डी-काव्यादर्श १।१४
सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर: । विश्वनाथ -साहित्यदर्पण १।३१५
सर्गबन्धांशरूपत्वा अनुक्तपद्यविस्तर: । काव्यादर्श १।१३
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिका कथे ।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुन: पंचबोध्यते ।। - काव्यालंकार १।१८

प्रयोग 'महाकाव्य के अर्थ में किया है ।

'सर्गबन्ध शब्द इस तथ्य का प्रमाण है कि महाकाव्यों के रूप विनिश्चय में पुराणों के तथ्य गृहीत हुए । 'सर्ग' शब्द स्वयं पुराणों से काव्य में आया है । पुराण के पंच लक्षणों (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित) में 'सर्ग' सर्वप्रथम आता है । इसका अर्थ है सृष्टि । प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग, तृतीय सर्ग का अर्थ क्रमश: पहली सृष्टि, दूसरी सृष्टि और तीसरी सृष्टि आदि है । पहले उसका व्यवहार पुराणों में ही था, बाद में काव्य के सृष्टि विभाग के लिए काव्यकारों ने इसका प्रयोग काव्य में किया । प्राचीनतम काव्यों का विभाजन सर्गों में नहीं हुआ, यथा महाभारत पर्वों और आख्यानों में तथा वाल्मीकि रामायण काण्डों और अध्यायों में विभक्त है । काण्ड का तात्पर्य घटना या कथाभाग से है तथा अध्याय उसे कहते हैं जिसका अध्ययन या पाठ एक दिन में अथवा एक अवधि विशेष में किया जा सके, यह शीर्षक पाठक को दृष्टि में रखकर निश्चित हुआ होगा । बाद में शास्त्रानुगामी विशुद्ध महाकाव्यों में वस्तु का विभाजन सर्गों में होने लगा , जिसका आशय सृष्टि या रचना है और जिसमें पाठक को नहीं बल्कि स्रष्टा, रचयिता ने स्वयं को दृष्टि में रखा है । वाल्मीकि रामायण और महाभारत को महाकाव्य न मानकर प्राय: 'आर्षकाव्य' माना जाता है ।

संस्कृत महाकाव्यों का सर्गविभाजन यद्यपि काफी प्रचलित हुआ और हिन्दी के महाकाव्यों ने भी उसे कहीं-कहीं अपनाया तथापि कवियों ने भविष्य में सर्ग की मान्यता को एकमत होकर स्वीकार नहीं किया । अपने अपने प्रबन्धों में वस्तु विभाजन महाकाव्यकारों ने अपने स्वतन्त्र शब्दाभिधानों में ही अधिक किया । चन्दवरदायी ने पृथ्वीराज रासो का विभाजन 'समय' में तथा जायसी ने पद्मावत का विभाजन 'खण्ड' में किया । हैमचन्द्राचार्य का कहना है कि संस्कृत में सर्गबन्ध प्राकृत में आश्वासक बंध, अपभ्रंश में सन्धिबंध, ग्राम्यापभ्रंश में अवस्कन्धबन्ध महाकाव्य होते हैं ।'[१] आधुनिककाल

---

१. पद्यं प्राय: संस्कृत प्राकृतापभ्रंशग्राम्य भाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससंध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधि शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् ।

--हैमचन्द्राचार्य, काव्यानुशासनम् (अध्याय ८), पृष्ठ ३६५ ।

के महाकाव्यकारों ने तो इस सम्बन्ध में और भी नए-नए प्रयोग किए हैं ।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि महाकाव्य के सर्गों में विभाजन का नियम बहुत दृढ़ता से कभी स्वीकार नहीं किया गया । इतना होते हुए भी सर्ग विभाजन की एक विस्तृत परम्परा होने से इसे अभिप्राय तो मानना ही पड़ेगा । सामान्य नियम तो यही प्रतीत होता है कि विभाजन अनिवार्य था, सर्गों में विभाजन तो एक अभिप्रायात्मक प्रणाली ही थी । परम्परा का सम्बल पाकर जिस तरह 'सर्ग' शब्द अभिप्राय के स्तर तक पहुँच सका, रामकथा ग्रन्थों में इसी तरह 'काण्ड' शब्द भी अभिप्राय के स्तर तक पहुँचा हुआ दिखाई देता है । रामकाव्य की प्राचीन परम्परा में कम से कम बीसों रामायण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिसमें काण्ड के अनुसार कथाविभाजन हुआ है । इनमें वाल्मीकि रामायण अध्यात्म रामायण और आनन्द रामायण आदि प्रमुख हैं । तुलसी ने रामचरितमानस का विभाजन काण्डों में किया है, इसे भी अभिप्राय की ही प्रेरणा माननी चाहिए । प्राचीन आलंकारिकों ने सर्ग संख्या का नियमन महाकाव्य के लिए नहीं किया था किन्तु कविराज विश्वनाथ ने सर्ग संख्या का नियमन करने के साथ कुछ अन्य नियम भी निश्चित कर दिए, जो सर्ग के साथ ही वृत्त से भी सम्बद्ध थे । निम्नलिखित दो श्लोकों में वे नियम निबद्ध हैं --

एकवृत्तमयः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाइह ।।
नानावृत्तमयःक्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।।[1]

अर्थात् प्रत्येक सर्ग की रचना एक वृत्त (छन्द) में होनी चाहिए किन्तु सर्गान्त में छन्द परिवर्तन होना चाहिए । न बहुत छोटे न बहुत बड़े अष्टाधिक सर्ग होने चाहिए कभी कभी विविध वृत्तों से युक्त सर्ग भी दिखायी पड़ते हैं । सर्गान्त में भावी सर्ग की सूचना भी होनी चाहिए ।' ऐसा प्रतीत होता है कि ये लक्षण कुछ प्रबन्धविशेषों को दृष्टि में रखकर बना दिए गए थे जिनमें औचित्य तो नाम-मात्र के लिए

---

१. साहित्य दर्पण ६।३२०-२१

है, व्यर्थ की जकड़ बन्दी बहुत अधिक है । डॉ० शम्भूनाथ सिंह का मत है कि सर्ग और छन्द सम्बन्धी ये बातें बहुत ही ऊपरी हैं और उन्हें लक्षण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता ।'[1] उन्होंने आगे कहा है कि सर्ग-संख्या, नाम, सर्ग के अन्त में दूसरे की कथा देना रूढ़ि थी जिसे विश्वनाथ ने लक्षण मान लिया ।[2]

वस्तुत: उपर्युक्त नियमों में उदार लक्षणगुण बहुत कम है अभिप्राय या रूढ़ि तत्व बहुत अधिक । तुलसी ने सर्वांश में सर्ग सम्बन्धी इन अभिप्रायों को नहीं अपनाया है मानस में सर्गों के स्थान पर काण्ड है और वे भी मात्र सात ही । आकार की दृष्टि से भी वे परस्पर समान नहीं है । प्रारम्भ और अन्त में दो-दो काण्ड काफी बड़े हैं और मध्य के तीन काण्डकाफी छोटे ।सर्गान्त प्राय: सोरठे या दोहे से हुआ है । नवीन छंद नहीं है । काण्डों के मध्य में भी इसका प्रयोग हुआ है । सर्गान्त में भावी कथा की सूचना भी नहीं दी गई है । मानस के लंकाकाण्ड में कई प्रकार के छन्दों का प्रयोग अवश्य है पर उसमें भी दोहा-चौपाई ही प्रमुख है । रामकथा के रामायण ग्रन्थों में अधिकतर सात ही काण्ड और एक प्रकार के ही प्रधान छन्द का व्यवहार हुआ था, तुलसी ने उसे अभिप्राय के रूप में अपना आदर्श बनाया । अस्तु यह कहना असंगत न होगा कि शास्त्रग्रन्थों में निर्धारित महाकाव्य के सर्ग और छन्दसम्बन्धी नियमों को न अपनाते हुए भी तुलसी ने जो मार्ग अपनाया है, वह परम्परा से परे नहीं है । अभिप्राय की किसी न किसी समानान्तर धारा का प्रभाव यहाँ भी विद्यमान है ।

११. इतिहास-पुराण प्रसिद्ध कथानक -- महाकाव्य की कथावस्तु इतिहास अथवा पुराण प्रसिद्ध होनी चाहिए । महाकाव्य के लक्षण कारों ने उसी काव्य को महाकाव्य होने का गौरव प्रदान किया जिस की कथावस्तु इतिहास अथवा पुराण की किसी प्रसिद्ध घटना पर आधारित हो । दण्डी ने इस सम्बन्ध में कहा है --

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वासदाश्रयम् ।[3]

---

१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृष्ठ ६३

२. वही, पृ० ६३

३. काव्यादर्श, १।१५

कविराज विश्वनाथ ने भी महाकाव्य के कथानक पर 'इतिहासोद्भवं वृत्तं' की शर्त लगायी है । कोई काल्पनिक कथा महाकाव्य की कथा नहीं हो सकती । कथानक के इतिहास अथवा पुराणों में प्रसिद्ध घटना पर आधारित होने की नियमबद्धता भी अभिप्राय ही है । इसी प्रकार के कथानक को अनुत्पाद्यकथानक कहते हैं । कभी कभी यह आशंका उत्पन्न होती है कि जब महाकाव्य का कथानक अनुत्पाद्य होता है तो उसकी कथावस्तु में काल्पनिकता का समावेश क्यों होता है और यदि होता ही है तो उसे अनुत्पाद्य क्यों कहते हैं । इसका स्पष्टीकरण यह है कि महाकाव्य की वस्तु के निर्माण में काल्पनिक कथांशों या घटनाओं का योग तो होता है किन्तु पूरी-पूरी कथावस्तु मात्र कल्पना पर आधारित न होकर इतिहास या पुराण की घटना पर आधारित होती है । कल्पना का योग बिल्कुल न होने से महाकाव्य की कथावस्तु तैयार की ही नहीं जा सकती । ऐसा करने पर वह काव्य की कथा न होकर इतिहास या ऐतिहासिक विवरण हो जाएगा । अतएव कल्पनामिश्रित कथा-वस्तु को ही अनुत्पाद्य कथानक कहा जाता है । अन्य आचार्य 'इतिहास कथोद्भूतम्' या 'इतिहासोद्भवम्' कहकर ही सन्तुष्ट हो गए पर रुद्रट ने यह भी बताया कि इतिहास, पुराण कथा आदि से ग्रहीत कथानक से उसका कथापंजर ही लिया जा सकता है शेष बातें तो कवि अपनी कल्पना और वाणी से रक्तमांस की तरह उसके महा-काव्य के कथापंजर में भरकर महाकाव्य के सुगठित शरीर का निर्माण करेगा और ऐसा कथानक ही अनुत्पाद्य कहा जायगा ।'[1]

तुलसी के रामचरितमानस की कथा (रामकथा) सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में व्याप्त है । वह 'नानापुराण निगमागम सम्मत' है । अनेक रामायण ग्रन्थों में, कई पुराणों में तथा संस्कृत हिन्दी के प्राचीन काव्यों में रामकथा को परम्परा से ग्रहण किया गया है । निष्कर्ष यह कि कथास्रोत सम्बन्धी अभिप्राय भी तुलसी द्वारा मान लिया गया है ।

१२. धीरोदात्त नायक: क्षत्रिय या देवता :— महाकाव्य का नायक कैसा हो, इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों द्वारा कहे गए संगत लक्षण धीरे-धीरे शिथिल होकर रूढ़ि या

---

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह-हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ६७

अभिप्राय बनते चले गए । नायक की भूमिका सबसे महान होती है । व्यक्तित्व और गुण की दृष्टि से वह तदनुरूप हो, यही नायक के लिए आवश्यक है । आचार्य भामह-महाकाव्य के नायक के सम्बन्ध में कहते हैं --

नायकं प्रागुपन्नस्य वंशवीर्यं श्रुतादिभि: ।
नतस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ।।[१]

अर्थात् किसीकुलीन, तेजस्वी और व्युत्पन्न व्यक्तित्व वाले महापुरुष का नायक के रूप में वर्णन होना चाहिए, और उसके बध का किसी अन्य पात्र द्वारा किया जाना नहीं वर्णित होना चाहिए । दण्डी ने महाकाव्य के नायक के चतुर और उदात्त होने पर बल दिया ।[२] ये दोनों कथन विशुद्ध लक्षण प्रतीत होते हैं, इनमें रूढ़ि और अभिप्राय का तत्व सम्मिलित नहीं है, किन्तु आगे जहां कविराज विश्वनाथ महाकाव्य के नायक को धीरोदात्त गुणों से युक्त होने के साथ-साथ उसका देवता या सद्वंशी क्षत्रिय होना अनिवार्य कर देते हैं[३] वहीं लक्षण में अभिप्रायात्मकता आ जाती है ।

गोस्वामी जी के काव्य-नायक राम धीरोदात्त गुणों से युक्त हैं और सद्वंशी क्षत्रिय है । रामचरितमानस के पूर्व भी न जाने कितने काव्यों के नायक होने का गौरव उन्हें प्राप्त है । डॉ० श्रीकृष्णलाल ने यह तर्क किया है कि तुलसी के नायक राम न तो मनुष्य ही हैं और न देवता ही, अपितु वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं, इसलिए वे महाकाव्य के नायक नहीं हो सकते ।[४] इसी आधार पर डॉ० लाल जी ने मानस के महाकाव्यत्व पर प्रश्नचिह्न लगाना चाहा है । उनका यह तर्क कदापि संगत नहीं है कि राम मनुष्य नहीं थे । जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक राम को हम न जाने कितने मानवीय आचरण करते हुए देखते हैं फिर उनकी मनुष्यता में संदेह का कोई आधार मुझे दिखाई नहीं देता । क्षत्रिय राजा के घर उनका जन्म हुआ है और वे जात्योचित कर्मों और संस्कारों से सम्पन्न हैं । महाकाव्य के नायक के विषय में प्रचलित अभिप्राय का पूरा-पूरा पालन गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में किया है ।

----

१. काव्यालंकार १।२२

२. चतुर्वर्ग, फलायत्तम् चतुरोदात्त नायकम्-काव्यादर्श १।१४

३. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर: ।
सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वित: ।। साहित्यदर्पण ६।३१४

४ डॉ० श्रीकृष्णलाल-मानसदर्शन, पृ० १८६

१३. अंगीरस : शृंगार, वीर अथवा शान्त :-- भामह ने रसैश्च सकलै: पृथक् कह कर महाकाव्य में सभी रसों का होना मात्र वांछित बताया था दण्डी ने भी महाकाव्य की रसात्मकता के सम्बन्ध में मात्र 'रसभावनिरन्तरम्' ही कहा, किन्तु कविराज विश्वनाथ ने इसमें भी संकोच प्रदान करके इस पर अभिप्राय का रंग चढ़ा दिया और यह माना कि महाकाव्य के अन्तर्गत शृङ्गार , वीर और शान्त में से ही कोई एक अङ्गीरस होना चाहिए --

शृंगार वीर शान्तानामेको ङ्गीरस इष्यते ।[१]

अंगीरस उसे कहते हैं जिसमें सभी रसों का अन्तर्भाव हो जाता है । कहने का तात्पर्य यह कि महाकाव्य में जो रस अंगीरस के स्थान पर होता है उसका स्थायीभाव सम्पूर्ण रचना में आदि से लेकर अन्त तक अपनी स्थिति बनाये रखता है । चूंकि शृंगार, वीर और शान्त रसों के स्थायी भाव इतने घनीभूत हैं, कि जो इसके योग्य सिद्ध होते रहे हैं । विश्वनाथ के पूर्व परम्परा में भी महाकाव्यों में इन्हीं तीनों में से कोई एक अंगीरस का स्थान प्राप्त करता रहा । सम्भवत: इन्हीं कारणों से उन्होंने इस प्रकार का नियम निबन्धन किया, जो सम्भावना की उपेक्षाकर रूढ़ भावना को प्रश्रय देता है । अन्य प्रतिभाशाली कवि अन्य रसों को भी अपनी क्षमता से ऐसे स्थान तक पहुंचा सकते हैं, अथवा भविष्य में ऐसा कोई अन्य रस अस्तित्व में आ सकता है जो अंगीरस बन जाए, इस सम्भावना पर विश्वनाथ ने ध्यान नहीं दिया ।

रामचरितमानस के अंगीरस के प्रश्न को लेकर काफी समय तक विद्वानों द्वारा विचार विमर्श चलता रहा । पर्याप्त अवधि तक यह विचार उक्त तीनों रसों की सीमारेखा के भीतर ही हुआ और अध्येताओं ने नव्य संभावना की ओर दृष्टि नहीं डाली । कविराज विश्वनाथ का अंगीरस-सिद्धान्त ही एतत्सम्बन्धी गवेषणा में समक्ष आता रहा, क्योंकि यह परम्परापोषित होकर काफी गहरी जड़ जमा चुका था , और प्रबन्ध-रचना का एक प्रमुख अभिप्राय बन गया था । आवश्यकता इस

---

१. साहित्यदर्पण ६।३१५

बात की थी भक्तिकाव्य के महाकाव्यों का अंगीरस होने के लिए कोई रस उभर कर सामने आए जिसमें भक्तिभावना का प्राधान्य हो और जो अन्य रसों का अन्त-र्भाव अपने भीतर स्वाभाविकता के साथ कर सके । भक्तिरस की मान्यता इसी आवश्यकता की पूर्ति है और अब अधिकांश विद्वान् 'भक्तिरस' को ही रामचरित-मानस का अंगीरस मानते हैं । यदि तुलसी ने 'भक्तिरस' को मानस का अंगीरस बनाया तो इसमें महाकाव्य के उस अभिप्राय की एकदम उपेक्षा नहीं हुई, जिसमें शृंगार वीर या शान्त में से एक को ही अंगीरस का स्थान दिया जाता था । वस्तुत: शृंगार रस ही अलौकिक आलम्बन होने से भक्तिकाव्य में भक्तिरस हो गया है । इसका स्थायी भाव रति (लौकिक रति) न होकर अलौकिक रति है । डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने मानस के प्रधान रस (अंगीरस) पर विचार करते हुए लिखा है- 'मानस में जो प्रधान रस है वह अलौकिक शृंगार रस ही है और इसी को गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों ने भक्तिरस कहा है ।[१]

'भक्तिरस' को अलौकिक शृंगार रस कहने की अपेक्षा उचित है कि उसे उसके निजी स्वरूप में पहचानकर 'भक्तिरस' कहा जाय । रूप गोस्वामी कृत उज्ज्वल नीलमणि' एवं भक्तिरसामृत सिन्धु' नामक ग्रन्थों में तथा मधुसूदन सरस्वती कृत भक्ति-रसायन' नामक ग्रन्थ में भक्ति रस की प्रतिष्ठा सम्यक् प्रकार से हो चुकी है । हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण 'भक्तिकाव्य' में उसका वर्चस्व स्पष्ट है और इस आधार पर यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि भक्तिकालीन काव्य का प्रधान रस भक्तिरस है और उसकाल के प्रबन्धों में उसका अंगीरसत्व उसी प्रकार 'अभिप्राय के स्तर तक पहुंच चुका है जैसे अन्य कालों में शृंगार, वीर अथवा शान्त रस ।

अभिप्राय में प्राचीनता कातत्व तो यथेष्ट मात्रा में रहता ही है फिर भी इस परिप्रेक्ष्य में मानस के अंगीरस पर विचार करने के अनन्तर यह कहना संगत प्रतीत होता है कि अपने महाकाव्य रामचरितमानस में तुलसी ने अंगीरस योजना करते हुए प्राचीन अभिप्राय (शृंगार वीर या शान्त रस) का प्रयोग न कर नवीन

----

१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह -हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास , पृ० ५५६

अभिप्राय का प्रयोग किया है जो पूरी सामर्थ्य के साथ मानस को महाकाव्य की गरिमा से मंडित करता है । अभिप्राय की दृष्टि से यहाँ मानस के अंगीरस पर विचार किया गया, स्वतन्त्र रूप से अंगी-रस विवेचन तुलसी साहित्य के अनेक विद्वान् अध्येता कर चुके हैं । डॉ० उदयभानु सिंह ने प्रचुर व्यवस्था एवं विस्तार से इस पर विचार किया है ।[१] यहाँ उस प्रकार का विवेचन अभीष्ट नहीं है ।

१४. कथानक गठन में कथा-रूढ़ियों का प्रयोग – महाकाव्यों का कथानक गठन मध्यकाल तक के प्रबन्धों में कथानक-रूढ़ियों के योग से हुआ करता था । यह एक परिपाटी बन गई थी कि सत्य कथांशों को रूढ़ और कल्पित कथांशों द्वारा दौड़ कर ही महाकाव्य की कथा का जाल तैयार किया जाय । कथारूढ़ियों का विस्तृत विवेचन हम द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत विस्तार से कर चुके हैं और रामचरित मानस में इसकी व्यापकता एवं प्रयोग सौष्ठव पर प्रकाश डाला जा चुका है । यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है ।

महाकाव्यों के कथा-विस्तार में कथारूढ़ियों का प्रमुख योगदान होना काव्य पर कथा एवं आख्यायिका का प्रभाव ही था । लोक कथाओं का भी प्रभाव महाकाव्यों के कथा भाग में सर्वत्र परिलक्षित होता है जो स्वप्न शकुन ,जादू, टोना, छींक आदि से सम्बद्ध लघु एवं कल्पित कथांशों में पाया जाता है । रामचरितमानस के पूर्व हिन्दी साहित्य में जिन दो प्रमुख महाकाव्यों का उदय हुआ था, उनमें तो मानस से भी अधिक कथा रूढ़ियों का प्रयोग किया गया । ये दानों काव्य हैं -- आदिकाल का पृथ्वीराज रासो तथा मध्यकाल का 'पद्मावत' इसके रचयिता क्रमश: चन्दवरदायी और मलिक मोहम्मद जायसी हैं । दोनों ने ही अपने-अपने प्रबन्धों में कथारूढ़ियों का भरपूर प्रयोग किया । संस्कृत साहित्य में ऐसे काव्यों की कमी नहीं है । महाकाव्य के कथानक-गठन में कथा-रूढ़ियों का प्रयोग एक अभिप्राय बना हुआ

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह - तुलसी काव्यमीमांसा, पृ० ४२३-४२८

था, जिसका परिपालन तुलसी ने अतीव काव्यात्मकता, मौलिकता और सूझबूझ के साथ रामचरितमानस में किया । वन में मृगया खेलते हुए मार्ग भूलना, कपटी मुनि का मिलना, वेश परिवर्तन, रूप-परिवर्तन शाप, वरदान, पाषाण का जीवित होना, परीक्षा, आदि मानस में प्रयुक्त प्रमुख कथारूढ़ियाँ हैं ।

१५. महाकाव्य में विविध वर्णन -- परिपाटी के अनुसार महाकाव्य में विविध प्रकार के वर्णनों का समावेश होना चाहिए । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लिखा है कि - महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा रात्रि, प्रदोष, अन्धकार दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, ऋतु वन, समुद्र, संयोग वियोग, मुनि स्वर्ग, नगर यज्ञ, युद्ध यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथा सम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए ।[1] इस अभिप्राय की मान्यता का यही आधार है कि एक महान् धीर, वीर, उदात्त एवं क्षत्रियवंशी नायक का सम्पूर्ण जीवन इन प्रसंगों और दृश्यों से अवश्यमेव जुड़ा ही रहता है । महाकाव्य की कथावस्तु को संक्षिप्त नहीं होना चाहिए । ये वर्णन उसे विस्तृत करने वाले कथांग हैं । भामह ने 'मंत्रदूत प्रयाणाजिन-नायकाभ्युदयं च यत्' कहकर इन विस्तारक वर्णकों की ओर इंगित किया है । दण्डी ने दो श्लोकों में इनकी सूची प्रस्तुत की है[2] और कविराज विश्वनाथ ने पांच पंक्तियों में इसे गिनाया है । वस्तुत: ऐसे वर्णनों की संख्या का कोई सुनिश्चित आकलन सुगम नहीं है । उक्त आलंकारिकों ने उदाहरणमात्र के लिए उनमें से कुछ का नामोल्लेख किया है । संस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों में वर्णन सम्बन्धी इन अभिप्रायों का पर्याप्त सीमा तक अनुसरण किया गया है ।

तुलसी ने इस प्रकार के प्रसंगों और दृश्यों का रामचरितमानस में अनेकविध वर्णन किया है, जिसका सविस्तार अध्ययन हम पांचवें अध्याय में वर्णनात्मक अभिप्राय

---

१. सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्त वासरा: ।
प्रातर्मध्याह्न मृगया शैलर्तुवनसागरा: ।।
संभोग विप्रलम्भश्च मुनि, स्वर्गपुराध्वरा: ।
रणप्रयाणोपयंचमंत्र पुत्रोदयादय: ।।
वर्णनीया यथायोग्यं साङ्गोपाङ्गाअमीइह ।। साहित्यदर्पण ६।३२०-२३

२. काव्यादर्श १।१६-१७

शीर्षक से कर चुके हूं । इस प्रकार के वर्णन वस्तु वर्णन, प्रकृति वर्णन और क्रिया व्यापार वर्णन के अन्तर्गत वहीं देखे जा सकते हैं । यहाँ उसका उल्लेख पुनरावृत्ति होगी । मात्र इतना ही कहना यहाँ अभीष्ट है कि महाकाव्य-रचना में तुलसी ने इस अभिप्राय को भी अत्यन्त सुरुचि के साथ ग्रहण किया था ।

१६. नाट्यसन्धियों एवं कार्यावस्थाओं की योजना --सन्धियां एवं कार्यावस्थाएं मूलत: नाटक के तत्व हैं । संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों का जन्म यद्यपि नाटकों से पूर्व ही हुआ किन्तु महाकाव्यों के शास्त्रीय लक्षणों का विधान बहुत पीछे हुआ । इसके पूर्व ही भरतमुनि नाट्यशास्त्र का प्रणयन कर चुके थे । महाकाव्य के लक्षणकारों ने नाटक से भी कुछ प्रमुखतत्व ग्रहण किया जिनमें नाट्यसन्धियां और कार्यावस्थाएं महत्वपूर्ण हैं ।

नाट्यसन्धियां कथा के सम्यक् निबन्धन का कार्य करती हैं । इनकी संख्या ५ होती है --१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ,४.विमर्श, ५. निर्वहण । मानस के कथा-विधान में इनका प्रतिफलन हुआ है । डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने मानस के महाकाव्यत्व का अनुशीलन करते हुए उसकी कथावस्तुओं में नाट्यसन्धियों की स्थिति इस प्रकार दिखाई है --

१. मुख - अतिसय देखि धरम की हानी । परम सभीत धरा अकुलानी ।

गिरि कानन जहं तंह भरि पूरी । रहे निज निज अनीक रुचि रूरी ।

रा०१।१८४ - १८८

२. प्रतिमुख - तापस बेष बिसेष उदासी । चौदह बरिस राम बनवासी ।।

^ ^

कहेउं रामबन गवनु सुहावा । सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा ।।

रा०।२।२६-१४२

३. गर्भ - जबते राम कीन्ह तंह बासा । सुखी भए मन बीती त्रासा ।

^

क्रोधवन्त तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ । रा० ३।१४-२८

४. विमर्श - कौसलेस दसरथ के जाए । हम पितु बचन मानि बन आए ।।

तुरत बैद सब कीन्ह उपाई । उठि बैठे लछिमन हरषाई ।।

रा० । ४।२ - रा० ६।६२

५. निर्वहण - डोली भूमि गिरत दसकंधर । छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर ।।

पछिले बाढ़हि प्रथम जे कहे ते पावहिं नास ।। रा०६।१०३ —

रा० ७।३१

कार्यावस्थाएं भी ५ होती हैं प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम । ये अवस्थाएं आदि से लेकर अन्त तक नायक के कार्य की अवस्था का बोध कराती हैं । नायक फलागम तक पहुंचने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है । कार्य की समस्त अवस्थाओं को ही स्थूल रूप से पांच विभागों में बांटकर उन्हें नाट्यशिल्प में कार्यावस्थाएं कहा गया है । महाकाव्य के नायक के सम्पूर्ण कार्य का अवस्थाबोध कार्यावस्थाओं से हो जाता है । मानस में कार्यावस्थाओं की स्थिति इस प्रकार है —

१. प्रारम्भ - रावण तथा अन्य राक्षसों के पापाचार से लेकर राम के मिथिला पहुंचने तक ।

२. प्रयत्न - रामवनवास से लेकर शूर्पणखा प्रसंग तक ।

३. प्राप्त्याशा- खरदूषण बध से लेकर हनुमान द्वारा सीतान्वेषण हो जाने तक ।

४. नियताप्ति - राम का रावण से युद्ध करने के लिए प्रयास और बाधक समुद्र पर सेतुबंध से लेकर कुम्भकर्णवध तक ।

५. फलागम - रावणवध से लेकर रामराज्याभिषेक तक ।

इस प्रकार नाट्यसन्धियों और कार्यावस्थाओं की अभिप्रायात्मक स्थिति रामचरितमानस में सुस्पष्ट है ।

१७. अलंकृति एवं रसमयता - प्राचीन लक्षणानुसार महाकाव्यों में अलंकारों और रसों का भी यथेष्ट सन्निवेश होना चाहिए । रामचरितमानस में भी सभी प्रमुख शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के उदाहरण मिल जाते हैं । सादृश्यमूलक तर्क न्यायमूलक शृंखला मूलक विरोधमूलक आदि सभी प्रकार के अलंकारों की योजना मानस में हुई है । काव्य में प्रचलित सभी रसों का आस्वादन भी रामचरितमानस में सुलभ है । आगे हम यथावसर इसकी विस्तृत गवेषणा करेंगे । यहां मात्र इतना कहना ही अभीष्ट है कि महा-

काव्य के अभिप्राय के रूप में रस और अलंकार-प्रयोग की जितनी मात्रा अनिवार्य है उससे कहीं अधिक वह रामचरितमानस में है ।

अब तक हम इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि मानस में तुलसी ने उन सभी महाकाव्य विषयक अभिप्रायों का समावेश किसी न किसी रूप में किया है, जो उन. समय तक या तो प्राचीन परिपाटी के रूप में प्रचलित थे या नवीन परिपाटी के अंग बन चुके थे । कभी-कभी साहित्य रचना के क्षेत्र में ऐसी स्थिति आती है कि प्राचीन अभिप्रायों (रीतियों अथवा रूढ़ियों) के स्थान पर नवीन अभिप्रायों की प्रतिष्ठापना हो जाती है । अभिप्रायों को परम्परा का महत्वपूर्ण आधार प्राप्त होता है, उस प्रकार रीतिबद्धता से हटकर जो पथ निर्मित किया जाता है बहुत शीघ्र ही वह भी रीति का रूप धारण कर लेता है । महाकाव्य के सम्बन्ध में मानस में जितने अभि-प्रायों का उल्लेख हमने ऊपर किया है, उनके मुख्यत: दो वर्ग हैं --

१. महाकाव्य विषयक वे अभिप्राय जो संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त होते थे और शास्त्र ग्रन्थों में निबद्ध थे एवं जिनकी स्थिति रामचरित मानस में भी उसी रूप में है जैसे संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में थी जैसे धीरोदात्त क्षत्रियवंशी नायक , इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध कथानक, नाट्यसन्धियों,कार्यावस्थाओं एवं विविध वर्णनों की स्थिति ।

२. महाकाव्य विषयक वे अभिप्राय जो प्राचीन अभिप्रायों का उल्लंघन करते हुए परम्परा और प्रयोग के आधार पर नवीन अभिप्राय के रूप में प्रतिष्ठित हुए जैसे सर्ग के स्थान पर काण्ड का प्रयोग, विविध छन्दों के स्थान पर एक ही प्रकार के छन्द में सम्पूर्ण काव्य की रचना, संस्कृत भाषा के स्थान पर हिन्दी भाषा तथा नागर भाषा के स्थान पर ग्रामीण भाषा का प्रयोग आदि ।

कवि जब कोई प्रबन्ध काव्य लिखकर उसमें महाकाव्य के अभिप्रायों का अधिकाधिक समावेश करे तो ऐसीस्थिति में दो प्रमुख तथ्यों की ओर दृष्टि जाती है । पहला तो ~~ऐसी-स्थिति-में~~ यह कि जब कवि ने अपनी कृति में महाकाव्य के अभिप्राय समाविष्ट किए हैं तो उसका दृष्टिकोण उस रचना को महाकाव्य रूप में प्रणीत करने का अवश्य रहा होगा और दूसरा यह कि यदि कर्ता अपनी कृति को महाकाव्य का रूपाकार देने हेतु संकल्पबद्ध है तो वह रचना उस काव्यरूप के परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से विचारणीय हो जाती है । अत: रामचरित मानस महाकाव्यत्व की दृष्टि से विचारणीय रचना है ।

अध्येताओं ने इस आवश्यकता को समझा है और यथासम्भव अधिक से अधिक सचेष्टता के साथ मानस के महाकाव्यत्व पर विचार भी किया है, किन्तु खेद है कि विद्वान आज तक मानस के महाकाव्यत्व पर एकमत नहीं हो सके । ऐसा प्रतीत होता है कि दो प्रमुख कारणों से कुछ विद्वान अध्येतागण सही निष्कर्ष तक पहुँचने में असफल रहे हैं --

१. पहला कारण तो यह था कि मूल्यांकन करते समय महाकाव्य विधा के उद्भव के कारणों और विशेषत: उसके स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोतों को ध्यान में नहीं रखा गया और इसका परिणाम यह हुआ कि जिन स्रोतों से इस विधा का विकास हुआ उन्हीं को इसके विरोध में खड़ा करके इसके महाकाव्यत्व पर प्रश्न चिह्न लगा दिया गया ।

२. दूसरा कारण यह था कि मानस के काव्यरूप का निर्णय करते समय ऐसे अध्येताओं ने उसके समग्र स्वरूप को दृष्टि में न रखकर उसके किसी अंग विशेष या तत्व विशेष को ही अपने निश्चय का आधार बनाया । इसका परिणाम यह हुआ कि एक अंग को देखकर सम्पूर्ण स्वरूप के बारे में जो निश्चय किया गया, वह कृति के समग्रस्वरूप पर लागू नहीं हुआ और न उसकी सही पहचान हो सकी ।

रामचरित मानस को इन्हीं कारणों से कभी विकसनशील महाकाव्य, कभी नाटकीय महाकाव्य, कभी चरितात्मक महाकाव्य अथवा चरित-काव्य आदि कहा गया । यद्यपि ये अभिधान मानस के वास्तविक काव्यरूप के वाचक नहीं है, तथापि ये आपत्तिजनक इसलिए नहीं हैं कि जब भी विद्वानों ने ऐसा कहा तो मानस की किसी विशेषता की चर्चा के प्रसंग में ही कहा, न कि मानस के काव्यरूप पर व्यवस्थित विचार करते हुए । पाठभेद और पाठ की न्यूनाधिक मात्रा मानस की विभिन्न आधारभूत प्रतियों में पाए जाने के कारण उसे विकसनशील महाकाव्य कहा गया । नाटकीयता का गुण होने के कारण उसे नाटकीय महाकाव्य कहा गया । इसी तरह चरितात्मक होने या चरित-काव्यों की शैली पर लिखा गया होने के कारण मानस को चरित-काव्य कहा जाता है । चूंकि इन संज्ञाओं को देते हुए उसके महाकाव्यत्व का निरसन नहीं किया गया है, इसलिए इन्हें लक्षण मात्र मानना चाहिए । मानस के काव्यरूप के सम्बन्ध में नितान्त आपत्तिजनक धारणा उसे पुराण या पुराणकाव्य मानने की है, जिसकी प्रतिष्ठापना डॉ० श्रीकृष्णलाल ने मानस के महाकाव्यत्व का निरसन करते हुए करनी

चाही है ।[१] यद्यपि डॉ० उदयभानु सिंह ने इसका तर्कसंगत प्रत्याख्यान करते हुए मानस के महाकाव्यत्व का मंडन किया है,[२] तथापि ऊपर निर्दिष्ट कारणों की ओर ध्यान देते हुए और तदनुसार गवेषणा प्रस्तुत करते हुए वह मौलिक विचार भेद दूर नहीं किया गया जो अत्यावश्यक था । आज भी उसकी आवश्यकता बनी हुई है । इसी के सहारे हम आगे महाकाव्य की विधा के स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोतों पर विचार करेंगे तथा उसके अनन्तर रामचरितमानस के समग्र स्वरूप को दृष्टि में रखकर उसके काव्यरूप का निश्चय करेंगे ।

महाकाव्य के स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोत - महाकाव्य एक यौगिक काव्यरूप है । वाङ्मय की विभिन्न दिशाओं से विविध तत्वों को ग्रहण कर इसका स्वरूप निर्माण महाकवियों ने किया है । संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास-दर्शन पर अत्यन्त मौलिक एवं गम्भीर चिन्तन करते हुए डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी ने महाकाव्य के प्रसंग में उसके स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोतों पर प्रचुर प्रकाश डाला है ।[३] डॉ० त्रिपाठी ने महाकाव्य के स्वरूप गठन में निम्नलिखित ८ स्रोतों को योगदान स्वीकार किया है-- १. पुराण, २. इतिहास अथवा इतिहास जैसा इतर वाङ्मय, ३. धर्मशास्त्र स्मृति, ४. राजनीति एवं युद्धविद्या, ५ कामशास्त्र, ६. नाट्यशास्त्र, ७. काव्यशास्त्र, ८. छन्द-शास्त्र । इनमें अन्तिम तीन मुख्यत: शिल्प से ही सम्बद्ध हैं । प्रारम्भ के ५ स्रोतों का सम्बन्ध कथ्य और सामग्री से है साथ ही वे महाकाव्य के शिल्प को भी स्थानस्थान पर स्पर्श करते हैं । सभी स्रोतों में पुराण सबसे प्रमुख हैं । कोई भी काव्य रूप जिन-जिन तत्वों के सहयोग से गठित होता , उनमें से कोई भी तत्व, वह काव्य रूप नहीं कहा जा सकता, किन्तु यदि कोई तत्व मात्रा की दृष्टि से प्रधान हो जाता है तो उसकी तत्वता, उस काव्य रूप की समग्रता को आच्छादित करने लगती है । ऐसी स्थिति रचना के काव्यरूप विनिश्चय में अत्यन्त भ्रामक सिद्ध हुई है । उदाहरण के लिए हम पुराण को ले सकते हैं । ऊपर दिखाया जा चुका है कि पुराण महाकाव्य के स्वरूप

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल-मानस दर्शन, पृ० १७८-२००

२. डॉ० उदयभानु सिंह-तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृ० ४२८ - ४३८

३. डॉ० जयशंकर त्रिपाठी-आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन, पृ० १९२-२१८

गठन का सर्वप्रमुख स्रोत था । स्वाभाविक है कि पुराण की यह प्रमुखता कहीं कहीं सीमातीत हो जाने पर काव्य के पुराण या पुराण काव्य होने का भ्रम उत्पन्न कर सकती है । रामचरित मानस के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है, जिसके कारण उसे पुराण या पुराणकाव्य माना गया । इसमें महाकाव्य के स्वरूपगठन के अन्य स्रोतों से आए हुए तत्व अपनी संतुलित मात्रा में है, अस्तु उनके कारण भ्रम की कोई स्थिति नहीं है । सभी स्रोतों के योगदान को रामचरितमानस के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करना और पुराणों के योगदान के कारण उत्पन्न भ्रमात्मक स्थिति को यथासम्भव दूर कर मानस के वास्तविक काव्य रूप का बोध कराना यहाँ अत्यवाश्यक प्रतीत होता है । यहाँ हम उसी आवश्यकता की पूर्ति की चेष्टा करते हैं --

१. पुराण - महाकाव्य के स्वरूप-गठन में पुराण की ये विधाएं और अंश गृहीत हुए हैं - आशी: नमस्कार, वस्तुनिर्देश नगर, समुद्र तथा पहाड़ के वर्णन । सर्ग का विभाजन चतुर उदात्त नायक, उसके वंश, शौर्य तथा विद्या विवेक का वर्णन [१] आशी: नमस्कार और वस्तुनिर्देश पुराणों में प्रकट रूप से मिल जाते हैं । अस्तु इस सम्बन्ध में अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं । प्रलय और सृष्टि का वर्णन भी पुराणों में प्रधान रूप से होता था और प्रलयोपरान्त सृष्टि वर्णन में समुद्र, पहाड़ तथा मानव सभ्यता के उच्चतम प्रतीक नगरों का वर्णन लोक-मन की हार्दिक जिज्ञासा के अनुसार होता था । महाकाव्यों की सर्ग संख्या भी मूलत: पुराणों की है, इसे हम सर्गबन्धन अभिप्राय की चर्चा करते हुए कह चुके हैं । पुराणों में देवों के चरित के अतिरिक्त राजाओं का चरित भी वर्णित होता था । पुराण के पंचलक्षणों में अन्तिम वंशानुचरित है, इसमें राजवंशानुचरित भी निहित है । आदिपुराण के मुख्यत: दो रूप रहे होंगे- सृष्टि वर्णन, राजचरित वर्णन ।[२] यह राजचरित वर्णन महाकाव्यों में ग्रहण कर लिया गया । काव्य-कला की सहायता से काव्यात्मक ढंग से जो राजचरित लिखा गया, वही विद्या कालान्तर में महाकाव्य हो गई । क्षत्रियवंशी, धीरोदात्त नायक, तथा उसके मृगया, विहार,

---

१ डॉ० जयशंकर त्रिपाठी, आचार्य दण्डी और संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, पृ० १६२
२. वही, पृ० १६४

युद्ध, विलासादि की क्रियाओं का मूल पुराणों के सभी राजवंशानुचरित में निहित था ।

पुराण-पाठ की एक विशिष्ट आरम्भिक विधि थी, क्योंकि उसमें धर्मकथाएं होती थीं । पुराण-पाठ के पूर्व देवता को प्रणाम, शुभकामना, वन्दना तथा जो कथा सुनायी जाने को होती थी उसका विषय-निर्देश (वस्तु-निर्देश) इन तीन विधियों का अनुसरण होता था । पुराण-पाठ की यही आरम्भिक विधि महाकाव्य के भी स्वरूपविधान में एक अंग बन गई । पुराण और महाकाव्य का स्वरूप भेद होने पर भी यह पद्धति बहुत दिन तक दोनों में उभयनिष्ट रही और बाद में जब स्पष्ट विभेद हो गया तो संस्कृत के ही महाकवियों ने इसे धीरे-धीरे इसका पालन करना बन्द कर दिया । फिर भी जो प्रथा जड़ जमा चुकी होती है उसे समाप्त होने में काफी अवधि अपेक्षित होती है । आधुनिक युग में अब जाकर वह पद्धति लगभग बन्द हो गई । संस्कृत कवियों में सर्वप्रथम भारवि ने इस माङ्गलिक प्रणाली का त्याग किया था फिर भी उन्होंने 'श्री' शब्द से काव्यारम्भ कर क्रान्तिकारी पथ का अनुगमन न कर एक समन्वय ही किया था । ऐसा ही माघ ने अपने महाकाव्य 'शिशुपाल बध' में किया । कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में इस प्रकार के समन्वय की भी उपेक्षा की और सीधे हिमालय-वर्णन से रचना का आरम्भ किया ।

राजाओं के अतिरिक्त महाकाव्य में जहाँ कहीं देवता नायक होते हैं, वहाँ भी पुराण से आगत प्रभाव है क्योंकि देवचरित तो पुराणों में राजचरित की भी अपेक्षा-प्रधान था । ग्रन्थ के अन्त में फलश्रुति का आचार भी पुराणों से ही प्रेरित है । इस प्रकार पुराणों से अनेक तत्व महाकाव्यों में आए । यह मानना उचित ही है कि इन तत्वों के योग से एक काव्य रूप तैयार हुआ, किन्तु अब उस काव्य रूप को पुराण या पुराण-काव्य कहना उचित नहीं है, क्योंकि उनमें अन्य तत्व भी समाविष्ट हैं । विभिन्न तत्त्वों के योग से बना हुआ यौगिक तत्व नहीं रह जाता अपितु उसकी पृथक सत्ता हो जाती है , अस्तु महाकाव्य को और कुछ कहना असंगत है ।

रामचरितमानस पुराण-काव्य नहीं है -- इसी प्रसंग में मानस को 'पुराण-काव्य' कहने का औचित्य भी विचारणीय है । यह निर्णय डॉ० श्रीकृष्णलाल का है । अपने निर्णय के उन्होंने निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किए हैं --

१. रामचरित मानस का नायक मनुष्य और देवता नहीं बल्कि ईश्वर है ।
२. इसमें पुराण काव्य की विशेषताएं विद्यमान हैं
   क. मानस में पूर्वकाल की परम्परा निर्दिष्ट है
   ख. इसमें ऐसे अवान्तर प्रसंग बहुत हैं जिनका रामकथा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है ।
   ग. इसमें धार्मिक विचारों का प्राधान्य है ।
   घ. इसकी शैली पौराणिक है
   ड०. इसमें आगम निगम की दुहाई बहुत दी गई है, स्वर्ग, नरक आदि का बहुत उल्लेख है तथा पुष्प-वृष्टि एवं दुन्दुभि-वादन आदि पौराणिक रूढ़ियों की भरमार है
   च. फलश्रुति की योजना है ।
३. इसमें रस की अपेक्षा रसाभास अधिक है ।
४. इसमें भक्तिभावना कवित्वभावना पर सवार हो गई है ।

इन तर्कों में सभी सत्य नहीं है, जो सत्य है भी वे इतने महनीय ग्रन्थ के काव्य रूप-विनिश्चय के लिए सबल नहीं प्रतीत होते । रामचरित मानस के नायक राम का नरत्व सन्देह रहित है, उनका ईश्वरत्व एक अतिरिक्त बात है । उससे उनका नायक गुण क्षीण नहीं होता । वे मनुष्य की तरह ही सुख में सुखी और दुख में दुखी होते हैं । ईश्वर महाकाव्य का नायक न बन सके तो न सही किन्तु जब वह मनुष्य रूप में अवतरित हुआ है तो उसे काव्य में वह स्थान मिलना संगत है जो मनुष्य को मिलता है । अतएव यदि मनुष्य महाकाव्य का नायक हो सकता है तो राम को भी होना चाहिए ।

डॉ० लाल का दूसरा तर्क निश्चय ही सत्य है । यह बात स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मानस में पुराण अथवा पुराण-काव्य की कुछ विशेषताएं विद्यमान हैं किन्तु उनके आधार पर उन्होंने जो निष्कर्ष निकाल लिया उसमें किंचित् असावधानी हो गई है । पुराण की सम्पूर्ण विशेषताएं मानस में विद्यमान नहीं हैं, सृष्टि का वर्णन पुराण की सर्वप्रमुख विशेषता है जो मानस में नहीं है । दूसरी बात यह कि पुराण की कुछ विशेषताएं यदि महाकाव्य में हैं तो पुराण कहना युक्तियुक्त नहीं है । मनुष्य यदि पक्षी की बोली बोल ले तो उसे पक्षी कहना क्या उचित होगा ? पुराण की विशेषताएं महाकाव्य मात्र में हैं मानस में ही नहीं, यह हम इसके पूर्व सिद्ध कर

चुके हैं । महाकाव्य के स्वरूप-गठन में पुराणों का बहुत बड़ा हाथ रहा है उस दृष्टि से देखने पर तो पौराणिकता किसी भी महाकाव्य में मिल सकती है, विशेषत: मध्यकाल के महाकाव्यों तक । मानस में युग-भावना के कारण यह तत्त्व कुछ अधिक मात्रा में ज़रूर पाया जाता है । इसका कारण जनमानस की आस्तिक भावना और भक्तिकालीन काव्य की विशेष प्रवृत्ति थी । पूर्व काल की परम्परा और अवान्तर प्रसंग तो संस्कृत के भी अनेक महाकाव्यों में पाई जाती है फिर जिन प्रसंगों को डॉ० लाल ने अवान्तर एवं मुख्यकथा से असम्बद्ध बताया है वे वास्तव में वैसे नहीं है प्रत्येक प्रसंग की योजना में कवि का कोई न कोई प्रयोजन निहित है । मानस की प्रस्तावना में रामजन्म की कारण-कथाएं व्यर्थ में योजित नहीं हैं । महान घटना का कारण भी महान होता है । इसलिए वह औचित्य रहित नहीं । मानस की रामकथा के चारवक्ता और चार श्रोताओं को तब अनावश्यक कहा जा सकता था जब रामकथा को सरोवर का मनोरम रूपक न दिया गया होता । इस भव्य सरोवर के न होने से मानस के शिल्प-विधान में कितनी न्यूनता आ जाती इसका आभास हम उसे अलग करके प्राप्त कर सकते हैं । चारों वक्ता-श्रोता सरोवर के चार घाट हैं उनके बिना सरोवर सर्वांङ्गपूर्ण न होता । मानस की शैली को पौराणिक कहने के स्थान पर यह कहना ठीक है कि मानस की काव्यशैली पर पौराणिक शैली का प्रभाव है । आगम निगम की दुहाई इसलिए है कि उनका कथ्य निगमागम सम्मत है । स्वर्गनरक हिन्दू संस्कृति की विचार धारा का परिचायक है, इसका प्रयोग इतनी बड़ी बात नहीं है कि वह काव्य रूप पर प्रभाव डाल सके । पुष्पवृष्टि एवं दुन्दुभिवादन आदि पौराणिक रूढ़ियाँ काव्य में परम्परा से अपनायी गई हैं, साथ ही काव्य में इनका विनियोग रचनात्मक दृष्टि से होता है । मानस में भी ऐसा ही हुआ है जिसकी वस्तृत चर्चा हम तीसरे अध्याय में कर चुके हैं । मानस में रस की अपेक्षा रसाभास अधिक मानना भक्तिरस के अस्तित्व को स्वीकार न करने के कारण है । मानस का अंगीरस भक्तिरस है, सभी रसों का अन्तर्भाव भक्ति रस में ही होता है जो इसकी वास्तविकता से अनभिज्ञ या असहमत हैं, उन्हें यह स्थिति रसाभास ही मालूम पड़ती है । भक्तिरस की प्रतिष्ठा और गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों ने विधिवत् कर दी है और वैष्णव भक्ति-काव्य ने उसे रसत्व की चरम सीमा तक पहुंचा दिया है, अस्तु अब मानस में रसाभास का आधिक्य मानने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए । भक्तिभावना का कवित्वभावना से कोई विरोध नहीं है । भक्ति भी

काव्य का विषय बन सकती है । भक्त कवियों ने इसे सिद्ध करके दिखा दिया है
मानस में भक्ति भावना की अधिकता युगीन साहित्य-चेतना के कारण है । कोई
भी भाव जो हृदय में जन्म लेता है, काव्य-भावना की सीमा से बाहर नहीं है ।

~~अपने~~ इन सब मन्तव्यों के आधार पर हमें यह मानने में किंचित् भी संकोच
नहीं है कि रामचरितमानस पुराण अथवा पुराण काव्य नहीं है । पुराणों के कु
तत्व,सामग्री और विशेषताओं को मानस में पाकर हमें उसके यौगिक तथा स्वतन्त्र
काव्यस्वरूप की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । मानस को पुराण मानना साहित्य
नुशीलन के क्षेत्र में नितान्त उपहास का विषय बन जायगा । उसे पुराण-काव्य
कहने में भी उसके काव्यत्व के प्रति अस्वीकृति और महाकाव्यत्व के प्रति विरोध क
ही भाव है,इसलिए डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने उसे पुराण-काव्य कहे जाने का भी वि
किया है[1] तथा पौराणिक महाकाव्य कहा है ।[2]

२. इतिहास अथवा इतिहास जैसा इतर वाङ्मय -- यह भी महाकाव्य के कथानक
स्रोत होता है । लक्षणों में स्पष्ट किया जा चुका है कि महाकाव्य का कथानक
हास अथवा पुराणों में प्रसिद्ध घटना पर आधारित होता है । राजवंशानुचरित भ
इतिहास में मिलता है । प्राचीन वाङ्मय में पुराण और इतिहास का कोई स्पष
भेदन था । पुराण की ही नई विधा को इतिहास भी कहा गया ।[3] प्राचीन वा
में दोनों की समन्वित संज्ञा 'पुराणेतिहास' का व्यवहार चलता था ।

रामचरितमानस की कथा का स्रोत पुराणेतिहास है । उसमें पुराणेतर ग्र
भी कथासूत्र है जिसे इतर वाङ्मय की वस्तु कह सकते हैं ।

---

१. जो विद्वान उसे पुराण-काव्य कहते हैं उनका अभिप्राय यह बताना नहीं है कि
मानस पौराणिक शैली का महाकाव्य है, क्योंकि वे तो स्पष्ट कहते हैं कि व
महाकाव्य नहीं बल्कि पुराण है,उसमें काव्यात्मकता भी है अत: पुराण-काव्य
कहा जा सकता है । -हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास,पृ० ४८३
२. द्रष्टव्य , डॉ० शम्भुनाथ सिंह लिखित हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास' शीर्
ग्रन्थ का आठवां अध्याय ।
३. पुराणप्रविभेद : एवेतिहास:
राजशेखर -काव्यमीमांसा (अध्याय २) पृ० १५

३. धर्मशास्त्र, स्मृति - महाकाव्य में चतुर्वर्गफल प्राप्ति का आगम धर्मशास्त्र और स्मृतियों से हुआ । पुत्रजन्म, विवाह, राज्याभिषेक, अन्त्येष्टि आदि प्रसंगों में महाकवि जिन विधि-विधानों के अनुरूप वर्णन करते हैं, उनके स्रोत धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थ हैं । यज्ञ और तपस्या आदि प्रसंग भी इसी प्रकार के हैं । महाकाव्य की कथा व्यापक होती है उसमें नायक का सम्पूर्ण जीवन चरित आने से ऐसे प्रसंग अनिवार्य रूप से आते ही हैं । रामचरित मानस में ऐसे प्रसंग पर्याप्त मात्रा में हैं जिनके वर्णन में प्रकारान्तर से ये स्रोत ग्रन्थ सहायक हुए हैं ।

४. राजनीति, युद्धविद्या - राजचरित होने से महाकाव्य में राजनीति से सम्बद्ध बातों की आवश्यकता पड़ती है । रामचरितमानस में ऐसे कथन छिटपुट पाए जाते हैं यथा -

नाथ बैर कीजिय ताही सों । बुधि बल सकिय जीति जाही सों ।।

रा० । ६।६

महाकाव्य में युद्ध भी अवश्य होता है और कवि को युद्धविद्या विषयक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है । वीरगाथा काल के कवि स्वयं योद्धा होते थे अस्तु उनके महाकाव्यों में युद्ध के प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक जीवन्त हैं । भक्तिकाल के प्रबन्धकार यद्यपि इससे दूर रहे हैं तथापि युद्ध के वर्णनों से युद्धविद्या की कुछ न कुछ जानकारी देने में सफल रहे हैं । रामचरितमानस में अरण्यकाण्ड के-धर्म से लेकर लंकाकाण्ड तक युद्ध ही युद्ध वर्णित है । लंकाकाण्ड के धर्मरथ रूपक में युद्धतन्त्र की कुछ मार्मिक बातों का पता चलता है ।

५. कामशास्त्र - कामशास्त्र ने महाकाव्य के वर्णनविस्तार में बहुत योगदान किया है । ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यानक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, पानगोष्ठी, सुरत-विलास वियोग-वर्णन तथा चतुर उदात्त नायक एवं विवाह भी काम परिचर्या के अंग हैं ।[१] तुलसी ने मानस में इस स्रोत से जो सामग्री ली है, वह बहुत ही स्वल्प और संतुलित है । काम के प्रभावविस्तार और तपोभंग के प्रयास, पुष्पवाटिका में रामसीता की मनोदशा, वियोगी राम और वियोगिनी सीता की मनोदशा के अंकन में कामशास्त्र की बातों का आधार कवि ने किया है ।

---

१. डॉ० जयशंकर त्रिपाठी, आचार्य दण्डी एवं संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन, पृ० २११

६. नाट्यशास्त्र – काव्य की रस-भावना का [illegible] सर्व प्रथम नाट्यशास्त्र में ही हुआ । कथावस्तु के निबन्धन में प्रयोग में आने वाली महाकाव्य की पंचसंधियां और कार्यावस्थाएं नाटक की ही देन हैं । महाकाव्यकार अपने पात्रों के मध्य संवाद-योजना करने में भी नाटक का शिल्प ग्रहण करते हैं ।

नाट्यशास्त्र की घनीभूत विशेषताओं से युक्त होने के कारण ही राम-चरितमानस पर आधारित राम लीलाएं लोकानुरंजन में नाटकों से भी सक्षम सिद्ध हुई हैं । राम चरितमानस पर रामलीला का नाट्यकर्म इतनी सुगमता से सम्पन्न हो जाता है जैसा किसी अभिनेय नाटक पर । राजबहादुर लमगोड़ा ने इसी कारण इसे नाटकीय महाकाव्य कहा है ।[१]

७. काव्यशास्त्र - महाकाव्य की रूपविधा तो काव्यशास्त्र से ही नियन्त्रित होती है । रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदितत्त्व काव्यशास्त्र के हैं । महाकाव्य में आरम्भ में आनेवाला वह अभिप्राय जिसमें कविजन काव्य के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देते थे, काव्यशास्त्र से ही प्रेरित होता था । तुलसी ने भी मानस के आरम्भ में इस प्रकार का कवि-वक्तव्य दिया है जिससे उनके काव्य सम्बन्धी दृष्टि-कोण पर प्रकाश पड़ता है । महाकाव्य को काव्यशास्त्र की सर्व प्रमुख देन है अलंकार जो काव्यविधा का प्रमुख शोभाविधायक और अनिबार्य अंग है ।

८. छन्द:शास्त्र -- छन्द के योग से ही रचना पद्यमय होकर महाकाव्य कही जाती है । विविध छन्द प्रयोग, सर्गान्त में छन्द परिवर्तन आदि बातें महाकाव्य में छन्दशास्त्र ही पूर्ण करता है । मानसकार ने यद्यपि छन्दों का प्रदर्शन बिल्कुल नहीं किया है और सम्पूर्ण काव्य की रचना एक ही मुख्य छन्दबन्ध दोहा-चौपाई में की है, फिर स्थान-स्थान पर प्रयुक्त छन्दों का कुल योग १८ है, जिसे छन्द:शास्त्र का ही अवदान मानना चाहिए ।

महाकाव्य के स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोतों और अवदानों का स्पष्टीकरण हो चुका । रामचरितमानस पर भी इसे घटित करके दिखाया गया । आवश्यक है कि

---

१. राजबहादुर लमगोड़ा - विश्वसाहित्य में रामचरित मानस , पृ० १

अब मानस के काव्य-रूप का विनिश्चय भी कर लिया जाय

मानस का काव्य-रूपविनिश्चय : महाकाव्यत्व -

१. रामचरितमानस के महाकाव्यत्व के प्रति कवि स्वयं चेष्टाशील है ।

२. मानस में महाकाव्य के सभी अभिप्रायों का विनियोग किसी न किसी रूप में किया गया है । इसकी गवेषणा पीछे की जा चुकी है ।

३. पुराण, नाट्यशास्त्र आदि महाकाव्य के स्वरूप गठन के विभिन्न स्रोत हैं । इनसे ग्रहण किए गए तत्वों की पुष्कलता के कारण उसे पुराण या पुराण-काव्य कहना तो नितान्त अनुचित है ही नाटकीय महाकाव्य कहना भी संगत नहीं है क्योंकि ऐसा कहना मात्र एक विशेषता की ओर अंगुलिनिर्देश है और यह काव्यरूप की समग्रता का बोधक नहीं है ।

४. रामचरितमानस को मात्र चरित या कथाकाव्य मानना भी अनौचित्य पूर्ण है, क्योंकि यह संज्ञा भी एकांगी है । मानस को चरितकाव्य कहने से कथात्मकता या चरितात्मकता से इतर विशेषताओं की अवहेलना हो जाती है और काव्यरूप की समग्रता का बोध नहीं होता । इस संज्ञा में अन्य स्रोतों जैसे काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलता ।

५. रामचरितमानस को विकसनशील महाकाव्य कहना भी अनुचित है । विकसनशील महाकाव्य तो लिखित न होकर लोकोन्मुख में जीवित रहते हैं ? और इस प्रकार उनमें अनेक रचयिताओं के रचित अंश मिल जाते हैं जैसे आल्हखण्ड । रामचरितमानस की स्थिति इससे एकदम भिन्न है ।

६. महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों में से अधिकांश का पालन मानस में हुआ है इक्के-दुक्के लक्षणों के न होने से उसके महाकाव्यत्व पर प्रश्नचिह्न लगाना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से हिन्दी के ही नहीं अपितु संस्कृत के भी अनेक विश्वविश्रुत काव्य महाकाव्य की सीमा के बाहर हो जाएंगे ।

---

७. महाकाव्यत्व की परख करते समय मात्र कुछ निश्चित लक्षणों और अभिप्रायों को ही सम्पूर्ण कसौटी मान लेना इस काव्यरूप की व्यापक प्रभविष्णुता के साथ अन्याय होगा । इसलिए लक्षणों के अतिरिक्त रचना के समग्र प्रभाव की महनीयता की ओर भी ध्यान देना चाहिए । मानस का महाकाव्यत्व इस दृष्टि से निर्विवाद है ।

८. नायक,कथानक,चरित्र और शैली की महानता एवं गरिमा ~~भव्यता~~ तथा रस और अलंकार आदि की औचित्य पूर्ण स्थिति ही महाकाव्य की वास्तविककसौटी है, जो सभी युगों एवं प्रवृत्तियों के महाकाव्यों पर समान रूप से लागू की जा सकती है । रामचरितमास स का काव्यत्व इन सभी दृष्टियों से महान है, इसलिए उसे महाकाव्य मानना ही उचित है ।

६. पौराणिकता,चरितात्मकता एवं कथात्मकता, नाटकीयता आदि मानस के महाकाव्यत्व की विशेषताएं हैं । इनके आधार पर मानस को पौराणिक महाकाव्य, कथात्मक महाकाव्य, नाटकीय महाकाव्य आदि कह देना अशुद्ध है ,रसमयता, अलंकृति और छन्द मयता भी महाकाव्य की ऐसी ही दूसरी विशेषताएं होती है, तो क्या इस आकार पर महाकाव्य को रसात्मक महाकाव्य, अलंकारात्मक महाकाव्य और छन्दात्मक महाकाव्य कहना उचित है ? वास्तव में ये सभी संज्ञाविधान अशुद्ध और एकांगी हैं । 'महाकाव्य' कहने से ही सभी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व होता है और काव्य रूप की समग्रता का बोध होता है । इसलिए उसे 'महाकाव्य' ही कहना चाहिए ।

रामचरितमानस का शास्त्रीय काव्यरूप क्या है इसका एकमात्र उत्तर है — 'महाकाव्य' ।

२. खण्डकाव्य

संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में खण्डकाव्य की चर्चा बहुत कम मिलती है । साहित्य दर्पणकार ने ही खण्डकाव्य का लक्षणोल्लेख मात्र एक पंक्ति में यों कर दिया है —

'खण्डकाव्यं भवेतस्यैकदेशानुसारि च ।[१]

---

१. साहित्य दर्पण-सप्तमपरिच्छेद ।३२६

अर्थात् खण्डकाव्य में एक देशीयता होनी चाहिए । अन्य किसी लक्षण का नाम विश्वनाथ ने नहीं लिया । ऐसा प्रतीत होता है प्रबन्धकाव्य का दूसरा विभाग माना जाने के कारण खण्डकाव्य में भी प्रबन्धात्मकता के लक्षणों की सन्निहिति समझ ली गई थी । इसी कारण खण्ड-काव्य की ऐसी बातें जो विशाल प्रबन्ध (महाकाव्य) में भी होती थीं, उन्हें अथवा जो महाकाव्य में ही वृहद और अनिवार्य रूप से होती थी खण्डकाव्य के लक्षण-निबन्धन में ग्रहण नहीं की गई जैसे मंगलाचरण कवित्व सम्बन्धी निवेदन वस्तु निर्देश और फलश्रुति आदि । इनका खण्डकाव्य में होना सामान्य समझ के ऊपर निर्भर रखा गया । मात्र एक ही लक्षण का उल्लेख कविराज विश्वनाथ ने किया जो प्रमुख है और विशाल प्रबन्ध से उसका विभेद व्यक्त करता है वह है एक देशीयता । वैसे यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो महाकाव्य और खण्डकाव्य के कई मार्मिक भेद प्रकट होंगे किन्तु उनमें प्रमुख और स्थूल भेद एकदेशीयता का ही है ।

आगे चलकर खण्डकाव्य के जो लक्षण आलोचकों ने अध्ययन की सुविधा के लिए निर्धारित किए वे साहित्य में पाए जाने वाले खण्डकाव्यों को दृष्टि में रख कर किए हैं । आलंकारिकों ने महाकाव्य को लक्षणों से जितना जकड़ दिया था खण्डकाव्य को उतना ही स्वतन्त्र रखा । प्रारम्भ में मांगलिक वचन, कवित्व सम्बन्धी निवेदन, वस्तुनिर्देश आदि मध्यकालीन खण्डकाव्यों में अधिकतर पाए जरूर जाते हैं पर उनके अपवाद भी कम नहीं है । उस काल के पूर्व संस्कृत में भी उनके अपवाद मिलते हैं । कालिदास का सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य 'मेघदूत' इन सभी लक्षणों और रूढ़ियों से मुक्त है ।

कहने का तात्पर्य यह कि खण्डकाव्य-रचना के अभिप्रायों का निर्धारण करने के लिए शास्त्रीय लक्षणों का वह आधार प्राप्त नहीं है जो महाकाव्य के अभिप्रायों का निर्धारण करते समय ग्रहण किया गया । इसलिए आवश्यक है कि प्रबन्धकाव्यों के उन उभयनिष्ठ तत्वों को तथा जिस कवि के खण्डकाव्यों का अध्ययन अपेक्षित है, उसके समसामयिक अथवा निकट अतीत में प्रणीत खण्डकाव्यों में प्राय: पाये जाने वाले तत्वों को दृष्टि में रखकर ही हम खण्डकाव्य के अभिप्राय निश्चित करें ।

खण्डकाव्य के अभिप्राय एवं तुलसी के खण्डकाव्यों में उनकी योजना -

हमें तुलसी के खण्डकाव्यों का अध्ययन अभीष्ट है, वे भक्तिकाल के प्रस्तुत कवि हैं । भक्तिकाल के खण्डकाव्यों में रुक्मिणीमंगल पार्वतीमंगल, जानकी मंगल और रूपमंजरी आदि प्रमुख हैं इनमें मध्य की दोनों रचनाएं स्वयं तुलसी की ही हैं । इसकाल की ऐसी रचनाओं के मुख्य अभिप्राय निम्नलिखित हैं -

१. मंगलाचरण , २. काव्यसम्बन्धी निवेदन , ३. वस्तुनिर्देश , ४. कालनिर्देश, ५. एकदेशीयता, ६. फलश्रुति ।

तुलसी के खण्डकाव्यों में उन अभिप्रायों का सर्वतोभावेन अनुसरण किया गया है । उनके खण्डकाव्यों की संख्या तीन है - १ पार्वतीमंगल, २. जानकी-मंगल, ३. रामलला नहछू इन तीनों कृतियों में उक्त अभिप्रायों का पर्यवेक्षण इस प्रकार है -

१. मंगलाचरण - यह प्रबन्धकाव्य का अभिप्राय है जो महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों में उभयनिष्ठ है । तुलसी ने अपने तीनों खण्डकाव्यों में इसकी योजना की है । पार्वती मंगल में मंगलाचरण प्रथम छन्द में इस प्रकार किया गया है -

बिनइ गुरुहिं, गुन गनहिं गिरिहि गन नाथहि ।
हृदय आनि सियराम धरे धनुभाथहि ।। पा०मं० । १

जानकी मंगल के प्रथम छंद में गुरु ,गणपति, गिरिजापति, गौरी गिरापति, शारदा, शेष, सुकवि, श्रुति और सरलमति संतों की वन्दना की गई है ।[१] दो छोटी पंक्तियों में इतने बन्दनीयों की वन्दना खण्डकाव्य की लघुता को स्वतः व्यक्त करती है । महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों में मंगलाचरण का अभिप्राय आचरित है, पर उनमें परस्पर आकार का सानुपातिक भेद है । रामचरितमानस में मंगलाचरण और नमस्क्रिया कई पृष्ठ तक चलती है जबकि इन खण्डकाव्यों में वह एक या दो छंदों में ही समाप्त हो जाती है । रामलला नहछू में भी इस अभिप्राय की योजना हुई है ।[२]

---

१. गुरु गनपति गरिजापति गौरि गिरापति ।
सारदसेष सुकवि सुचि संत सरल मति ।।
हाथ जोरि करि बिनय सबहि सिर नावौं ।। जा०मं० १।-२

२. आदि सारदा गनपति गौरिमनाइय हो । रा०न० ।१

२. कवित्व सम्बन्धी निवेदन - जैसे प्रबन्ध रामचरित मानस ~~नहछू~~ में कवित्वविषयक अज्ञता व्यक्त की गई है वैसे पार्वती मंगल में भी --

कबित रीति नहि जानउं कबि न कहावउं ।

संकर-चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउं । पा०मं० । ३

रामलला नहछू और जानकी-मंगल में ऐसा कथन नहीं है ।

३. वस्तु-निर्देश - तुलसी के तीनों खण्डकाव्यों में वस्तुनिर्देशात्मक कथन प्राप्त होते हैं । रामलला नहछू में तुलसी कहते हैं -

रामलला कर नहछू गाइ सुनाइय हो । रा०न० ।[१]

पार्वतीमंगल के आरम्भ में तुलसी कहते हैं कि मैं पापों का नाश करने वाले पुनीत और मुनिजनों के हृदयों को अच्छा लगने वाले सुहावने शंकर-पार्वती-विवाह का गायन (वर्णन) कर रहा हूं ।[२] जानकी मंगल में कवि कहता है कि मैं सीता-राम-विवाह का यथामति वर्णन कर रहा हूं ।[३] ये तीनों ही वस्तुनिर्देशात्मक कथन हैं । एक या दो पंक्तियों में दिए गए वस्तु निर्देश से खण्डकाव्य की विषयगत संकीर्णता भी स्पष्ट हो जाती है । जहां बड़े बड़े महाकाव्यों में वस्तुनिर्देश में पूरा सर्ग समाप्त हो जाता था, वहां खण्डकाव्य के वर्णनीय विषय की सूचना एक दो पंक्ति में दे दी गई । खण्ड-काव्य का विषय सीमित होने से यह औचित्यपूर्ण ही है । दोनों मंगलकाव्यों में विवाह वर्णन और नहछू में नहछू वर्णन ही तुलसी को अभीष्ट है अन्य कोई वृत्तान्त या अवान्तर कथा को खण्डकाव्य में स्थान नहीं मिलता ।

४. कालनिर्देश - इस अभिप्राय का पालन कुछ ही काव्यों में होता था । तुलसी ने मात्र पार्वती-मंगल में कालनिर्देश किया है -

---

१. आदि सारदा गनपति गौरिमनाइय हो । रा०न० । १

२. गांवउं गौरि गिरीस बिबाह सुहावन ।
पाप नसावन पावन मुनिमन-भावन ।। पा०मं०।२

३. सिय रघुबीर बिबाहु जथामति गावौं । जा०मं०।२

जय संवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु ।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु ।। पा०मं० ।५

अर्थात् पार्वती-मंगल की रचना 'जय संवत्' में फागुन सुदी ५ गुरुवार अश्विनी-नक्षत्र में हुई । महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० सुधाकर द्विवेदी के अनुसार जय संवत् १६४३ विक्रमी संवत् में पड़ता है । इस जय संवत् के बारे में पहले कुछ वैमत्य चल रहा था । कुछ लोग इसे संवत् १६४२ मानते हैं किन्तु अब अधिकांश विद्वानों ने इसे संवत् १६४३ मान लिया है । रामललानहछू और जानकीमंगल में रचनाकाल का निर्देश नहीं किया गया है । राम ललानहछू बहुत ही लघु कृति है, इसके बारे में यह आशंका की जा सकती है कि कदाचित् इसे खण्डकाव्य का स्वरूप देना तुलसी को अभीष्ट न रहा हो, इसलिए इसमें इस अभिप्राय की योजना नहीं हुई । प्रश्न उठता है कि जानकी-मंगल में कालनिर्देश क्यों नहीं हुआ, उसके उत्तर में श्री सद्गुरुशरण अवस्थी का यह विचार संगत प्रतीत होता है -"पार्वतीमंगल के बाद ही जानकीमंगल रचा गया है, जानकी मंगल में रचनाकाल की चर्चा कदाचित् इसी लिए नहीं है कि वह पार्वती मंगल के बाद ही बनाया गया है और पार्वतीमंगल में रचनाकाल दिया गया है ।"[१]

५. एकदेशीयता - एकदेशीयता ही खण्डकाव्य की सर्वप्रमुख शर्त है । हम पहले ही कह चुके हैं कि खण्डकाव्य का लक्षण बताने वाले संस्कृत काव्य में विश्वनाथ कविराज एकमात्र शास्त्रकार हैं और उन्होंने खण्डकाव्य के लिए मात्र एक ही लक्षण निर्धारित किया है एक-देशीयता ।[२] इस अभिप्राय का पालन यदि खण्डकाव्य में न हो तो वह खण्डकाव्य न होकर कुछ और हो जायगा । एकदेशीयता का अर्थबोध यहाँ किंचित् व्यापक रूप से करना होगा । इसका तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं कि खण्डकाव्य की घटना में स्थान का एकत्व होना चाहिए, अपितु यह एकत्व अन्य दृष्टियों से भी अनिवार्य है जैसे विषय, काल, शैली आदि । एकत्वमहाकाव्य में पाए जाने वाले बहुत्व का विरोधी तत्व है जो खण्डकाव्य के लिए अन्य आवश्यक गुणों की उद्भावना करता है ।

---

1. सद्गुरुशरण अवस्थी, तुलसी के चारदल, पृ० १:४
२. खण्डकाव्य भवेतस्यैदेकदेशानुसारि च ।

तुलसी के तीनों खण्डकाव्य एकदेशीयता की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि के हैं। इसके प्रभाव से तीनों कृतियों में खण्डकाव्य के अनुरूप जो अनिवार्य तत्व स्वत: आ गए हैं उनका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है --

(१) तीनों रचनाओं में एक-एक प्रमुख घटना का वर्णन है। रामललानहछू में नहछू तथा पार्वतीमंगल और जानकीमंगल में क्रमश: शिव-पार्वती और राम-सीता के विवाह का वर्णन है।

२. तीनों घटनाएं एक-एक स्थान पर घटित होती है, नहछू अयोध्या में राम-सीता विवाह मिथिला में तथा शिव-पार्वती विवाह हिमांचल की राजधानी कैलाश में सम्पन्न हुआ है।

(३) तीनों में आद्यन्त एकतानता और प्रवाह की स्थिति पाई जाती है। बड़े प्रबन्धों की तरह उनमें विराम की स्थिति कहीं नहीं आती।

(४) प्रत्येक का भावक्षेत्र आद्यन्त एक सा है। राम का नहछू और विवाह दोनों हर्ष और आनन्द के द्योतक हैं।

(५) शिल्प की दृष्टि से भी तीनों रचनाओं में एकत्वगुण विद्यमान है। तीनों एक ही छन्दबन्ध में रची गई हैं, अस्तु कथ्य की गतिशीलता और लयात्मकता भी इन कृतियों में आरम्भ से अन्त तक एक जैसी है।

(६) सर्गविभाजन भी इन रचनाओं में नहीं हुआ है। डॉ० सियाराम तिवारी ने समग्र खण्डकाव्य के लक्षणों का चिन्तन करते हुए लिखा है कि खण्डकाव्य में सर्गबद्धता अनिवार्य नहीं है।[१] मेरा तो विचार है कि सर्गबद्धता श्रेष्ठ खण्डकाव्य का गुण भी नहीं है। सर्गयोजना से काव्य के बीच-बीच में ठहराव की स्थिति उत्पन्न होती है, जो खण्डकाव्य की एकत्व विषयक गुणवत्ता में व्याघात उत्पन्न करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि एकदेशीयता का गुण तुलसी के तीनों खण्डकाव्यों में प्रचुर मात्रा में है।

फलश्रुति - यह अभिप्राय काव्य में पौराणिक प्रभाव के कारण आया है इसे शास्त्रीय लक्षण नहीं समझना चाहिए, यह विशुद्ध पारम्परिक अभिप्राय है जो ऐसे कथा और चरित प्रधान प्रबन्धों में मिलता है जिनके नायक कवि की भक्तिभावना के आलम्बन होते हैं रामचरितमानस में भी प्रत्येक काण्ड के अन्त में फलश्रुति का कथन हुआ है। इससे प्रकट है कि यह अभिप्राय महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों में उभयनिष्ठ है।

---

१. हिन्दी के मध्यकालीन खण्डकाव्य, पृ० ५१

तुलसी के तीनों खण्डकाव्यों में अन्त में फलश्रुतिमूलक कथन उपलब्ध हैं और पाठक एवं काव्यरसिक को भी इस फल प्राप्ति के लिए प्रेरित किया गया है । प्रकारान्तर से यह प्रेरणा काव्यरसिक द्वारा काव्यपाठ किए जाने के उद्देश्य से है । पार्वतीमंगल की फलश्रुति देखिए --

कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं ।

तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं ।। पा०मं०।१६४

जानकी-मंगल के अन्तिम छन्द में कहा गया है कि जो उपनयन, विवाह आदि अवसरों पर उत्साह पूर्वक सियराम मंगल गाएंगे वे नर-नारी दिनानुदिन कल्याण को प्राप्त करेंगे ।[१] रामलला नहछू के भी अन्तिम छन्द में इसी प्रकार फलश्रुति का विधान हुआ है ।[२] पुराण की प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण यह फलश्रुति एक प्रमुख अभिप्राय बन गयी है ।

खण्डकाव्य के अन्य गुण भी इन तीनों रचनाओं में है जैसे कथा-संगठन , कथा-प्रवाह, कथाविन्यास में क्रम, आरम्भ, विकास, तथा चरम सीमा, प्रासंगिक कथाओं का अभाव लघु आकार में सम्पूर्णता, महाकाव्य की भांति किसी महान सन्देश आदि का न होना , आदि ।

निष्कर्ष यह है कि एक ओर तो तुलसी ने अपने खण्डकाव्यों की रचना करते हुए उस विधा के सूक्ष्म शिल्प विधि को ध्यान में रखा दूसरी ओर वाह्यदृष्टि से उसे सर्वाङ्गीण बनाने के लिए उसमें खण्डकाव्य के अभिप्रायों की योजना भी की । दोनों के सम्बन्ध से उक्त तीन कृतियों के रूप में खण्डकाव्य का जो रूप सामने आया वह वह स्वयं इस विधा में तुलसी की पटुता का प्रमाण है ।

मुक्तक-काव्य --

मुक्तक काव्य रूप की मुक्त विधा का नाम है इसमें प्रबन्ध का जैसा बन्धन नहीं होता । इसी मुक्तता के कारण इस काव्य रूप में अनेक विशेषताएं स्वत: आ जाती हैं जिन्हें मुक्तक का प्रमुख लक्षण मान लिया जाता है। जैसे --

---

१. उपबीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं ।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पावहीं ।। जा० मं० ।२१६

२. रा०न०।२०

१. प्रत्येक मुक्तक अपने आप में पूर्ण होता है ।
२. अपने अर्थ द्योतन में यह स्वत: समर्थ होता है ।
३. इसका अपने आगे पीछे के पद्यों से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता ।

संस्कृत काव्यशास्त्र ग्रन्थों में सर्वप्रथम अग्निपुराण में मुक्तक को परिभाषित किया गया है --

मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षम: सताम्[१]।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन , भामह, हेमचन्द्र और कविराज विश्वनाथ ने मुक्तक के स्वरूप को स्पष्ट किया । आनन्दवर्धन के अनुसार मुक्तक आगे पीछे के पद्यों से असम्बद्ध विषय प्रकटन में स्वत: समर्थ और फिर भी रस चर्वणा में सक्षम होता है ।[२] आचार्य भामह ने इसकी बन्धनहीनता और मुक्तिगुण पर ही जोर देने हेतु इसे अनिबद्ध कहा है ।[३] हेमचन्द्र भी इसे अनिबद्ध काव्य के अन्तर्गत मानते हैं ।[४] विश्वनाथ ने भी मुक्त को मुक्तक स्वीकार करते हुए इसके युग्मक, संदानितक, कलापक और कुलक ये चार विभाग किए हैं ।[५]

हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध और मुक्तक का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए लिखा यदि प्रबन्ध काव्य एक वन-स्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है । उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्णजीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय दृश्य सहसा

----

१. अग्निपुराण,अध्याय ३३ श्लोक ७२
२. मुक्तमन्येनाऽनालिंगितम् । तस्य संज्ञायां कन् । तेन स्वतंत्रतया परिसमाप्त निराकांक्षार्थमपि प्रबन्धं मध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते । पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ।।

आनन्दवर्धन,ध्वन्यालोक ३ उद्योत , पृ० १४३-४४
३. अनिबद्धं पुनर्गाथा श्लोकं मात्रादि तत् पुन: ।
युक्तं वक्र स्वभावावत्या सर्वमेषैतदिष्यते ।। भामह,काव्यालंकार । प्रथमपरिच्छेदे, श्लोक ३०
४. हेमचन्द्रकाव्यानुशासन (अध्याय ८), पृ० ४०८
५. विश्वनाथ कविराज - साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद । ३१४-१५

सामने ला दिया जाता है ।[१] डॉ० रामअवध द्विवेदी ने मुक्तकों की निम्नलिखित विशेषताएं निर्धारित की हैं[२]--

१. लघु आकार और सीमित विस्तार ।

२. स्वतंत्र अनिबद्ध, अनालिंगित अस्तित्व ।

३. रस चर्वणा अर्थात् रसोन्मेष की क्षमता ।

४. यद्यपि परिभाषाओं में उसकी संगीतमयता का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि मुक्तकों के निरीक्षण से यह बात सिद्ध होती है कि उसमें माधुर्य एवं संगीत-तत्व सदैव विद्यमान रहता है कभी मुखर होकर और कभी प्रच्छन्न रूप में ।

तुलसी के मुक्तक-काव्य --पद्यकाव्य के दो ही भेद-शास्त्र ग्रन्थों में निश्चित हैं - प्रबन्ध और मुक्तक । प्रबन्ध (महाकाव्य और खण्डकाव्य) के अन्तर्गत तुलसी की रामचरित मानस, पार्वतीमंगल, जानकी-मंगल, रामलला नहछू इन चार रचनाओं का अध्ययन किया जा चुका है । शेष आठ रचनाएं मुक्तक के ही अन्तर्गत समझनी चाहिए । इनमें से चार रचनाएं ऐसी हैं जिनमें कथा की धारा अन्त:सलिला की भांति धीरे-धीरे चलती रहती हैं ये हैं कवितावली, गीतावली श्रीकृष्णागीतावली और बरवै रामायण । शेष ४ रचनाओं में से तीन एकदम स्फुट रचनाएं हैं --वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा-प्रश्न और दोहावली । विनय-पत्रिका में एक अत्यन्त सूक्ष्म कथातन्तु है अवश्य, पर पूरी रचना में यह एकदम अदृष्ट है, अन्त के दो-तीन पदों में उसका आभास मात्र होता है । रचना के सभी स्तोत्र और पद एकदम स्वतंत्र लगते हैं तथा कवितावली गीतावली ,कृष्णागीतावली और बरवैरामायण की तुलना में यह कथातन्तु नहीं के बराबर है । इसलिए विनयपत्रिका को भी हम स्फुट मुक्तकों के वर्ग में ही रखना उचित समझते हैं ।

इस प्रकार तुलसी की मुक्तक रचनाओं के दो प्रमुख विभाग बन जाते हैं --

१. प्रबन्धाश्रित मुक्तक-काव्य - कवितावली, गीतावली और कृष्णागीतावली तथा बरवै रामायण ।

२. विशुद्ध मुक्तक काव्य - वैराग्य-संदीपनी, रामाज्ञा-प्रश्न, दोहावली और विनय पत्रिका ।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६

२. डॉ० रामअवध द्विवेदी-साहित्यरूप, पृ० २३६

दोनों वर्गों में कथासूत्रता का ही अन्तर प्रमुख है । विशुद्ध मुक्तक-काव्यों के पद्य तो अपने-आप में मुक्त और सम्पूर्ण अर्थ के द्योतक हैं ही, प्रबन्धाश्रित मुक्तक रचनाओं के पद्य भी इन गुणों से युक्त हैं । वे मुक्त भी हैं और पूर्ण भी, किन्तु कवि ने उन का विचित्र संकलन करके उसी प्रकार उन्हें मुक्त नहीं रहने दिया जैसे मोती स्वतन्त्र और अपने में पूर्ण होता है फिर भी उसका हार बनाने के लिए उसे सूत्रबद्ध कर दिया जाता है और वे इसी सूत्र के माध्यम से सम्बद्ध हो जाते हैं । यह सूत्र रामकथा है । ऐसी रचनाओं में एक ही विषय या कथानक की परिधि के अन्तर्गत रचे गए मुक्तक होते हैं जबकि विशुद्ध मुक्तक रचनाओं के प्रत्येक मुक्तक का विषय स्वतन्त्र हो सकता है ।

मुक्तक-रचना के अभिप्राय और तुलसी के मुक्तकों में उनका प्रयोग – तुलसी ने जिस युग में अपने मुक्तकों की रचना की उस युग में मुक्तक रचना के अनेक अभिप्राय प्रचलित थे । हमारे अनुशीलन का मुख्य विषय मध्यकालीन काव्य के उन्हीं अभिप्रायों का बोध कराने और तुलसी की मुक्त-रचनाओं में उनके प्रयोगों की खोज करना ही है । इसे आरम्भ करने से पूर्व तीन ध्यातव्य तथ्यों का उल्लेख हम यहीं कर देना चाहते हैं -

१. पहली बात तो यह कि अभिप्रायों के ये प्रयोग अतिप्रचलित परम्परा पर आधारित होते हुए भी एकदम निरपवाद नहीं हैं । तुलसी के ही मुक्तकों में कोई अभिप्राय ऐसा हो सकता है जिसका प्रयोग बहुत अधिक हो और अन्य उन्हीं की किसी दूसरी मुक्तक-रचना में बिल्कुल न हो । प्रत्येक मुक्तक में भी सभी अभिप्रायों की स्थिति नहीं मिलती ।

२. प्रबन्धाश्रित और स्फुट मुक्तक रचनाओं में अभिप्राय-प्रयोग किंचित् भिन्न कोटि का है । कुछ अभिप्राय ऐसे हैं जिनका प्रयोग प्रबन्धाश्रित मुक्तकों में अधिक हुआ है और कुछ अभिप्राय ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग स्फुट मुक्तकों में अधिक है । इसके बावजूद बहुत से अभिप्राय दोनों प्रकार की रचनाओं में ~~उत्तम~~,उभयनिष्ठ हैं, प्रयोग की मात्रा में ये अवश्य न्यूनाधिक हो गए हैं ।

३. ऐसा भी सम्भव है कि मुक्तक-रचना के ये अभिप्राय प्रबन्धों में भी यत्रतत्र मिल जायं किन्तु ये मुख्यरूप से हैं मुक्तक-काव्य के ही । प्रबन्धों में कहीं प्रयोग भले मिल जायं, पर वह प्रयोगबाहुल्य नहीं मिलेगा जो अभिप्राय का अनिवार्य लक्षण है ।

अब हमें नीचे तुलसी की मुक्तक रचनाओं के आधार पर मुक्तक रचना के उन अभिप्रायों का संक्षिप्त पर्यालोचन प्रस्तुत करेंगे जो मध्यकालीन हिन्दी काव्य-रचना में

मुख्य रूप से प्रचलित थे ।

१. कवि की नाम-मुद्रा - यह अभिप्राय आदिकाल और सम्पूर्ण मध्यकाल में लगभग एक हजार वर्षों तक हिन्दी साहित्य में प्रचलित रहा । कवि अपने मुक्तकों में अपना नाम अवश्य डाल दिया करते थे । इसी को कवि की नाम-मुद्रा कहते हैं । प्राय: यह नाम मुद्रा मुक्तक की अन्तिम पंक्ति में होती थी । डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने इसके प्रयोजन का अनुमान लगाते हुए कहा है कि सम्भवत: अपनी रचना को चोरी से बचाने के लिए कवि ऐसा किया करते थे ।[१] रचना के साथ-साथ नाम जुड़ा रहने से यश का विस्तार भी इसका एक कारण हो सकता है । जो भी हो सिद्धों, नाथों ने भी इसका प्रयोग अपनी वाणी में किया । चन्दवरदायी ने प्रबन्ध में भी इसका विस्तृत प्रयोग किया । अन्य कवियों में विद्यापति, अमीरखुसरो, कबीर और अन्य सन्तकवियों ने सूर और अन्य कृष्णभक्त कवियों ने इस अभिप्राय के प्रति बड़ी रुचि दिखाई है । रसिकरामभक्त कवियों ने भी इसका प्रचुर व्यवहार किया है । बिहारी को छोड़कर रीतिकाल के अन्य सभी कवियों ने अत्यन्त प्रयासपूर्वक अपने मुक्तकों में नाममुद्रा लगायी है । आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर भी इस अभिप्राय का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है ।

तुलसी ने अपनी मुक्तक रचनाओं में इसे रुचि पूर्वक अपनाया है । प्रबन्धाश्रित और स्फुट दोनों प्रकार की मुक्तक रचनाओं में इस अभिप्राय की प्रचुर स्थिति विद्यमान है । बरवै जैसे छोटे छन्द से लेकर घनाक्षरी जैसे बड़े छन्द तक में तुलसी ने अपनी नाममुद्रा लगायी है । बरवै रामायण में लंकाकाण्ड तक कवि की नाम-मुद्रा बहुत कम है पर उत्तरकाण्ड का कोई भी बरवै ऐसा नहीं है जिसमें कवि का नाम न आया हो । दोहावली के बहुत थोड़े से दोहे इस नाम-मुद्रा से रहित हैं उनमें से वे प्रमुख हैं जो प्रबन्ध रामचरितमानस से संकलित हैं, वैराग्य संदीपिनी में इस अभिप्राय की प्रभूतमात्रा है, रामाज्ञाप्रश्न में इसकी मात्रा मध्यम है । कवितावली में भी उन मुक्तकों को छोड़कर जिनमें कथ्याधिक्य के कारण सरलता से इसके लिए अवकाश नहीं, मिला, सर्वत्र ही तुलसी की नाममुद्रा लगी हुई है । गीतावली, कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका में इस अभिप्राय का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है ।

नाममुद्रा के रूप में तुलसी, तुलसिहि, तुलसीदास प्रयोग ही अधिक है । नाम-मु[illegible] बहुत ही सहज हुआ है, कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि भावना

---

१. [illegible] सिंह - हिन्दी म[illegible] [illegible]ा स्वरूप-विकास पृ० ३१५

का बहिष्कार करके कवि ने हठपूर्वक अपनी नाम-मुद्रा लगाई हो । बरवै रामायण के आरम्भिक बरवै इस बात के प्रमाण हैं । चूँकि यह नाम-मुद्रा पदे-पदे दिखायी पड़ती है और कदापि प्रच्छन्न नहीं है, इसलिए इसका उदाहरण देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । यह मुक्तक रचनाओं का सर्वप्रमुख अभिप्राय है ।

३. कूट-प्रयोग -- कूट-प्रयोग का आशय है शब्दों का ऐसा टेढ़ा प्रयोग जिनके कारण अर्थव्यंजना अत्यन्त जटिल हो जाय । अर्थबोध के लिए इसमें शब्दार्थ को जितनी वक्रता और गहराई से पकड़ने की अपेक्षा होती है, पाठक जल्दी से सोच भी नहीं पाता इसमें शब्द तो क्लिष्ट नहीं होते पर उनसे जो अर्थ ग्राह्य होता है वह नितान्त सांकेतिक और दूरवर्ती होता है । इसके अर्थबोध में अत्यधिक बुद्धि-व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है । प्राचीनकाल में यह काव्य-कौशल का श्रेष्ठ प्रभाव माना जाता था इससे कवि-चातुरी सिद्ध होती थी । अर्थ काठिन्य युक्त होने से प्रबन्धों के लिए कूट प्रयोग दोषतुल्य था । इसका विशेष प्रचार मुक्तकों में ही था । मुक्तक रचना का यह एक उल्लेखनीय अभिप्राय बन गया था ।

कबीर की उलटवासियाँ इसी प्रकार की क्लिष्टता से भरी हुई होने पर भी विशुद्ध कूट प्रयोग नहीं है । कूट के सर्वप्रसिद्ध प्रयोक्ता कवि सूरदास हैं । डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने शोधप्रबन्ध में पूरे पांच पृष्ठों में सूर-सागर और साहित्य -लहरी के कूट-प्रयोगों पर विस्तार से लिखा है ।[१] ऐसा भी कहा जाता है कि उन्होंने दृष्टिकूट नामक एक स्वतन्त्र रचना भी की थी ।

यद्यपि तुलसी सूर के समकालीन होने से इस प्रकार की विस्तृत कूट-काव्यरचना की ओर प्रेरित हो सकते थे , फिर भी उन्होंने उस दिशा में विशेष रुचि नहीं दिखाई और यत्रतत्र उतना ही कूट प्रयोग किया जिससे उनकी मुक्तक रचनाओं में इस अभिप्राय का प्रतिनिधित्व हो जाता है । बरवै रामायण का यह बरवै कूट-प्रयोग का उत्तम उदाहरण है -

> बेदनाम कहि अंगुरिन खंडि अकाल ।
> पठयो सूपनखाहि लखन के पास ।। ब०रा० ।२८

---

१. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा-सूरदास, पृ० ११४-११६

यहाँ वेद नाम अर्थात श्रुति से कान का और 'अकास' अर्थात नाक से नासिका का आशय ग्राह्य है । कवि ने श्रुति और नाक शब्द के स्थान पर 'बेद' और 'अकास' शब्द का प्रयोग करके शब्दार्थ को और क्लिष्ट बना दिया है । कवितावली और दोहावली में भी एक दो स्थानों पर इसका प्रयोग हुआ है ।[१]

३. सांकेतिकता -- यह अभिप्राय भी कूट-प्रयोग के काफी निकट का है किन्तु इसमें कूट-प्रयोग की अपेक्षा जटिलता कम होती है, शब्दों के संक्षिप्त रूप से पूर्ण शब्द और शब्दार्थ को ग्रहण किया जाता है । उदाहरण के लिए दोहावली का यह दोहा द्रष्टव्य है --

ऊ गुन पू गुन बि अज कृ म आ भ अमूगुनसाथ ।

हरो धरो गाड़ो दियो धन फिरि चढ़इ न हाथ ।। दो० । ४५७

इसमें ऊ गुन से ऊ से प्रारम्भ होने तीन नक्षत्रों (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद) का बोध अभीष्ट है । पू गुन से तीन नक्षत्र (पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद) का, वि से विशाखा, अज से रोहिणी, कृ से कृत्तिका, म से मघा , आ से आर्द्रा भ से भरणी और मू से मूल आदि नक्षत्रों का बोध कराया गया है ।

४. उक्तिवैचित्र्य --इसमें विचित्र प्रकार की उक्तियाँ की जाती हैं,यह अभिप्राय दरबारी कवियों के मुक्तकों में विशेषरूप से स्थान पाता था । यह स्फुट मुक्तक-काव्य की प्रकृति के अधिक अनुरूप है । प्रबन्धाश्रित मुक्तकों में इसका प्रयोग कम होता है । तुलसी के बरवै रामायण में उक्तिवैचित्र्य के कई उदाहरण मिलते हैं, एक उदाहरण प्रस्तुत है --

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ ।

निसि मलीन वह निसिदिन यह बिगसाइ ।। ब०रा०।३

मुक्तकों का यह अभिप्राय अधिकतर अर्थालंकारों पर आश्रित होता है, ये अलंकार चमत्कारमूलक अधिक होते हैं ।

५. सूक्तिमयता - मुक्तकों में सूक्तिमयता का अभिप्राय उक्तिवैचित्र्य से इस अर्थ में भिन्न

---

१. तुलसीतेहि अवसर लावनिता दस,चारि,नौ,तीन इकीस सबै ।

बिचारि फिरी उपमा न पबै ।। क०।१।७

है कि जहाँ उक्तिवैचित्र्य में विचित्रता का तत्व प्रधान होता है वहाँ सूक्तिमयता में उपयोगिता पर बल दिया जाता है । मुक्तकों में सूक्तिमयता का प्रचलन श्रोता समाज को प्रभावित करने के लिए कवि करते थे तुलसी यद्यपि दरबारी वातावरण से दूर थे फिर भी उन्होंने अपने मुक्तकों में एक से एक मार्मिक सूक्तियों की सृष्टि की है । दोहावली में इसकी अधिकता है । उदाहरण स्वरूप एक सोरठा प्रस्तुत है --

फूलइ फरै न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद ।

मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलैं बिरंचि सम ।। दो०।४८४

इसका छिट-पुट प्रसार तुलसी की समस्त मुक्तक रचनाओं में है ।

६. ऊहात्मकता -- मुक्तकों में वियोग व्यंजना के लिए इस अभिप्राय का प्रयोग कवि-समाज में प्रचलित था । रीतिकालीन कवियों ने तो ऐसी-ऐसी ऊहाएं की हैं, जो दोष की सीमा तक पहुंच गई हैं । आचार्य शुक्ल जैसे आदर्शवादी समीक्षकों ने ऊहात्मक प्रयोगों का मजाक उड़ाया है और इसकी कलात्मक उत्कृष्टता का अनादर किया है । वास्तव में यह काव्य में प्रचलित अभिप्राय है और उस रूप में कवियों ने इसके प्रति सम्मान व्यक्त किया है । तुलसी ने भी बरवैरामायण में ऊहात्मक उक्ति की है --

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ ।

कन गुरिया कै मुंदरी कंगन होइ ।। ब०रा० ।३८

यह ऊहा चरम सीमा तक वियोगजन्य कृशता की व्यंजना कराने में सक्षम है । काव्य-रसिक के लिए आवश्यक नहीं कि वह इसमें कही हुई बात को सर्वांश में सत्य ही मान ले, अपेक्षा मात्र इतनी है कि वह वियोगिनी की कृशता का यथासम्भव अधिकाधिक बोध प्राप्त करे ।

७. विषयवैविध्य -- प्रबन्ध की तरह मुक्तक-काव्य का विषय बँधा हुआ या सुनिश्चित परिधि में सीमित न होकर प्रकीर्ण और विविधता पूर्ण होता है । प्रबन्धाश्रित मुक्तकों में अवश्य यह अभिप्राय बाधित हो जाता है, अत: इसे विशुद्ध मुक्तक रचना का ही अभिप्राय मानना चाहिए । प्रत्येक विषय, जो जीवन में काम आने वाला हो मुक्तक काव्य का विषय है । मध्यकालीन काव्य में इस अभिप्राय का इतना वर्चस्व था कि सभी कवि, सुख,दुख,शत्रु,मित्र, सदाचार,दुराचार,कूटनीति, लोकनीति,राजनीति, आयुर्वेद,ज्योतिष, खगोलशास्त्र,शकुनशास्त्र आदि नाना विषयों पर कुछ न कुछ मुक्तक

श्यक समझते थे । तुलसी में भी ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है ।

वैराग्य संदीपिनी में संतस्वभाव,संतमहिमा और शांति पर मुक्तक विधा में दोहे और चौपाइयां लिखी गई हैं । रामाज्ञाप्रश्न, पूरा-का पूरा शकुनविचार के प्रयोजन से लिखा गया है । कहा जाता है कि इसकी रचना तुलसी ने काशी के अपने मित्र पं० गंगाराम ज्योतिषी के लिए की थी । दोहावली में रामप्रेम, शरणागति, वैराग्य,उद्बोधन,रामराज्य और रामकथा की महिमा, जीवदशा, काल की शक्ति, सन्तोष, विषय, लोभ, माया, मोह, अशान्ति, अनन्यभक्ति,चातकी भक्ति, मृग-मरीचिका मित्र, शत्रु, दान, प्रियभाषण, स्वार्थ, कपट, सत्संग,भाग्यशालिता, विवेक, नीचता,दुर्जन स्वभाव,मिथ्याभिमान पाप, आवेश, अविवेक,क्षमा, वैराग्य, वीर-धर्म, दीनरक्षा, नीति, प्रशंसा, समय की महत्ता, भवितव्यता अशुभ-शुभ नक्षत्र, और तिथियां अनिष्टकारी चन्द्रमा, शुभकारी वस्तुएं, मंगलकारी वस्तुएं, यात्रा, शुभ मुहूर्त, वेदमहिमा, परोपकार,नियम की महत्ता,त्याज्य वस्तुएं मन के कंटक, शोच-नीयता, मूढ़ता,ईश्वर विमुखता, भेड़ियाधंसान, सेवक-स्वामी के गुण-दोष, त्रिभुवन के दीप, बड़ों का आश्रय, कपटी दानी की दुर्गति और कुसमय का प्रभाव आदि विविध विषयों पर दोहे और सोरठे लिखे गये हैं जो उनकी रचना में विषय वैविध्य के प्रमाण हैं ।

प्रबन्धाश्रित मुक्तक रचनाओं में इस प्रकार के प्रकीर्ण विषयों का विस्तार नहीं मिलता क्योंकि यह उनके कथासूत्र के लिए व्याघातक होता जबकि मुक्तक-रचना के लिए यह अभिप्राय गुण स्वरूप है । यह कवि की बहुज्ञता का सूचक होता है । रीतिकाल के महान मुक्तक रचनाकार बिहारी अपनी जिस बहुज्ञता के लिए प्रसिद्ध है, उसका आधार यही अभिप्राय है ।

८. अन्तिमपंक्ति में चुटीलापन -- मुक्तक रचना की अंतिम पंक्ति अपनी सुन्दरतम भावतीव्रता और चुटीलेपन के लिए विशेष रूप से प्रभावक समझी जाती है । यह अभि-प्राय साहित्य में दरबारी वातावरण की देन है, राजा और श्रोताओं को चकित करने के लिए कवि मुक्तक की अन्तिम पंक्ति में ऐसी चुटीली उक्तियों की योजना करते थे । उर्दू शायरी का तो यह प्रधान अभिप्राय है । दरबारी पन की प्रवृत्ति न होने से यद्यपि तुलसी ने सर्वत्र इस अभिप्राय के आचरण में विशेष रुचि नहीं दिखाई किन्तु फिर भी बरवै रामायण के कई बरवै छन्दों में, दोहावली के कई दोहों से और कवितावली के कुछ कवित्त सवैयों में यह वैशिष्ट्य देखने को मिल जाता है । उदाहरण के लिए कविता-

वली का यह सवैया प्रस्तुत है --

> जे रजनीचर बीर बिसाल कराल बिलोकत काल न खाए ।
> ते रनरोर कपीस-किसोर बड़े बरजोर परे फंग पाए ।।
> लूम लपेटि अकास निहारि कै हाँकि हठी हनुमान-चलाए ।
> सूखि गे गात चले नभ जात परे भ्रम-बात न भूतल आए ।। क० । ६ । ३७

६. वस्तुगत स्वातन्त्र्य --मुक्तक कथ्य अथवा वस्तु की दृष्टि से एकदम स्वतन्त्र होता है । प्रकीर्ण एवं विशुद्ध मुक्तकों की यह प्रधान गुणवत्ता है । उन मुक्तकों में यह अभिप्राय नहीं होता जिनमें किसी कथा-धारा का हस्तक्षेप रहता है किन्तु उसमें भी कवि उतना स्वच्छन्द होता है कि कथा के जिन अंशों पर चाहे मुक्तक रचना करे अथवा न करे । बरवै रामायण कवितावली, गीतावली और कृष्णगीतावली में तुलसी ने इस स्वच्छन्दता का पूरा-पूरा उपभोग किया । विशुद्ध मुक्तकों अर्थात् दोहावली, वैराग्य-संदीपिनी आदि के मुक्तकों में तो तुलसी वस्तुकथन में एकदम स्वतन्त्र हैं ।

१० लयात्मकता एवं संगीततत्व- मुक्तक प्राय: सुनाने के उद्देश्य से रचे जाते थे । दरबारों में कवि द्वारा सुनाए जाने के अनन्तर सुन्दर मुक्तकों को दरबारी गायक, गायिकाएँ संगीत में प्रस्तुत करती थीं अस्तु पाठ और गायन के प्रचलन के कारण इनमें लयात्मकता और संगीतात्मकता का अभिप्राय प्रारम्भ से ही प्रचलित था । परम्परा में आगे वैसा वातावरण न होते हुए भी मुक्तक - साहित्य में यह अभिप्राय जीवित रहा । जब भक्त कवि स्वयं गायक होने लगे तो पुन: इस अभिप्राय का समादर बढ़ गया ।

तुलसी के मुक्तकों में सर्वत्र यह अभिप्राय आचरित है । सभी प्रकीर्ण मुक्तकों को लयात्मकता के साथ पढ़ा जा सकता है । उनके तीनों गीतिकाव्यों (विनयपत्रिका, गीतावली, कृष्णगीतावली) के पद बड़ी कुशलता के साथ संगीत की रागरागिनियों बांधे गये हैं । इस उद्यम में अभिप्राय की प्रेरणा अवश्य रही होगी । तुलसी के संगीत के जानकार होने की बात तो इन गीतों के संगीततत्त्व के आधार पर ही कही जाती है, किन्तु किसी वाद्ययन्त्र के साथ संगीत में व्यावहारिक रुचि लेने का प्रमाण सम्भवत: अब तक नहीं मिला । फिर राग-रागिनियों में निबद्ध तीन-तीन गीतिकाव्यों की रचना का रहस्य क्या है ? मुझे तो इसका एक ही उत्तर सटीक जान पड़ता है -- अभिप्राय की प्रेरणा ।

इन दस अभिप्रायों के परिपालन की चर्चा हमने तुलसी के मुक्तक-साहित्य के

सन्दर्भ में की, ये मध्यकालीन मुक्तक धारा में सर्वप्रमुख हैं । उस समय प्रत्येक कवि यथा-सम्भव इन अभिप्रायों को अपनी रचनाओं में लाने हेतु प्रयत्नशील रहते थे । तुलसी उस युग के श्रेष्ठ और कुशल कवि एवं कलाकार थे, उनकी रचनाओं में इन अभिप्रायों की उत्कर्षमयी मंजुल योजना कैसे न होती ? उन्हें तो प्रयत्न करने की नहीं मात्र ध्यान देने की आवश्यकताथी और इसमें दो मत नहीं कि उन्होंने इस ओर यथेष्ट ध्यान दिया । उनके मुक्तकों में अन्य जिन गौण अभिप्रायों की अन्विति है उनमें भावकेन्द्रण, तीव्रालंकृति, छन्दवैविध्य, घटना का अभाव, वर्णन का प्राधान्य, नीतिकथन, सुभाषित-योजना, लक्षण गुण-दोष का कथन आदि है । यह निर्विवाद सत्य है कि उनकी मुक्तक रचनाओं में मुक्तकों के अभिप्रायों का यथावकाश अधिक से अधिक पालन हुआ है ।

२. स्वतंत्र विकसित काव्यरूप --

शास्त्रीय काव्यरूप (प्रबन्ध, मुक्तक) के परिप्रेक्ष्य में तुलसी की रचनाओं और उनमें उन काव्यरूपों के अभिप्रायों की प्रयोगधर्मिता की गवेषणा हो चुकी किन्तु काव्य-रूपगत अभिप्राय का अध्ययन मात्र इतने से ही पूर्ण नहीं होता । रचनाओं के काव्य-रूपों की स्थिति शास्त्रीय होने के साथ स्वतंत्रविकसित भी होती है । काव्यपरम्परा में कभी-कभी ऐसी काव्यरूपता उभरती है जो काव्य के शास्त्रीय रूपों (प्रबन्ध और मुक्तक) से भिन्न कोटि की होती है किन्तु जो काव्य-परम्पराओं और उनका प्रति-निधित्व करने वाले काव्यों की शृंखला में अपना स्थान बनाए रहती है, इसे स्वतंत्र - विकसित काव्यरूप कह सकते हैं । इसके उदाहरण हैं - चरितकाव्य, मंगलकाव्य, नीति-काव्य स्तोत्र-काव्य आदि । काव्य के ये शास्त्रीय रूप नहीं हैं और शास्त्रीयता से इनका अन्य किसी अर्थ में विरोध भी नहीं है । एक ही कृति की गणना एक पहलू से शास्त्रीय काव्यरूपों में और दूसरे पहलू से स्वतंत्र विकसित काव्यरूपों में किया जाना सम्भव है । जैसे शास्त्रीय काव्यरूप की दृष्टि से हमने रामचरितमानस को महाकाव्य सिद्ध किया है, दूसरे पहलू से स्वतंत्र विकसित काव्यरूपोंके विचार से हम उसे चरित काव्य भी कह सकते हैं । इनमें भी अभिप्राय की स्थिति विद्यमान मिलती है यथा तुलसी के पूर्व चरित-काव्य लेखन की एक सुदीर्घ काव्य-परम्परा बन चुकी थी, दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि चरित-काव्य रचना एक अभिप्राय बन चुकी थी, तुलसी ने रामचरित मानस का प्रणयन कर उसमें एक और कड़ी जोड़ी और कवि-समाज में प्रचलित अभिप्राय

के अनुकूल आचरण किया । इसी तरह की कई काव्य-परम्पराओं का प्रतिनिधित्व तुलसी-साहित्य में मिलता है । स्वतंत्र विकसित काव्यरूपों का क्षेत्र शास्त्रीय काव्यरूपों की तरह सीमित नहीं होता ।

स्वतंत्र विकसित काव्यरूप और तुलसी साहित्य - स्वतंत्रविकसित काव्यरूप और तुलसी-साहित्य का पर्यालोचन स्वयं अभिप्राय का विवेचन होगा । इसमें अभिप्राय की तरह प्रचलित विशेष काव्य-परम्पराओं और उस शृंखला में आने वाली तुलसी की रचनाओं का उल्लेख किया जायगा । अभिप्राय स्तर तक पहुँची हुई काव्य-परम्पराओं का समावेश तुलसी ने अपने साहित्य में किया, इससे उनके द्वारा किए गए अभिप्राय -पालन की बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है ।

जिन मुख्य काव्य-परम्पराओं की स्थिति तुलसी के काव्य में प्राप्त है उनके अनुसार मुख्यत: ५ विभागों में इन काव्यरूपों का अध्ययन संभव है --

१. चरित-काव्य-परम्परा और तुलसी का चरित-काव्य
२. मंगल-काव्य-परम्परा और तुलसी के मंगल-काव्य
३. स्तोत्र -काव्य-परम्परा और तुलसी का स्तोत्र-काव्य
४. नीति-काव्य-परम्परा और तुलसी का नीति काव्य
५. गीतिकाव्य-परम्परा और तुलसी के गीतिकाव्य

६०

चरित-काव्य-परम्परा और तुलसी का चरित-काव्य -

रामचरितमानस की गणाना चरित काव्यों के अन्तर्गत की जाती है । शास्त्रीय काव्यरूप के अन्तर्गत हमने इसे चरितकाव्य कहे जाने का विरोध किया है, किन्तु स्वतंत्र विकसित काव्यरूपों की दृष्टि से यह तुलसी-साहित्य का सर्वप्रधान काव्य रूप है ।

रामचरितमानस का 'चरित' शब्द इसके चरित काव्यत्व का सूचक है । संस्कृत के 'नैषधीयचरितम्' से ही इस परम्परा का आरम्भ मिलने लगता है जिसका चरम विक जैनियों के प्रबन्ध काव्यों में हुआ है । चरितकाव्य पुराण, कथा, आख्यायिका और शास्त्रीय महाकाव्यों की शैलियों के मिश्रण की प्रवृत्ति की देन है[१]। विमल सूरि

डॉ० शम्भुनाथ सिंह- हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० १६७

का "पउमचरिउ" प्राकृत में रामकथा विषयक आदिग्रन्थ है । अपभ्रंश में इसी नाम से स्वयंभू ने अपना रामकथाविषयक प्रबन्ध लिखा, जिसका पर्याप्त प्रभाव रामचरित मानस पर परिलक्षित होता है । श्री रंजनसूरिदेव ने तुलसीकृत रामचरितमानस और स्वयंभू रचित "पउम चरिउ ~~और~~ को क्रमश: हिन्दी और अपभ्रंश का आदर्श चरित-काव्य माना है ।[1] पउम चरिउ" और रामचरित मानस में लगभग ८०० वर्षों का अन्तर है । चरितकाव्य-परम्परा का प्रमुख स्तम्भ होने के साथ साथ पउमचरिउ का भी विषय रामकथा होने से रामचरितमानस पर उसकी छाया और भी स्पष्ट हो गई है । यह अभिप्राय की और भी सबल स्थिति है ।

प्राकृत-साहित्य के आरम्भ और रामचरितमानस की रचना के पहले की अवधि में अनेक चरित-काव्यों की रचना का इतिहास प्राप्त होता है । इनमें रिट्ठणेमिचरिउ, सुदंसणाचरिउ, कुमारपालचरिउ, विक्रमांकदेवचरिउ, दशकुमारचरित, पुरुषचरित, पाण्डवचरित, हरचरित चिन्तामणि आदि प्रमुख हैं । कुछ पुराण संज्ञक जैसे आदि-पुराण तथा कुछ कथा संज्ञक जैसे भविसयत्तकहा ग्रन्थ भी इन्हीं चरित काव्यों की [में आते हैं जिस-] परम्परा का प्रतिनिधित्व रामचरितमानस में हुआ है । अपभ्रंश के चरित-काव्य की समस्त प्रमुख विशेषताएं रामचरितमानस में पाई जाती हैं जैसे प्रबन्ध काव्य और धर्म-कथा का समन्वय, पौराणिक कथावस्तु, कथानक रूढ़ियां अलौकिक तत्वों का सन्निवेश रोमांचक और साहसिक घटनाओं का अतिरिक, प्रश्नोत्तर रूप में कथा का प्रारम्भ, आदि । चरितकाव्यों ने अपने को कथा कहा है मानसकार ने भी स्थान स्थान पर अपनी रचना को कथा कहा है - करउं कथा भवसरिता तरनी । इतना होते हुए भी रामचरित-मानस में शास्त्रीयता का जो गुण विद्यमान है उसका अभाव अपभ्रंश के सभी चरित-काव्यों में है । मानस को चरित-काव्य कहना आंशिक है । यह उसके काव्यरूप का समुचित उत्तर यद्यपि नहीं है फिर भी चरितकाव्य परम्परा में भी गणनीय होने के लिए मानस में अपेक्षा से अधिक गुण हैं । चरित-काव्य-रचना अभिप्राय बन चुकी थी और तुलसी ने भी मानस के प्रबन्धशिल्प में उसे ग्रहण किया ।

~~१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह-हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १६७~~

1. सम्मेलन पत्रिका (मानस चतुश्शती विशेषांक) शक०सं० १८९६, पृ० ९७

मंगल-काव्य-परम्परा और तुलसी के मंगल-काव्य

तुलसी से पूर्व मंगल-काव्य रचना की परम्परा भी अभिप्राय का रूप धारण कर चुकी थी । भारत की लगभग सभी क्षेत्रीय भाषाओं में १४ वीं विक्रम शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी तक अनेक 'मंगल' संज्ञक काव्यों की रचना का पता चलता है । गोस्वामी तुलसीदास ने जब अपने मंगल-काव्यों की रचना की, उसके पूर्व भी इसकी विशाल परम्परा बन चुकी थी । डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया ने इस काव्य-परम्परा पर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी है, इसका नाम है - मंगल-काव्य परम्परा । इसमें राजस्थानी, गुजराती ,कन्नड़, तेलगु, मराठी और हिन्दी भाषाओं के कई सौ मंगल-काव्यों का उल्लेख किया गया है ।[1] तुलसी-साहित्य के अध्येता डॉ० रामदत्त भारद्वाज[2] तथा डॉ० विमल कुमारजैन[3] ने भी मंगल-काव्य-परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । इन दोनों विद्वानों ने बंगला भाषा में अनेक मंगल-काव्यों के होने की सूचना दी है । डॉ० भारद्वाज के मतानुसार मंगलकाव्य की परिपाटी बंगला में अधिक पायी जाती है ।[4]

मंगल-काव्य का अर्थ -- मंगलकाव्य-परम्परा पर प्रकाश डालने वाले उक्त तीनों महानुभावों के विवेचन से ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि मंगल-काव्य के दो वर्ग हैं -

(१) स्तुति परक रचनाएं (२) विवाह विषयक रचनाएं । डॉ० रामदत्त भारद्वाज तथा डॉ० विमलकुमारजैन ने मंगल-काव्य से मंगल प्रदान करने वाली रचनाओं का आशय ग्रहण किया है । मंगल की प्राप्ति प्रार्थना या स्तुति से ही होती है । अस्तु मंगल-काव्य का प्रधान आशय स्तुतिपरक रचनाएं ही ठहरती हैं । डॉ० जैन ने इसके स्वरूप की विधिवत् व्याख्या की है ।

---

१. डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया-मंगलकाव्य-परम्परा, पृ० १३ से ४२ तक ।

२. डॉ० रामदत्त भारद्वाज -तुलसीदास और उनके काव्य, पृ० १२३ से १५४ ।

३. डॉ० विमलकुमार जैन- तुलसीदास और उनका साहित्य, पृ० १४५

४. डॉ० रामदत्त भारद्वाज - तुलसीदास और उनके काव्य, पृ० १२५.

किन्तु तुलसी कृत मंगल-काव्यों की गवेषणा के सन्दर्भ में मंगलकाव्य का यह अर्थ ग्राह्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि तुलसी के तीनों मंगलकाव्यों में विवाह का वर्णन है । डॉ० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया ने मंगलकाव्य के अन्तर्गत विवाह और स्तुति दोनों प्रकार की रचनाओं का उल्लेख किया, किन्तु विशेष बल विवाहपरक रचनाओं पर ही दिया है । सम्भव है कि मंगल-काव्य का आशय दोनों हों पर प्रस्तुत सन्दर्भ में हम मंगल-काव्य से विवाह परक रचनाओं का ही आशय ग्रहण करना समीचीन समझते हैं क्योंकि तुलसी के तीनों मंगलकाव्यों में वैवाहिक क्रियाओं का ही वर्णन हुआ है ।

डॉ० मेनारिया ने विवाह परक रचनाओं की ५ संज्ञाएं बताई हैं -- १. मंगल, २. विवाहलउ, विवाहलो, विवाह (३) वेलि, ४. हरण ५. परिणय।

हिन्दी की मंगल-काव्य-परम्परा में नंददास और विष्णुदास का रुक्मिणी-मंगल, तुलसीदास का पार्वतीमंगल और जानकीमंगल, तथा रामललानहछू, पृथ्वीराज राठौर की वेलि क्रिसन रुक्मिणी री , नरहरि बंदीजन का 'रुक्मिणीमंगल', महाराज रघुराज सिंह का 'रुक्मिणी परिणय' कृष्णदास का 'रुक्मिणी विवाहलो' आदि रचनाएं प्रमुख हैं । 'रुक्मिणी परिणय' ~~कृष्णदास की~~ नाम से भी कई काव्य रचे गए हैं । इस परम्परा में विवाह परक रचनाओं की सभी संज्ञाओं का व्यवहार मिल जाता है ।

तुलसी ने तीन मंगल-काव्यों की रचना की है, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामलला नहछू । रामलला नहछू यद्यपि 'मंगल' संज्ञक रचना नहीं है, फिर भी वैवाहिक क्रिया पर आधारित होने से उसे भी मंगल-काव्यों में सम्मिलित करना अनुचित नहीं है । तीनों मंगल-काव्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है --

१. पार्वती मंगल- इस रचना की छन्दसंख्या १६४ है, इसमें १४८ अरुण छन्द हैं तथा शेष १६ हरिगीतिका । इसमें शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन हुआ है यह तुलसी का सर्वोत्कृष्ट मंगल-काव्य है ।

२. जानकी मंगल - इसकी छन्द संख्या २१६ है । इसमें १९२ अरुण अथवा मंगल छन्द है तथा शेष २४ हरिगीतिका । इसमें राम-सीता के विवाह का वर्णन है । इसका

३. रामलला नहछू -- इसकी छन्द संख्या २० है । सम्पूर्ण रचना सोहर छंद में है । इसका कथानक उत्तरभारत में प्रचलित 'नहछू' की प्रथा पर आधारित है । यह नहछू व्रतबन्ध और विवाह के उत्सवों पर गाया जाता है । इसका अभिधान रामलला नहछू होने से विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिक सत्यता की छानबीन को बहुत औचित्यपूर्ण माना, जिससे परस्पर मतभेद भी उत्पन्न हुए । किसी ने कहा कि इस नहछू का वर्ण्य विषय राम के विवाह का अवसर है और किसी ने इसे यज्ञोपवीत के अवसर पर आधारित बताया । इसे परम्परा पर आधारित कृति ही मानना चाहिए, ऐतिहासिक विवरणा पर प्रणीत रचना नहीं । यह राम वास्तव में वर का पर्याय है, कोई व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं ।

स्तोत्र-काव्य-परम्परा और तुलसी के स्तोत्र-काव्य —आस्था प्रधान होने के कारण हिन्दी भक्तिकाव्य का पर्याप्त अंश स्तुतिपरक रचना के रूप में मिलता है । काव्य में स्तुति अथवा स्तोत्र की एक दीर्घ परम्परा दृष्टिगत होती है । कभी-कभी तो पूरी-की पूरी रचना ही स्तोत्र रूप में कवियों ने प्रणीत की है । भक्त अपने उपास्य की कृपाप्राप्ति के लिए कुछ क्षण उसके प्रति जो विनम्रता और भक्ति प्रदर्शित करता है, वही कथन छन्दबद्ध होकर स्तोत्र-काव्य का रूप धारण करता है । स्तुति, स्तोत्र-काव्य का अनिवार्य धर्म है और प्रमुख लक्षण भी ।

संस्कृत में प्रकाशित और मुद्रित स्तोत्रों की संख्या लगभग २०० है । लोकमुख में भी असंख्य स्तोत्रों के जीवित होने से इसकी ठीक-ठीक संख्या ज्ञात करना भी कठिन है । जिन देवी-देवों पर विशेष रूप से स्तोत्र लिखे गए हैं उनमें शक्ति शिव विष्णु, राम और कृष्ण आदि प्रमुख हैं । इसके अतिरिक्त अन्य विविध और प्रकीर्ण स्तोत्र भी प्राप्त होते हैं । स्तोत्र रत्नावली, स्तोत्र-रत्नमाला, स्तोत्रसमुच्चय नामक तीन स्तोत्र - संग्रहों में इस प्रकार के स्तोत्र संग्रहीत हैं । संस्कृत-काव्य की यह परम्परा हिन्दी साहित्य में भी अवतरित हुई । हिन्दी के प्रमुख स्तोत्रों में रुद्राष्टक महालक्ष्मीवन्दना, देवीवन्दना, दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरी चालीसा, विन्ध्येश्वरी स्तोत्र, कृष्णावन्दना, देवी के अनेक नाम, सतनाम, हनुमान चालीसा, हनुमानाष्टक आदि है । भक्तिकाल के प्रबन्धकार कवियों ने अपनेप्रबन्धों में युक्तिपूर्वक अवकाश निकाल कर स्तोत्रों की रचना की मुक्तकों में तो इसके लिए अवकाश था ही । कहने का

तात्पर्य यह कि स्तोत्र-काव्य रचना भी एक अभिप्राय बन चुका था और बहुत से कवियों ने उसका अनुसरण अपने साहित्य में किया । ऐसे कवियों में तुलसी का स्थान प्रमुख है ।

तुलसी की रचनाओं से यदि सभी स्तोत्रों को संगृहीत किया जाय तो उनकी संख्या १०० से ऊपर ही होगी । स्तोत्रों की यह प्रचुरता तुलसी-साहित्य में स्तोत्र काव्य-रचना के व्यापक अभिप्राय का प्रतिनिधित्व किए जाने का प्रमाण है । तुलसी-साहित्य में स्तोत्रों की स्थिति का आकलन इस प्रकार है --

१. विनय-पत्रिका के स्तोत्र - वैसे तो सम्पूर्ण विनयपत्रिका को स्तोत्र-काव्य कहा जाता है, किन्तु उसमें प्रधानता विनय विषयक पदों की है । फिर भी विनयपत्रिका* के आरम्भिक ६० मुक्तक तो निश्चित रूप से स्तोत्र हैं ही । यद्यपि आगे के पदों में भी स्तुति ही की गई है तथापि भाषा रूप और शिल्प की दृष्टि से स्तोत्र विनय विषयक पदों से भिन्न हैं अस्तु प्रारम्भिक ६० मुक्तकों को हम स्तोत्रों में सम्मिलित करते हैं । इनमें गणेश, शिव, शक्ति गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, सीता आदि की एकाधिक स्तुतियां हैं और अन्त में कई स्तोत्रोंमें तरह-तरह से कवि ने अपने आराध्य राम की स्तुति की है ।

रामचरित मानस की स्तुतियां -- रामचरित में ११ स्तुतियां हैं इनमें से २ बालकाण्ड में ३ अरण्यकाण्ड में २ लंकाकाण्ड में और शेष उत्तरकाण्ड में हैं । उत्तरकाण्ड में मात्र एक शिवस्तुति को छोड़कर शेष सभी स्तुतियां राम की हैं, स्तोता क्रमश: परशुराम, सुतीक्ष्ण , अत्रि, जटायु, देव-समाज, वेद, शिव, सनकादिक मुनिजन, नारद, और कागभुशुण्डि के गुरु हैं । इन स्तुतियों में प्रार्थना का प्रयोजन तो है ही पर महाकाव्य से सम्बद्ध होने से इनमें प्रसंगौचित्यकथा विकास का प्रयत्न और रस-परिवर्तन का प्रयत्न भी दृष्टिगत होता है इससे स्पष्ट है कि प्रबन्ध में कवि तुलसी द्वारा की गई स्तोत्र-रचना का प्रयोजन मात्र आराधना न होकर एक विशिष्ट काव्यात्मक उद्देश्य की सिद्धि भी है । उदाहरणार्थ हम बालकाण्ड की उस स्तुति को समक्ष रखते हैं जो धनुष भंग के अनन्तर परशुराम द्वारा की गई है । इसमें प्रसंगानुकूल रस-परिवर्तन की साहित्यिक चेष्टा प्रतीत होती है । परशुराम के क्रोध से पूर्व प्रसंग भयानक हो उठा है उसे राम-सीता विवाह के रमणीय एवं मधुर प्रसंग में बदलने के लिए यह [illegible]जक तत्त्व का कार्य करता है । जिसके आतंक से भय व्याप्त

हुआ उसी को स्तुति करते हुए पाकर सभा के सभी लोग भय-दशा से मुक्त होकर सामान्यदशा में आ जाते हैं और वहीं से कथा विवाह के माधुर्यमय प्रसंग की ओर अग्रसर होती है ।

कवितावली के स्तोत्र --कवितावली का उत्तरकाण्ड स्तोत्रमय है । ये स्तोत्र घनाक्षरी और सवैया में भी हैं और अनुस्वार तथा विसर्गमयी अर्द्ध संस्कृत पदावली में भी । इसमें राम की स्तुति प्रधान है, शिव-स्तोत्र भी कई पद्यों में है। कवितावली में ५० से अधिक पद्यों में स्तुति का यह क्रम चला है । तुलसी ग्रन्थावली के ना०प्र०सभा संस्करण में हनुमान बाहुक को भी सम्मिलित किया गया है, यह भी एक अत्यन्त प्रचलित स्तोत्र है जिसके बारे में कहा जाता है कि इसकी रचनाकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने अत्यन्त दारुणाबाहुपीड़ा से मुक्ति पायी थी। 'बाहुक' शब्द से इस कथन की सत्यता पुष्ट होती है । यह स्तोत्र ४४ मुक्तकों में है जिसमें सवैया और घनाक्षरी छन्दों की प्रधानता है ।

स्तोत्र-काव्य-परम्परा और तुलसी के स्तोत्रों को देखने से इस अशास्त्रीय विधा की अभिप्रायात्मकता का आभास तो हो चुका । अब देखना यह है कि स्तोत्रों में कौन से ऐसे तत्त्व हैं जो अभिप्राय की तरह अधिकांश स्तोत्रों में विद्यमान मिलते हैं और जो तुलसी द्वारा रचित स्तोत्रों में भी है । ये तत्त्व इस प्रकार हैं

१. लयात्मकता, संगीतात्मकता कीर्तन और आवृत्तिपरक पंक्तियां ।
२. स्तोत्रों में पद्यों की निश्चित संख्या- यथा मानस के उत्तरकाण्ड का रुद्राष्टक स्तोत्र
३. आराध्य के अनेक विशेषणों और लीलाओं पर आधारित अनेक नामों का कथन आदि - यथा विनयपत्रिका के स्तोत्र ।

इन सभी अभिप्रायों की न्यूनाधिक स्थिति तुलसी प्रणीत स्तोत्रों में है । साहित्यिक ग्रन्थों से सम्बद्ध स्तोत्र क्रियात्मक कम और भावात्मक अधिक हैं । जिन स्तोत्रों की रचना में रचयिता का मात्र धार्मिक उद्देश्य हुआ करता था उनमें क्रियात्मकता का पक्ष सबल होता था और स्नान, ध्यान, दान और जप तथा पूजा-विधि इत्यादि का व्यवस्थित वर्णन रहता था । काव्य की दृष्टि से ऐसे स्तोत्रों का विशेष महत्व नहीं होत। तुलसी के स्तोत्र इस कोटि में नहीं आते । वे साहि-

त्यिक और भावप्रधान हैं उनमें जप, पूजाविधि और अन्य क्रियाओं का वर्णन यदि कहीं है भी तो वह विशुद्ध भावात्मक धरातल पर है ।

नीति-काव्य-परम्परा और तुलसी का नीति-काव्य —संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य के लगभग मध्यकाल तक जिस प्रकार से अन्य पूर्व विवेचित स्वतंत्र विकसित काव्यरूपों का सृजन प्रचलित रहा उसी प्रकार नीति-काव्य-रचना भी परिपाटी से प्रेरित रही । काव्य में नीतिपरक पद्यों का समावेश पहले अपरिहार्य माना जाता था । इस अभिप्राय का प्रभाव काव्यरचना में दीर्घकाल तक पड़ते रहने के कारण नीति-काव्य की दीर्घ परम्परा भारतीय साहित्य में मिलती है । 'नीति'शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'णीय' धातु से है, जिसका तात्पर्य है ले जाना । इसका पूर्ण अर्थ है आगे की ओर अथवा उत्कर्ष की ओर ले जाना । काव्य-रचना में भी उत्कर्ष की भावना निहित है । नीतिकाव्य की व्यापक अर्थवत्ता में सूक्ति सुभाषित लोकोक्ति, उपदेशात्मक कथन आदि सभी समाविष्ट हो जाते हैं जिनकी सघन अवस्थिति भारतीय-साहित्य में है । साहित्य को कान्ता सम्मित उपदेश मानना उसमें नीतितत्व की अपरिहार्य स्थिति का ही परोक्ष कथन है । वस्तुत: नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है, मात्र दोनों के प्रस्तुतीकरण में भेद है । साहित्य में नीति-काव्य-रचना का अभिप्राय इन्हीं कतिपय कारणों से पल्लवित हुआ । मुक्तकों में विशुद्ध नीति विषयक कविताएं लिख कर कुछ कवियों ने तो इस अभिप्राय का पूर्णत: अनुसरण किया, तथा कुछ कवियों ने तो अपने प्रबन्धों और मुक्तक-काव्यों के बीच नीतिपरक कथनों को यत्रतत्र प्रस्तुत कर इसका आंशिक रूप से परिपालन किया । तुलसी में इन दोनों स्थितियों का समन्वय सा प्रतीत होता है ।

पूर्ववर्ती साहित्य पर यदि विचार करें तो वेदों में ही नीतिवाक्य मिलने आरम्भ हो जाते हैं । महान् काव्यग्रन्थों में नीतिकथनों की दृष्टि से महाभारत सर्वोत्कृष्ट है । इसमें धौम्य नीति, विदुर नीति, और भीष्मनीति के महत्वपूर्ण प्रसंग हैं । पुराणों में नीति का वृहत भाग है जिसमें गरुणपुराण और श्रीमद्भागवत प्रमुख हैं । संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में बुद्ध चरित् सौन्दरानन्द, रघुवंश, कुमारसम्भव, [illegible], नैषधीय चरित आदि में नीति-कथनों का प्राचुर्य है । पालि-
भ्रंश के काव्यों में भी इस अभिप्राय का ह्रास न होकर निरन्तर

विकास ही हुआ है । सिद्धों, नाथों और सन्तों की बाणियों में यह अभिप्राय जीवन्त है । इसी के अनन्तर सगुण कवियों का स्थान है जिसमें इस दृष्टि से तुलसी ही सर्वप्रमुख हैं । तुलसी के समकालीन कवि रहीम, टोडरमल, बीरबल तथा परवर्ती एवं अन्य कवियों में वृन्द, घाघ, बैताल, भड्डरी, गिरिधर, दीनदयाल गिरि आदि इस अभिप्राय को सतत् अपनाते रहे ।

तुलसी-साहित्य में नीति-काव्य का विस्तार इस प्रकार है -

१. दोहावली-लगभग सम्पूर्ण-दोहावली में ५७३ दोहे हैं । बाद के अधिकतर दोहे विशुद्ध नीतिपरक हैं, और प्रारम्भ के अधिक तर दोहे भक्ति एवं उपदेश परक । भक्ति एवं उपदेशपरक दोहे भी किसी न किसी रूप में नीति के अंग माने जा सकते हैं । सम्पूर्ण कृति में विविध विषयों पर उपयोगी विचार प्राप्त होते हैं । शत्रु-मित्र , सज्जन, दुर्जन, सत्संगति, वैराग्य, भक्ति, धर्म, संस्कृति आदि विषयों से लेकर गृह, नक्षत्र, शुभ-अशुभ, मांगलिक वस्तुएं, त्याज्य वस्तुएं, दुखदायी वस्तुएं ज्योतिष, राजनीति, समाज-धर्म इत्यादि विविध विषयों से सम्बद्ध विचार इस रचना में हैं । पाखंड, अंधविश्वास, कुटिलता, मेड़ियाधंसान आदि विषय भी नीति के परिप्रेक्ष्य में इन दोहों के वर्ण्यविषय बने हुए हैं । सूक्ति, सुभाषित और इस प्रकार के अन्य कथनों को इसमें स्थान स्थान पर देखा जा सकता है । तुलसी के सम्पूर्ण नीति-काव्य में दोहावली अग्रगण्य है ।

२. रामचरित मानस के नीतिपरक कथन - सम्पूर्ण मानस में नीतिकथन प्रसंगानुसार व्याप्त मिलते हैं । कभी कभी इनकी अभिव्यक्ति मुहावरे लोकोक्तियों और सूक्तियों के माध्यम से हुई है, पर अधिकतर ये कथन स्वतन्त्र है । दोहावली की तरह मानस के नीतिपरक कथन भी विविध विषयों से सम्बद्ध हैं । उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो नीति कथन देखिए -

(१) हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुरु घोर नरक महं परई ।।रा०।७।९९

(२) पाट कीट तें होइ तेहि तें पाटंबर रुचिर ।
कृमि पालइ सब कोइ परम अपावन प्रानसम ।।रा०।७।९५

रामचरितमानस की गीताओं (उपदेशात्मक प्रसंगों) को भी धर्मनीति मानकर नीतिकाव्य में ही [illegible] र सकते हैं ।

प्राप्त नीति-वचन - उक्त दोनों रचनाओं के अति-

रिक्त नीतिवचन विनय-पत्रिका के उपदेश एवं बोधपरक पदों में तथा कवितावली के उत्तरकाण्ड में एवं रामाज्ञा-प्रश्न तथा वैराग्य-संदीपनी में मिलते हैं। ये कथन भक्ति और धर्म विषयक हैं।

नीतिकाव्यों में दो तात्त्विक अभिप्राय विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं–

१. इसमें विषयगत विविधता होती है और स्फुट विचार पद्यों में निबद्ध किए जाते हैं।

२. इसे मुक्तक-काव्य में ही अधिक स्थान मिलता है। ये दोनों अभिप्राय भी तुलसी के नीति-काव्य पर बहुत प्रतिफलित होते हैं। विषय विविधता उनके नीतिकाव्य में पर्याप्त है और मानस को छोड़कर उनका शेष समस्त तन्निन नीतिकाव्य मुक्तक काव्याश्रित है। उनका सर्वोत्कृष्ट नीति-काव्य दोहावली विशुद्ध मुक्तक रचना है। रामचरितमानस के अनेक नीतिकथन दोहावली में कवि द्वारा संकलित कर लिए गए, यह भी नीति-काव्य के मुक्तकाश्रयत्व की पुष्टि करता है।

गीति-काव्यपरम्परा और तुलसी के गीति-काव्य – गीति-काव्य विवेच्य अशास्त्रीय काव्यरूपों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक है। इसका मूलकारण संवेदनशील मनुष्य का संगीत प्रेम है। कविता को गेय बनाने उसे लय ताल एवं राग-रागिनियों में निबद्ध करने की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है। इसी प्रवृत्ति ने साहित्य के क्षेत्र में गीत-काव्य विषयक अभिप्राय को प्रतिष्ठित किया है। गीति-काव्य में गेयता की अनिवार्यता होती है। सामान्य अर्थों में गीति-काव्य से उस कविता का आशय ग्रहण किया जाता है जो वाद्य उपकरणों के साथ गायी जा सके। तत्वतः गीतिकाव्य का अर्थ लय एवं गेयता से युक्त कविता है। यही तत्त्वार्थ धीरे-धीरे रूढ़ हो गया और गीतिकाव्य में संगीतवाद्य के उपकरण और राग-रागिनियां अपरिहार्य समझी जाने लगीं। हिन्दी का गीतिकाव्य इन समस्त विशिष्टताओं से मंडित है।

सामवेद की ऋचाओं से ही भारतीय वाङ्मय में गीतितत्व का आरम्भ माना जाता है। वाल्मीकि रामायणसे लेकर जयदेव के पूर्व तक कविता की गेय ध्वनि मात्र एक विशेषता थी। संस्कृत-काव्य में उसने वैसा स्वरूप ग्रहण नहीं किया — काव्य में किया। जयदेव और विद्यापति से ही संगीत काव्य का

प्राण बन गया और हिन्दी के भक्तिकाल में गीत-काव्य रचना एक प्रमुख अभिप्राय ही बन गई । इस युग में अधिकांश कवियों ने गा-गाकर ही अपना सम्पूर्ण साहित्य रचा । अनेक संत और भक्त कवि इस दृष्टि से चोटी के संगीतविद माने गए । इनमें अष्टछाप के कवियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन कवियों के एक-एक शब्द राग-रागिनियों में बंधे हैं । कबीर, मीरा आदि के पद भी गीतितत्वों से भरपूर हैं । भक्तिकाल संगीत का भी स्वर्णयुग था । तानसेन, बैजूबावरा और रामदास जैसे विश्वविश्रुत गायक उस युग में हुए । इन्हीं कारणों से तत्कालीन काव्य की शिराओं में गीतिमयता का अभिप्राय रक्त की तरह प्रवाहित हुआ । ऐसे कवि कम ही मिलेंगे जिन्होंने यथा सामर्थ्य इस अभिप्राय का अनुसरण न किया हो । तुलसी के काव्य में तो इस अभिप्राय का जितना समादर हुआ कि गीतकाव्य-कारों में सूर के बाद उन्हें शीर्षस्थान प्राप्त होना चाहिए । उनके तीन-तीन गीति-काव्य इस तथ्य के प्रमाण हैं ।

सूर और मीरा की तरह तुलसी गायक रहे हों ऐसा उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता, तो भी उनके तीनों गीतिकाव्यों (विनयपत्रिका, गीतावली, श्रीकृष्ण-गीतावली) को देखने से उनकी संगीत-विज्ञता में कोई सन्देह नहीं रह जाता । डॉ० वचनदेवकुमार ने गोस्वामी जी को निष्णात संगीतज्ञ कहा है और उनके गीतों में काव्य स्वरमाधुर्य एवं तालपद्धति की त्रिवेणी का अस्तित्व बताया है ।[1] यहाँ उनकी गीति रचनाओं पर किंचित् दृष्टिपात आवश्यक है --

१. विनय-पत्रिका -- गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका के पदों की रचना के साथ रागों का निर्धारण भी किया है । स्वर ताल, लयभेद , नाद राग और उनके गाए जाने का समय इन सभी दृष्टियों से पत्रिका के पद श्रेष्ठ , शुद्ध और औचित्यपूर्ण हैं, बड़े-बड़े गायक इन्हें वाद्ययन्त्रों पर गाकर संगीतप्रेमियों को आनन्दविभोर कर देते हैं -- विनयपत्रिका में २० रागों की निबन्धना हुई है ये हैं --आसावरी, कल्याण, कान्हरा, केदारा, जैतश्री , टोड़ी, धनाश्री ,वसन्त, बिलावल, विहाग, भैरव ,भैरवी, मलार, मारू, रामकली, ललित, विभास, सारंग और सोरठ । किन्हीं किन्हीं प्रतियों में चंचरी सूहो और दण्डक राग के पद भी मिलते हैं । गीति-काव्य की दृष्टि से विनयपत्रिका तुलसी की सर्वोत्कृष्ट रचना है ।

1. डॉ॰ वचनदेव कुमार – तुलसी के भक्त्यात्मक गीत , पृ० १२०

२. गीतावली - इसके पद भी संगीत की कसौटी पर विशुद्ध हैं। रागों का अंकन इसमें भी हुआ है। गीतावली का 'गीत' शब्द इसकी गीतिमयता का सुस्पष्ट प्रमाण है। इसमें कुल १६ रागों का प्रयोग ये हैं -- आसावरी, जयतश्री, विलावल, केदारा, कान्हरा, धनाश्री, सोरठा, नट, ललित, विभास, कल्याण, मारू, मलार, टोड़ी, सारंग, गौरी, वसन्त, भैरव, रामकली। इसमें गीतों की संख्या तीनों गीतिकाव्यों में सबसे अधिक है।

३ श्रीकृष्णगीतावली-कृष्णगीतावली में कुल १० रागों का प्रयोग है ये उक्त दोनों रचनाओं में पाए जाते हैं इनके नाम हैं - कान्हरा, केदारा, आसावरी, विलावल, गौरी, नट, धनाश्री, मलार, ललित, और सोरठा। संख्या और गुण दोनों दृष्टियों से यह रचना तीसरे स्थान पर है।

कुल मिलाकर इन तीनों रचनाओं में कुल २१ रागों की स्थिति प्राप्त है श्री वियोगीहरि ने तुलसी को संगीत कला का भारी पंडित बताया है।[१] राम-रागिनियों में पदों की रचना तुलसी के समसामयिक साहित्य में बहुत बड़ा साहित्यिक अभिप्राय बन चुका था। तुलसी ने इन तीन गीति-काव्यों की रचनाकर इस अभिप्राय को अपने काव्य में सुरुचिपूर्वक अपनाया।

उस समय के गीतिकाव्यों में कुछ तात्विक अभिप्राय भी थे और उन्हें भी तुलसी ने तदवत ग्रहण किया, इनमें मुख्य ये हैं -

१. पदों में रचना - गीतों की रचना अधिकतर पदों में हुआ करती थी, तुलसी के गीतिकाव्यों में भी पद ही प्रधान हैं।

२. पदों में टेक -- गीतिकाव्यों के पद दो तरह के होते थे - (क) टेक-सहित (ख) टेकरहित। टेकसहित पदों का प्रचलन अधिक था, अस्तु अभिप्राय इसे ही मानना चाहिए। तुलसी की गीति रचनाओं में कुल गीतों की संख्या ६६८ है। इसमें ४८० टेकयुक्त है और २८८ टेक रहित। स्वत:सिद्ध है कि टेकयुक्तता का

अभिप्राय भी उनके गीतों में है ।

३. तुक - गीतों को अधिकाधिक गेय बनाने हेतु तुलसी ने आंतरिक तुक का निर्वाह सफलता पूर्वक किया है ।

४. यति, गति, लय, ताल आदि - ये सभी संगीत के विशिष्ट तत्व हैं और तुलसी के गीतिकाव्यों में यथेष्ट मात्रा में हैं ।

गीतिकाव्य विषयक अभिप्राय के इस सम्पूर्ण विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला तो यह कि काव्य में गीतिरचना का जो अभिप्राय प्रचलित था और जिसके फलस्वरूप गीतिकाव्य की विशाल परम्परा बनी उसे तुलसी ने ग्रहण किया और तीन गीतिकाव्यों की रचना की । दूसरा यह कि गीतों में प्रयुक्त होने वाले सूक्ष्म एवं तात्विक अभिप्रायों का ग्रहण भी तुलसी ने उसी प्रकार अपने गीतों में किया, जैसे उनके पूर्ववर्ती बड़े-बड़े गायक कवियों ने किया था ।

काव्यरूप के परिप्रेक्ष्य में तुलसी-साहित्य में पाए जाने वाले साहित्यिक अभिप्रायों का आकलन करने के अनन्तर यही कहना सर्वांश में संगत लगता है कि उन्होंने शास्त्रीय काव्यरूपों में तो अभिप्राय को ग्रहण किया ही, स्वतंत्र विकसित काव्यरूपों में भी अभिप्रायों का अंगीकरण उनके काव्य में हुआ । शास्त्रीय काव्यरूपों में महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य के अभिप्रायों के प्रयोग तुलसी-साहित्य की इस प्रकार की विधाओं में दिखाया गया । स्वतंत्र विकसित काव्यरूपों में हमने उनके चरितकाव्य, मंगल-काव्य, स्तोत्र-काव्य, नीति-काव्य और गीतिकाव्यों पर अभिप्राय की दृष्टि से विचार किया । इन सबमें विधा को अभिप्राय के ही कारण तुलसी द्वारा अपनाए जाने और उसके अन्तर्गत तात्त्विक अभिप्रायों का विधिवत् समावेश करने की बात भी बिल्कुल सत्य है । स्वतंत्र विकसित काव्यरूप और भी हो सकते हैं, किन्तु हमने उक्त पांच काव्यरूपों को ही प्रमुख और विवेचन के लिए पर्याप्त समझा है । अपवाद से पूर्णरूपेण रहित निष्कर्ष तो बहुत कम ही होते हैं, अस्तु सर्वांश में तो यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी ने अपने काव्यरूपों का गठन मात्र अभिप्राय की प्रेरणा से ही किया । निश्चयतः उसमें नवीनता और मौलिकता है । इतने महान कवि के काव्य में उसका न होना ही अभाव और आश्चर्यजनक समझा जाता । किन्तु यह कहना अन्यथा न होगा कि

अभिप्राय को उन्होंने अधिक महत्व दिया है, मौलिकता को उसकी अपेक्षा कम । दोनों का समन्वय उनके कवित्व को महनीयता प्रदान करता है । यह कहना बहुत ही सार्थक है कि तुलसी ने अपने काव्यरूपों में अभिप्रायों का बहुत ही मौलिक रीति से अनुसरण किया है ।

सप्तम अध्याय

साहित्यिक अभिप्राय और अन्य काव्याङ्ग

साहित्यिक अभिप्राय के जिन-जिन पहलुओं पर अब तक विचार किया गया, वे काव्य के विशिष्ट पक्षों से जुड़े हुए हैं। कथाभिप्राय कथाविन्यास से सम्बद्ध है, पौराणिक या मिथकीय अभिप्राय तथा कविसमय काव्य में अभिव्यक्ति के महत्वपूर्ण पक्ष से जुड़ा है। वर्णनात्मक अभिप्रायों का सम्बन्ध काव्य के वर्णन तत्व से है तथा काव्यरूपगत अभिप्रायों का सम्बन्ध रचना के वाह्यरूप से है। यद्यपि साहित्यिक अभिप्रायों का अस्तित्व विशेषत: इन्हीं क्षेत्रों में व्याप्त मिलता है फिर भी यह समझना भूल होगी कि इनका क्षेत्र मात्र यहीं तक सीमित है। साहित्यिक अभिप्राय का अस्तित्व काव्य के विशिष्ट पक्षों में जितना विस्तृत है, काव्य के सूक्ष्म उपादानों में उनकी जड़ें उतनी ही गहरी हैं। इतना अवश्य है कि काव्य के इन सूक्ष्म उपादानों में निहित अभिप्राय-तत्वों की जानकारी अब तक बहुत ही कम हो पाई है। वस्तुत: ऐसे लघु काव्यांगों के सन्दर्भ में भी साहित्यिक अभिप्रायों का अध्ययन अत्यन्त रोचक एवं महत्वपूर्ण है। इसके बिना इस प्रकार के अध्ययन को समग्र नहीं माना जा सकता। प्रस्तुत अध्याय में तुलसी की रचनाओं में व्यवहृत इस प्रकार के काव्यांगों को साहित्यिक अभिप्राय के प्रकाश में देखने की चेष्टा की गई है। इन काव्यांगों में रस, अलंकार, भाषा, छन्द आदि तत्त्व विचारणीय हैं।

अभिप्राय की परिधि में विविध काव्यांग --

काव्य में व्यवहृत होने वाले उपर्युक्त काव्यांग किस स्थिति में अभिप्राय या मोटिफ का रूप धारण करते हैं, यह निश्चय करना यहाँ सर्वप्रथम आवश्यक है। रस अलंकार आदि विविध काव्यांग जब काव्य में प्रचलित परिपाटी के आधार पर ग्रहण किए जाते हैं, तो उस स्थिति में वे मोटिफ बन जाते हैं। परिपाटी के आधार पर इन

काव्यांगों का ग्रहण भी काव्य में विभिन्न रूपों में देखा जाता है । स्थूल से स्थूल स्तर से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तक काव्य में इन काव्यांगों के व्यवहार में परिपाटी की छाया दृष्टिगत होती है । इसका यत्किंचित् स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है -

१. रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति को शास्त्रीय विवेचन में काव्य का सामान्य उपकरण मात्र नहीं माना गया अपितु इनमें से प्रत्येक को अलग-अलग शास्त्रकारों ने काव्य के प्राणतत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है । एतत्सम्बन्धी विविध मतवादों के कारण इनमें से कुछ की परस्पर विरोधी स्थिति भी प्रमाणित हुई । बहुधा कवि इन मतवादों में नहीं पड़े । उन्होंने न तो किसी काव्यांग को सर्वतोभावेन प्रधान माना और न ही किसी काव्यांग की सर्वतोभावेन उपेक्षा की, अपितु उचित मात्रा में सभी काव्यांगों को अपनाया और काव्यत्व में उनका योगदान स्वीकार किया । चूँकि काव्यशास्त्रियों ने इन काव्यांगों के अतिशय महत्व और प्रचार पर इतना बल दिया था कि मोटिफ के स्तर तक इनमें से प्रत्येक का समावेश काव्य में वांछनीय माना गया । इस मान्यता का आभास हिन्दी के अधिकांश साहित्य के अध्ययन से होता है । रस के साथ ही अलंकार को भी, ध्वनि के साथ ही वक्रोक्ति को भी काव्य में समभाव से कवियों ने जिस कारण अपनाया वह मोटिफ ही है । कवियों के मन में यह धारणा ही बद्धमूल हो गई कि समस्त चर्चित काव्यांगों को काव्य में अपनाना अपरिहार्य है । अपने काव्य में इन सभी काव्यांगों में से किसी का भी अभाव रह जाने पर कविजन काव्य रसिकों द्वारा दोषारोपण की भी आशंका करते रहे हों तो आश्चर्य नहीं । अतएव कवियों ने काव्य में समस्त काव्यांगों को न्यूनाधिक मात्रा में ही सही, अनिवार्य रूप से समाविष्ट करने का एक नियम ही निर्धारित कर लिया । इस नियम की प्रकृति अभिप्राय से कथमपि भिन्न नहीं है । विविध काव्यांगों के सन्दर्भ में प्रथमतः जिस अभिप्राय की ओर संकेत किया जाना चाहिए, वह यही अभिप्राय है ।

२. उपर्युक्त काव्यांगों का स्वरूप शास्त्रीय लक्षणों से अनुशासित है । इनकी योजना भी दीर्घकाल तक शास्त्रनिर्दिष्ट प्रणाली पर होती रही है । आज भी वे निर्देश बदले नहीं हैं, उनकी मान्यता भले कम हो गई हो । काव्य में रस, अलंकार और छन्द आदि के वही लक्षण आज भी मान्य हैं । इन काव्यांगों को काव्य में अपनाते हुए उनसे सम्बन्धित ल

लक्षणों के अनुसार रचना करना अद्यावधि अनिवार्य है । स्थायीभाव और विभावादि के बिना रस-योजना की, शब्द और अर्थचमत्कार के बिना अलंकार की सुनिश्चित वर्ण अथवा मात्रा विधान के बिना किसी छंद की रचना की बात आज भी सोच पाना असम्भव है । काव्यांगों की योजना के सम्बन्ध में शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों को स्वीकार करना भी अभिप्राय ही है अस्तु परम्परागत लक्षणों के आधार पर काव्य में इन काव्यांगों का समावेश भी [illegible] अभिप्राय की परिधि के भीतर आ जाता है ।

३. काव्य में उक्त काव्यांगों की स्थिति को कुछ और गहराई से देखने पर परिपाटी की व्याप्ति वहाँ तक दिखायी देती है । विविध काव्यांगों के भेदों, उपभेदों का व्यवहार भी काव्य में रूढ़ पथ पर हुआ दिखायी पड़ता है । उदाहरण के लिए रस विशेष को किसी प्रकरण विशेष में ही बहुलता से योजित किया जाना, अलंकार विशेष को प्राय: किसी प्रयोजन विशेष के लिए ही अपनाना, छन्द विशेष को किसी विशेष काव्यरूप के लिए अपनाना आदि । और भी अधिक स्पष्ट रूप में इसे यों कहा जा सकता है कि जैसे अधिकतर बालवर्णन में ही वात्सल्य रस की योजना, अधिकतर रूपविधान या सौन्दर्य विधान में ही उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों की योजना तथा कथात्मक काव्य में ही दोहा-चौपाई की योजना आदि इन काव्यांगों से सम्बद्ध कुछ ऐसे अभिप्राय हैं जो अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं । मध्यकालीन हिन्दी काव्य के रचनाकाल तक इस प्रकार के अभिप्राय पर्याप्त मात्रा में उद्भूत हो गए थे ।

मुख्य रूप से काव्यांगों के व्यवहार में परिपाटी का प्रभाव इन्हीं ३ मार्गों से काव्य पर पड़ता है । इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य मार्गों की सम्भावनाएं भी अभिप्रायात्मक आचरण के लिए रहती हैं जैसे शास्त्रीय लक्षणों को प्रचलित रूढ़ि तथा परम्परा के आधार पर कुछ और संकीर्ण मानकर व्यवहार में लाना, अपनी प्रकृति के विरुद्ध होते हुए भी काव्य के किसी उपादान की आयोजना करना, ऐसे तत्वों को, जिनका परिहार सुगमता से सम्भव है, विशेष आग्रह से अपनाना तथा काव्यांगों की योजना से सम्बद्ध अन्य अवशिष्ट रूढ़ तथ्यों की योजना करना आदि। इनसे उत्पन्न होने वाले अभिप्राय संख्या में अल्प ही हैं ।

१. अलंकारों की सायास योजना --

तुलसी ने अलंकारों की सायास योजना की है । इस कथन का उनके सहज अलंकार विधान से कोई विरोध नहीं है । कुछ अलंकार सहज रूप से आए हैं, पर बहुत कुछ कवित्व के आग्रह से सायास लाए भी गए हैं । यह बात स्वीकार्य है कि असाधारण कवि प्रतिभा से युक्त होने के कारण अनेक अलंकार तुलसी की रचनाओं में स्वयमेव आ गए हैं, पर तुलसी की सम्पूर्ण अलंकारयोजना सहज ही है ऐसा मानना उनकी काव्यकला का तिरस्कार करना है । आचार्य शुक्ल ने उनकी सहज अलंकार योजना के पक्ष में ही अपनी धारणा व्यक्त की है, यद्यपि उन्होंने स्वयं तुलसी के काव्य में श्लेष, कूट, प्रहेलिका तथा परिसंख्या जैसे अतीव चमत्कार प्रधान अलंकारों की स्थिति देखी है जो सहज रूप से प्रयुक्त हो ही नहीं सकते । निश्चित है कि तुलसी ने उनकी योजना सायास ही की होगी । निष्णात कवि की सायास अलंकार-योजना में कोई विशेष बुद्धि-व्यायाम तो नहीं होता किन्तु उसमें कवि की इच्छा और प्रेरणा अवश्य सक्रिय रहती है ।

बड़े - बड़े सांगरूपकों तथा प्रतीप, व्यतिरेक, परिसंख्या आदि अलंकारों के योजक कवि को अलंकारों का सायास प्रयोक्ता न मानना उसके कविकर्म की अनदेखी करना है । अध्येताओं ने श्रद्धावश उन्हें सहज अलंकार प्रयोक्ता बताया है, किन्तु यह ध्यातव्य है कि कवि के लिए अलंकारों का सचेष्ट प्रयोग कोई हेय बात नहीं है । यदि तुलसी ने ऐसा किया है तो उससे उनका कवि रूप उभार ही हुआ है धूमिल नहीं । डॉ० श्याम-सुन्दरदास ने तुलसी द्वारा परिश्रमप्रभव अलंकारों की भी योजना की चर्चा की है ।[1] सायास अलंकार प्रयोग के ही गर्भ में अभिप्रायों के अनुसरण का गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है ।

---

१. डॉ० श्यामसुन्दरदास-गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १४४

२. विविध प्रकार कै अलंकारों का निबन्धन--

शब्दालंकार सादृश्य, विरोध शृंखला, गूढ़ार्थ आदि विभिन्न प्रकार कै अलंकारों का अस्तित्व काव्य मैं पहलै सै था । तुलसी नै भी उन्हें अभिप्राय या मौटिफ कै रूप मैं अपनाया । शब्दालंकार मैं छैकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास आदि भैद तथा उनकै भी उपभैद, यमक, श्लैष, भाषासमक, आदि विभिन्न प्रकार कै अलंकारों का निबन्धन गौस्वामी जी नै किया । यहाँ तक कि चित्रालंकार की सम्भावना भी उनकै काव्य मैं बतायी जाती है । डॉ० भुवनदैवकुमार नै मानस मैं कई चित्रबन्धों कै हौनै का उल्लैख किया है जैसै अश्वगतिबन्ध, दीपकन्दु छत्रबन्ध, सनालकमलबन्ध, त्रिशूलबन्ध, नागबन्ध आदि ।[१] चित्रालंकार निबन्धन काव्य का एक विशैष मौटिफ था, जिसकौ संस्कृत और हिन्दी कै अनैक कवियों नै आग्रह पूर्वक अपनाया भी । आश्चर्य नहीं कि तुलसी कै कविस्वभाव नै प्रच्छन्न रूप सै चित्रालंकार कै अभिप्राय का अनुसरण भी किया हौ । अन्य शब्दालंकारों मैं वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाश , आदि भी उनकै काव्य मैं भरै पड़ै हैं ।

अर्थालंकारों मैं सै भी तुलसी नै लगभग हर प्रकार कै अलंकारों का अपनाया है । सादृश्यमूलक अलंकारों मैं उपमा, रूपक, उत्प्रैक्षा, सन्दैह, भ्रान्तिमान, दृष्टान्त, निदर्शना, उल्लैख आदि की स्थिति उनकै काव्य मैं है । इन अलंकारों कै माध्यम सै रूप सादृश्य, वस्तु सादृश्य क्रियासादृश्य , गुण सादृश्य, भावसादृश्य आदि किया गया है । प्राय: काव्य मैं सादृश्यमूलक अलंकार ही प्रधान हौतै रहै हैं और उसमैं रूपसादृश्य विधानकरनै वालै अलंकार सर्वप्रधान । इसै भी अलंकार यौजना का एक मौटिफ ही माना जा सकता है जिसकी निश्शंक स्थिति तुलसी-साहित्य मैं भी है । पारम्परिक अप्रस्तुतों का प्रचुर मात्रा मैं ग्रहण भी रूपसादृश्ययौजना का मौटिफ है जिसकी चर्चा वर्णनात्मक अभिप्रायों कै अन्तर्गत प्रस्तुत प्रबन्ध मैं की जा चुकी है ।

सादृश्यमूलक अलंकारों मैं कुछ ऐसै भी दृष्टान्त तुलसी कै काव्य मैं हैं जिनका मूल कथ्य ही स्वयं मैं बहुत समय सै काव्य का मौटिफ बना रहा है । ऐसै कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं --

१. जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना । श्रवन रंध्र अहिभवन समाना ।
नयनन्हि संतदरस नहिं देखा । लोचन मोर पंख कर लेखा ।।

जो नहिं करै राम गुन गाना । जीह सो दादुर जीह समाना ।। रा० १।११३
२. भाउ कृपा मूरति अनुकूला । बोलत बचन भरत जनु फूला ।। रा० १।२८०
३. सुंदरता कहुँ सुंदर करई । छबि गृह दीप सिखा जनु बरई । रा० १।२३०

पहले उद्धरण में भगवद्भक्ति से विरत प्राणी को धिक्कारते हुए उसकी इन्द्रियों की उपमा हीन उपमानों से दी गई है जो भक्ति काव्य का एक अति प्रचलित अभिप्राय है । दूसरे उद्धरण की उत्प्रेक्षा के उपमान का कथ्य भी अभिप्रायात्मक है । और तीसरे उद्धरण का तो कहना ही क्या ? इसमें सीता-सौन्दर्य का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए उत्प्रेक्षा के माध्यम से उन्हें दीपशिखा के समान बताया गया है । कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में स्वयंवर सभा में चलती हुई इन्दुमती की उपमा संचारिणी दीपशिखा से दी है,[१] जो विश्व साहित्य में प्रसिद्ध है और जिसके कारण वे दीपशिखा कालिदास कहलाए । तभी से गौरवर्णा सुन्दरी स्त्री के लिए यह अप्रस्तुत प्रचलित हो गया ।

बड़े बड़े सांगरूपकों को बांधने की तो भक्तिकालीन काव्य में एक प्रथा सी बन गई थी, जिसका परिपालन तुलसी ने बड़े ही उत्साह के साथ रामचरितमानस, विनय-पत्रिका और कवितावली में किया है । रामचरितमानस का मानस-सरोवर रूपक, शशिकेशरी रूपक धर्मरथ रूपक, ज्ञानदीप रूपक तथा विनय-पत्रिका का मानसी-आरती और कामधेनु काशी-रूपक इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं । मानस में ऐसे सांगरूपकों की संख्या लगभग बीस है । व्यतिरेक, भ्रान्तापह्नुति, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार भी तुलसी के काव्य में परम्परानुसार आए हुए हैं ।

----

१. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ।। रघुवंश ६।६७

विरोधमूलक अलंकारों में विभावना, विरोधाभास, असंगति का न्यायमूलक अलंकारों में काव्यलिंग, यथासंख्य, परिसंख्या, प्रतीप, तद्गुण, उन्मीलित, का तथा तथा शृंखलामूलक अलंकारों में कारणमाला, एकावली आदि का यथोचित समावेश भी तुलसी के काव्य में है। कहने का आशय यह है कि सभी वर्ग के प्रतिनिधि अलंकारों को तुलसी ने अवश्य अपनाया है। उनकी इस सचेष्टता में अभिप्राय के निर्वाह का कुछ भी योग न हो ऐसा नहीं हो सकता। विविध वर्गों के अलंकार काव्यरसिकों की इसी काव्य-रसिकों की इसीप्रकार की विविध मनोवृत्ति को परितुष्ट करते हैं। यही कारण है कि कवि समाज में यथासम्भव सभी प्रकार के अलंकारों का थोड़ा बहुत व्यवहार रूढ़ि के रूप में मान्य है।

३. चमत्कारमूलक अलंकारों का प्रयोग -

कवियों की अलंकार-योजना का एक मुख्य उद्देश्य चमत्कार की उद्भावना भी होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाले अलंकार ही चमत्कारमूलक अलंकार होते हैं। इसमें प्राय: सभी शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों में भ्रान्तिमान, व्यतिरेक, व्याजस्तुति, अपह्नुति, विभावना, विरोधाभास, परिसंख्या, प्रतीप, मीलित, उन्मीलित, तद्गुण, अतद्गुण आदि अलंकार आते हैं। तुलसी ने इनमें से अधिकांश को अपनाया और परम्परानुसार चमत्कार की भी सृष्टि की। उनका चमत्कार सीमित तो अवश्य है पर अभिप्राय का निर्वाह तो उससे भी हो जाता है। तुलसी चमत्कारमूलक अलंकारों से सर्वथा पराङ्मुख नहीं थे। कम से कम इतनी मात्रा में तो उन्होंने ऐसे अलंकारों को अवश्य ही अपनाया है जिससे इस अभिप्राय का निर्वाह किया जा सके। कलाबाजी की प्रवृत्ति न होते हुए भी तुलसी में कवि की कलागत चेतना का अभाव न था। चमत्कारमूलक अलंकारों का समावेश परम्परा के उत्कृष्ट कवियों ने अपने काव्य में किया था और तुलसी ने भी किया। अभिप्राय की भावना ही इसके मूल में विद्यमान थी।

कथ्यविशेष के रूढ़ अलंकार -

यद्यपि अलंकार विशेष के लिए कथ्यविशेष की कोई सीमारेखा कभी निश्चित न थी फिर भी पूर्ववर्ती कवियों के अलंकार निबन्धन में इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम प्रचलित कर दिए थे, जो अधिक तर अपनाए जाने के कारण अभिप्राय के रूप में बदल गए।

[illegible] फलस्वरूप कुछ निश्चित अलंकारों के अपने प्रयोजन और कार्यनिर्धारित से हो [illegible] । ये नियम एक दम निरपवाद तो नहीं थे, पर चूँकि इनका उल्लंघन बहुत कम और पालन बहुत अधिक हुआ अतएव इन्हें अभिप्राय ही मानना संगत है । परवर्ती [illegible] ने इन्हें तदनुसार ही प्रयोग किया । अलंकार प्रयोग के क्षेत्र में ऐसे अभिप्रायों [illegible] ने भी अपने प्रयोग-बाहुल्य के माध्यम से स्वीकारा है । विशेष अलंकारों के [illegible] जो अभिप्राय हो गए थे और जिन्हें तुलसी ने भी काफी सीमा तक [illegible] माना, कुछ इस प्रकार हैं -

१. [illegible], अतद्गुण, उन्मीलित, प्रतीप आदि अलंकारों का व्यवहार प्राय: [illegible] के लिए ही होता रहा है । तुलसी-साहित्य में भी ये अलंकार इस [illegible] अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं । बरवै रामायण के प्रारम्भ में ऐसे अलंकारों की चारुता [illegible] हुई है जो सम्पूर्ण रूप से सौन्दर्य कथन के लिए ही है ।

२. [illegible] सांगरूपकों की योजना अध्यात्म भक्ति एवं दर्शन सम्बन्धी विषयों के [illegible] के लिए भक्तिकाव्य में होती थी । तुलसी के भी सांगरूपक अधिकतर इसी [illegible] हैं । [illegible] रूपकों को छोड़कर मानस और विनयपत्रिका के सभी बड़े बड़े [illegible] इसी कोटि में आएंगे जैसे धर्मरथ, ज्ञानदीप एवं भक्तिचिन्तामणि आदि ।

३. [illegible] अलंकार का प्रयोग प्राय: भक्तिकाव्य में ईश्वर की विलक्षण सत्ता, [illegible] और [illegible] के अंकन के लिए हुआ है, तुलसी ने भी इसका ऐसा ही [illegible] अधिकतर किया है । विभावना अलंकार का यह उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करता है --

> [illegible]नु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु कर्म करै बिधि नाना ।।
> आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।। रा०१।११८

इसमें ईश्वर के अमूर्त एवं प्रभावशाली रूप का अंकन हुआ है ।

४. परिसंख्या अलंकार की योजना राज्य की उत्तमता के प्रसंग में ही प्राय: होती रही । तुलसी ने भी राम-राज्य की उत्तमता पर अत्यधिक बल देते हुए इस परिसंख्या का प्रयोग किया है --

> दंड जतिन्ह कर भेद जहं नर्तक नृत्य समाज ।
> जीतिअ मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र के राज ।। रा० । ७।२२

निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि तुलसी के अलंकार-विधान में स्थान-स्थान पर अभिप्रायों की प्रेरणा काम करती है ।

३. भाषा-विनियोग में अभिप्राय --

भाषा काव्य का अत्यन्त प्रधान और अनिवार्य तत्त्व है । अन्य काव्यांगों की भाँति भाषा में भी अभिप्राय तत्त्व निहित मिलता है । किसी भी कवि के काव्य की भाषा किन परिस्थितियों में अभिप्रायात्मक होती है, यह यहाँ विचारणीय है । कवि की भाषा जब परम्परागत तत्त्वों का आधार ग्रहण करते हुए काव्य रचना का माध्यम बनती है तो उसे भाषा में अभिप्राय-तत्व की सन्निहित मानना चाहिए । प्रयोग की बहुलता के कारण ही ये तत्त्व भाषा के मोटिफ बन जाते हैं । भाषा में अभिप्रायों का आगमन कई परिस्थितियों के कारण सम्भावित रहता है । रचयिता के समय में यदि भाषा का कोई विशिष्ट स्वरूप बना रहता है तथा काव्य-रचना के लिए प्रचलित रहता है तो उसका ग्रहण भाषा के क्षेत्र में मोटिफ का अनुसरण माना जायगा । कभी-कभी दीर्घकाल तक साहित्य में ऐसी परम्परा देखने को मिलती है जिसके कारण विशेष काव्यरूप के साथ विशेष भाषा का रूढ़ व्यवहार चलता रहता है । भाषा-तत्व की शास्त्रीय गवेषणा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रस, गुण, रीति आदि तत्वों द्वारा भी काव्य में भाषा का नियमन और निर्धारण होता है, इसलिए इन तत्त्वों से सम्बद्ध नियमों का कवि द्वारा आचरण भी भाषागत अभिप्राय विवेचन की परिधि में आएगा । इसके अतिरिक्त कवि की शब्दावली भी बहुत कुछ रूढ़ पथ पर चलती हुई देखी जाती है । काव्य में आरम्भ , अन्त आदि स्थलों के विचार से भी भाषा की अभिप्रायात्मकता का स्पष्ट आभास मिलता है । भाषा में अभिप्राय-तत्त्व के समावेश का परिज्ञान इन्हीं कुछ तथ्यों का आधार ग्रहण करके किया जा सकता है ।

तुलसी के काव्य की भाषा में निहित अभिप्रायों का बोध हम इसी दृष्टिकोण से कर रहे हैं । यहाँ संक्षेप में उनकी भाषा में पाए जाने वाले कुछ उल्लेखनीय अभिप्रायों को ही रेखांकित किया जा रहा है -

तुलसी का जन-भाषा प्रयोग --

यद्यपि तुलसी संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे तथापि उन्होंने अपने काव्य में जन-भाषा का व्यवहार किया है । जन-भाषा से आशय उस भाषा से है

को रूप सामान्य उस समय व्यवहार में लाता था । दीर्घकाल तक काव्य के लिए संस्कृत भाषा का व्यवहार होता रहा किन्तु एक समय ऐसा भी आया जब कवियों ने काव्य के लिए जन भाषा के व्यवहार की परम्परा चलायी । इस तरह मध्यकाल के बहुत पहले ही काव्य के लिए भाषा का एक नवीन अभिप्राय अस्तित्व में आ गया था जिसके फलस्वरूप काव्यरचना में संस्कृत का त्याग और जन भाषा के ग्रहण की रीति की परम्परा पर कवि उद्यत दिखायी देने लगे । इस जन भाषा के पालि, प्राकृत, अपभ्रंश डिंगल आदि अनेक रूप साहित्य में समय-समय पर स्थान पा चुके हैं । तुलसी ने अवधी और ब्रजभाषा को अपनाया, जो जन भाषा ही थी । संस्कृत के अतिरिक्त जब जनभाषा को काव्य में स्थान मिला तो उसे 'भाषा' कहा गया । तुलसी ने भी अपनी भाषा को 'भाषा' और 'ग्राम्य-गिरा' संज्ञा दी है । निम्नलिखित पंक्तियाँ इस तथ्य की सूचना देती हैं --

क. भाषाबद्ध करबि मैं सोई । मोरे मन प्रबोध जेहि होई ।। रा० ।१।३१

ख. भाषा भनिति भोरि मति मोरी । हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी । रा०१।

ग. भाषा बद्धमिदं चकार तुलसी दासस्तथामानसम् । रा० ७।१३१

घ. गिरा ग्राम्य सिय रामजस गावहिं सुनहिं सुजान ।। रा० ।१।१०

एक दीर्घकालिक अभियान के रूप में बहुत समय तक काव्य-भाषा के क्षेत्र से संस्कृत के बहिष्कार और जनभाषा के ग्रहण की धारा चलती रही । फलस्वरूप उस युग में ग्राम्यभाषा, जनभाषा अथवा लोकभाषा का ग्रहण काव्य के लिए भाषा विषयक एक नवीन अभिप्राय बन गया था । तुलसी ने इसी नवीन पथ का अनुसरण किया तुलसी के सात-आठ सौ वर्ष पहले से ही यह पथ निर्मित हो रहा था । यह कहना असंगत होगा कि उन्होंने संस्कृत में काव्य-रचना न करके जनभाषा को अपनाकर कोई नया कदम उठाया अथवा नवीन प्रयोग किया । वस्तुत: जनभाषा को अपनाकर उन्होंने मात्र एक निर्मित पथ का अनुसरण ही किया है, इसीलिए तुलसी के द्वारा जनभाषा का व्यवहार भाषा विषयक एक अभिप्राय को अपनाने का ही द्योतक है । डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने तुलसी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में जनभाषा-प्रयोग की इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए लिखा है -" तुलसी की यह प्रवृत्ति नई न होकर साहित्य में लोक

व्यवहार की एक देशव्यापी परम्परा के भीतर आती है । यह परम्परा उनके

पहले से चली आ रही थी और इसके प्रमुख प्रवर्तक थे धर्म प्रचारक संत एवं भक्त जिन्हें जनता के संस्कृत ज्ञान के स्तर की कमी को देखकर ऐसा जान पड़ा कि साहित्यिक संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा के माध्यम से ही अपने संदेश एवं उपदेशों का प्रकाशन अधिक उपयोगी एवं सुविधा जनक होगा ।"[१]

जनभाषा के ग्रहण की इस परम्परा का सूत्रपात कब और किन परिस्थितियों में हुआ यह तो एक स्वतंत्र और विस्तृत विषय है जिसके लिए यहां अवकाश नहीं । संक्षेप में इतना ही विदितव्य है कि इस परम्परा का सूत्रपात तभी से हुआ जब पालि भाषा में भगवान बुद्ध जैसे महापुरुष की वाणी निबद्ध हुई । प्राकृत और अपभ्रंश काल में आकर यह प्रयत्न मुखर हो गया । अपभ्रंश के कवियों में तो यह प्रवृत्ति आ गई कि वे जनभाषा के प्रयोग करने के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण भी देने लगे । इस प्रकार का स्पष्टीकरण देना भी एक मोटिफ बन गया और तुलसी ने इसे भी अपने काव्य में अपनाया । मानस की जिन पंक्तियों को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं वे इस तथ्य को पुष्ट करती हैं । तुलसी के पूर्व जनभाषा की ओर झुकने और उसके प्रयोग के बारे में इस तरह का स्पष्टीकरण देने की संयुक्त प्रथा बहुत समय से चल रही थी । डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने चरित-काव्यों में इस रूढ़ि के व्यापक सन्निवेश की ओर संकेत किया है ।[२] अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध कवि स्वयंभूदेव ने इसी जनभाषा को 'देसी-भाषा'[३] विद्यापति ने 'देसिल बअना'[४] और ने 'बहता नीर'[५] आदि कहकर काव्य के लिए इसकी उपादेयता पर बल दिया है । तुलसी ने रामसाम्प्रयिक काव्य में परम्परा से चले आ रहे इस अभिप्राय

----

१. डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव-तुलसीदास की भाषा-विषय-प्रवेश की पृष्ठ संख्या ५

२. शम्भुनाथ सिंह-हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप-विकास, पृ० २००

३. देसी-भाषा-उभय तडुज्जुल । कवि दुक्करघणसद्द-सिलायल ।

--राहुल सांकृत्यायन द्वारा संकलित और संपादित

हिन्दी काव्य-धारा के पृ० २६ से उद्धृत ।

४. विद्यापति-कीर्तिलता (डॉ० बाबूराम सक्सेना द्वारा सम्पादित), प्रथम पल्लव, पृ० ६

५. संस्कृत है कूप जल भाषा बहता नीर ।

को और भी निर्भीकता एवं सुरुचि से अपनाया । जनभाषा में काव्य रचना करने की सूचना उन्होंने ब्रजभाषा में ही नहीं दी अपितु मानस में देववाणी में इसकी स्पष्ट घोषणा की है —

भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति । रा०।१।मं०—७

२. काव्यरूप और भाषागत अभिप्राय —

तुलसी के युग में काव्य रूप से सम्बन्धित भाषा विषयक अभिप्राय भी अस्तित्व में थे । सम्पूर्ण मध्यकाल में दो ही भाषाएं प्रधानतः काव्य में अपनायी गयी हैं अवधी और ब्रजभाषा । मुक्तक और प्रबन्ध के लिए ये भाषाएं अलग-अलग रूढ़ हो गयीं और इस आधार पर दो अभिप्राय अस्तित्व में आए —

१. मुक्तक-काव्य के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग
२. प्रबन्ध-काव्य के लिए अवधी भाषा का प्रयोग

भक्तिकाल के अधिकांश काव्य पर इस अभिप्राय की व्यापक छाया स्पष्ट है । वैसे इसके अपवाद भी प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं लेकिन गुण और मात्रा दोनों दृष्टियों से ये अपवाद इतने सशक्त नहीं हैं कि इस अभिप्राय को मिथ्या प्रमाणित कर सकें । ब्रजभाषा में कुछ प्रबन्ध रचना का प्रयास दृष्टिगत हो सकता है और सम्भवतः उससे भी अधिक मुक्तक रचनाएं अवधी में मिल सकती हैं, किन्तु न तो ब्रजभाषा में कोई अच्छा प्रबन्ध कवि हुआ और न अवधी में कोई उत्कृष्ट मुक्तक कार । जिस कवि का इन दोनों में से किसी एक ही भाषा से विशेष लगाव था उसमें एक ही काव्यरूप को अपनाया । विचारणीय है कि ऐसा क्यों हुआ , सूर ने प्रबन्ध लिखने की चेष्टा क्यों नहीं की तथा जायसी मुक्तक रचना की ओर प्रेरित क्यों नहीं हुए । इसके और चाहे जितने कारण रहे हों पर एक प्रधान कारण साहित्य जगत में प्रचलित यह अभिप्राय भी अवश्य था । ऐसे कवियों द्वारा मात्र मुक्तक अथवा मात्र प्रबंध काव्य की रचना इस अभिप्राय की सत्यता का ~~अह-है-कि~~ प्रमाण है किन्तु उससे भी बड़ा प्रमाण इसकी सत्यता का यह है कि उसी युग में तुलसी ऐसे महान कवि थे जिनका ब्रज और अवधी दोनों भाषा पर समान अधिकार था , फिर भी उन्होंने अपने सभी बड़े मुक्तक काव्यों की रचना ब्रजभाषा में ही की और सभी प्रबन्धों की रचना अवधी में ।

भाषा की दृष्टि से तुलसी की रचनाओं के दो वर्ग हैं --

१. अवधी की रचनाएं --इसकी प्रतिनिधि रचना रामचरित मानस है अन्य रचनाओं में पार्वती मंगल जानकी-मंगल, बरवै रामायण, रामलला नहछू, और रामाज्ञा प्रश्न हैं।

२. ब्रजभाषा की रचनाएं - इसकी प्रतिनिधि रचना कृष्ण-गीतावली, दोहावली और वैराग्य संदीपिनी।

अवधी और ब्रजभाषा के भी उपवर्ग हैं जिनका प्रतिनिधित्व तुलसी की रचनाओं में हुआ है, किन्तु विवेच्य विषय की दृष्टि से उसका उल्लेख अनावश्यक है। ऊपर रचनाओं के जिन दो प्रमुख वर्गों का उल्लेख हुआ उनमें अवधी की रचनाओं में बरवै रामायण, रामलला नहछू और रामाज्ञा प्रश्न ये तीन कृतियां मुक्तक हैं, जिन्हें विवेच्य अभिप्राय के अपवाद के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु तुलसी की अन्य मुक्तक रचनाओं की तुलना में ये तीनों ही बहुत छोटी हैं। उस युग में इस अभिप्राय के जो अपवाद थे उनमें यह देखा जा सकता है कि ब्रजभाषा में प्रबन्ध रचनाएं बहुत कम हुईं और जो हुईं भी वे असफल रहीं जब कि उसकी अपेक्षा अवधी में मुक्तक रचनाएं अपेक्षाकृत अधिक हुईं और वे आंशिक रूप से सफल भी रहीं। कुछ ऐसा ही अनुपात तुलसी-साहित्य में इस अभिप्राय के अपवाद का है। उन्होंने ब्रजभाषा में तो कोई भी प्रबन्ध नहीं रचा पर अवधी में उक्त तीन मुक्तक रचे जो अन्य मुक्तक रचनाओं की तुलना में तो द्वितीय कोटि के ही हैं पर जिन्हें आंशिक सफलता अवश्य मिली है। इन तीनों रचनाओं पर प्रबन्ध का प्रभाव है जो इस अपवाद को और भी निर्बल बना देता है और अभिप्राय को दृढ़ता प्रदान करता है। वैराग्य-संदीपिनी में दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग है और रामाज्ञा-प्रश्न में मात्र दोहे का। ये दोनों ही काव्यशैली विषयक अभिप्राय के अनुसार प्रबन्ध काव्य के छन्द थे, जिसका उल्लेख हम आगे यथा-स्थान करेंगे। बरवै रामायण में भी कथा तत्वों के मिलने से दोहावली और विनय-पत्रिका की भांति उसे विशुद्ध मुक्तक नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह है कि भक्ति-काल में इस अभिप्राय ने गहराई से जड़ जमा लिया था और तुलसी ने अत्यन्त स्वल्प अपवाद के साथ इसका अनुसरण अपनी रचनाओं में किया।

जिस प्रकार जनभाषा प्रयोग सम्बन्धी अभिप्राय को स्वस्थ काव्य-चिन्तन पर आधारित किया गया, ठीक उसी प्रकार यह अभिप्राय भी स्वस्थ काव्य चिन्तन पर आधा

रित है । न तो ब्रजभाषा की प्रकृति प्रबन्ध रचना के अनुरूप थी और न ही अवधी की प्रकृति मुक्तक रचना के अनुरूप । पहला तथ्य तो विशेष रूप से कवियों के समक्ष एक प्रधान समस्या बना रहा । इसका कारण बहुत पहले ब्रजभाषा को ही अपरिहार्य रूप से काव्य-भाषा मानना था । तुलसी ने अपने प्रधानग्रन्थ 'रामचरित मानस' के लिए अवधी का चयन इसी सूझबूझ के आधार पर किया होगा । सूफी-काव्य भी उनके समक्ष इसके प्रेरक दृष्टान्त के रूप में विद्यमान थे । डॉ० श्यामसुन्दर दास ने काव्य के लिए रूढ़ ब्रजभाषा तथा प्रबन्ध के लिए किसी अन्य उपयुक्त भाषा की युगीन आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट करके तुलसी आदि कवियों द्वारा उसके व्यवहार की विस्तृत चर्चा की है ।[१] जब अवधी का आगमन जायसी, तुलसी आदि कवियों के प्रयास से काव्य में हुआ, तो पुराना अभिप्राय संशोधित होकर एक नया अभिप्राय बन गया और मात्र ब्रजभाषा ही काव्य-भाषा नहीं रह गई । अवधी प्रबन्धों की तथा ब्रजभाषा मुक्तकों की भाषा बन गई ।

२ काव्य-गुणों में भाषा विषयक अभिप्राय -

यद्यपि काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में १० काव्य गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है, फिर भी काव्य के प्रमुख गुण तीन ही हैं -

माधुर्यौजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ।[२]

अर्थात् माधुर्य ओज और प्रसाद । इन काव्यगुणों में भी भाषा सम्बन्धी अभिप्राय का

---

१. "उस समय काव्य की प्रचलित भाषा ब्रजभाषा थी। वैष्णवों ने इसी को अपनाया था । सूरदास ने सूरसागर के पद इसी भाषा में रचे थे । गोस्वामी जी ने पहले इसी में फुटकर रचना करना आरम्भ किया । उन्होंने गीतावली विनयपत्रिका और कवितावली का अधिकांश ब्रजभाषा में ही लिखा है, परन्तु ब्रजभाषा फुटकर छंदों के लिए उपयुक्त थी । उसमें अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं लिखा गया था, अतएव जब वे रामचरित को प्रबन्ध रूप में लिखने बैठे तब उन्हें दूसरी भाषा ढूंढ़ने की आवश्यकता हुई । जब हम देखते हैं कि आगे चलकर जिन-जिन लोगों ने ब्रजभाषा में प्रबन्ध काव्य लिखने का प्रयत्न किया वे सब असफल रहे जब हमें गोस्वामी जी के ब्रजभाषा में प्रबन्ध काव्य न लिखने के निर्णय का औचित्य जान पड़ता है । ब्रजविलास आदि प्रबन्ध काव्य कभी जनता में सर्वप्रिय न

सन्निवेश प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है । प्रत्येक काव्यगुण से युक्त प्रसंग में भाषा भिन्न होती है । तीनों काव्य गुणों के अनुरूप भाषा के निम्नलिखित तीन रूप उल्लेखनीय हैं ।

१. माधुर्य गुण युक्त प्रसंगों में कोमलकान्त पदावली एवं मधुर नाद-युक्त शब्दावली का प्रयोग ।

२. ओजगुण युक्त प्रसंगों में क्लिष्ट एवं कर्कश शब्दावली का प्रयोग

३. प्रसाद गुणयुक्त प्रसंगों में सामान्य, मध्यम शब्दावली का प्रयोग ।

इन तीनों में प्रथम दोनों अभिप्राय विशेषत: ध्यातव्य हैं । जयदेव के गीतों में विद्यापति के शृंगारिक पदों में सूर तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों के लीलाविषयक माधुर्य गुण प्रधान पदों में आमतौर से सुकुमार एवं कोमल शब्दावली का प्रयोग है । माधुर्य की दृष्टि से किसी विशिष्ट प्रसंग में इस तथ्य की जाँच करें तब तो यह बात और भी पुष्ट हो जायगी । इसी तरह चन्दवरदाई तथा अन्य वीरगाथा - कवियों के काव्यों में ओजपूर्ण प्रसंगों की ही भरमार है और कर्कश श्रुतिकटु, संयुक्तवर्णों तथा द्वित्व वर्णों प्रधान शब्दावली का प्रयोग है । इन कवियों की डिंगल भाषा में यह अभिप्राय निहित है । काव्यगुणों में भाषा का यह अभिप्राय सदैव मिला रहता है । तुलसी-साहित्य में भी यह अभिप्राय अपने तीनों अंगों के सहित विद्यमान है । यहाँ हम इनकी पृथक्-पृथक् गवेषणा करेंगे ।

१. माधुर्य गुणयुक्त प्रसंगों की सुकुमार शब्दावली -

ऐसी शब्दावली तुलसी के काव्य में बाललीला एवं विवाह के प्रसंगों में मिलती है । गीतावली और रामचरित मानस के बालकाण्ड में, बरवै रामायण और कवितावली के भी बालकाण्ड में, मानस के उत्तरकाण्ड में तथा अन्यत्र छिटपुट रूप से पाई जाती है । कोमल प्रकृति की भाषा होने के कारण ऐसे प्रसंगों में मैथिली, बंगला और ब्रज-भाषा के शब्दों को अपनाकर तुलसी ने इस अभिप्राय को दृढ़ता के साथ अपनाया है । एक दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं -

१. बिधुबदनी सब सब मृदुलोचनि । सब निज तन छबि रति मदु मोचनि
पहिरे बरन बरन बर चीरा । सकल बिभूषन सजें सरीरा ।।
सकल सुमंगल अंग बनाएं । करहिं गान कल कोकिल लजाएं ।।
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं । चाल बिलोकि कामगज लाजहिं ।।रा०१।३४८

२.　　दूलह राम सीय दुलही री ।
　　घन-दामिनि-बर बरन हरन-मन सुंदरता नखसिख निबही री ।। गी०।१।१०४

मधुर नाद उत्पन्न करने के लिए अनुस्वार युक्त पदावली का भी प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है ।

2. ओज गुण-युक्त प्रसंगों की कर्कश शब्दावली -

ऐसी शब्दावली प्राय: युद्ध के प्रसंगों में है । रामचरित मानस और कवितावली के लंकाकाण्ड में ऐसे शब्द प्रचुरता से पाए जाते हैं । चन्दवरदायी आदि कवियों की भाषा की स्पष्ट छाया भी कहीं-कहीं ऐसे प्रसंगों में मिलती है । इस अभिप्राय को लाने के लिए तुलसी ने ओजपूर्ण प्रसंगों में महाप्राण ध्वनियों, संयुक्त व्यंजनों, द्वित्व वर्णों, ट वर्गीय वर्णों तथा प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के कठोर शब्दों का व्यवहार बहुलता से किया है । दो उदाहरण प्रस्तुत हैं -

१.　　कतहुं बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत ।
　　कतहुं बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत ।।
　　चरन चोट चटकन चकोट अरि उर धरि बज्जत ।
　　बिकट कटक बिद्दरत बीरबारिद जिमि गज्जत ।। क०।६।४७

२. जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं । भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं ।।
　जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं । खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं ।।
　कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डल्लहिं । सीस परे महिं जय जय बोल्लहिं ।। रा०६।८८

दोनों उदाहरण क्रमश: कवितावली और रामचरित मानस के लंकाकाण्ड से दिए गए हैं । इन्हें पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे हम कोई आदिकालीन वीरकाव्य पढ़ रहे हों । इन ओज पूर्ण प्रसंगों में ऐसी कठोर शब्दावली का व्यवहार तुलसी ने अभिप्राय की ही प्रेरणा से किया ।

३. प्रसाद गुण-युक्त प्रसंगों की सरल एवं सामान्य भाषा -- ओज और माधुर्य मूलक प्रसंगों के अतिरिक्त शेषांश किसी न किसी रूप में प्रसाद गुण की ही परिधि में आता है । कविराज विश्वनाथ के अनुसार सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय ऐसे

सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण के व्यंजक होते हैं ।[१] चूँकि काव्य में प्रसाद गुण की स्थिति अन्य दो गुणों की अपेक्षा अधिक सहज और विस्तृत होती है, इसलिए इसमें भाषा सम्बन्धी मौटिफ का वैसा आग्रह नहीं मिलता । फिर भी तुलसी ने यथा-स्थान प्रसादगुणानुरूप भाषा का व्यवहार किया ही है, चाहे वह सहज रूप से हो गया हो या सचेष्ट होकर किया गया हो ।

३. संस्कृत का अल्प प्रयोग --एक अभिप्राय --

जिस तरह आदि काल और भक्ति काल में काव्य-भाषा के रूप में जन-भाषा को अपनाने की धारणा अभिप्राय बन गई थी उसी प्रकार काव्य में कहीं - कहीं संस्कृत का अल्पप्रयोग करना या संस्कृत शब्दावली का पुट देना भी एक अभिप्राय ही था । प्रधान रूप से जन-भाषा को अपनाने के साथ -साथ तुलसी ने इस अभिप्राय को यथेष्ट मात्रा में अपनाया है । बहुधा स्तुति एवं मांगलिक प्रसंगों में कवियों ने या तो संस्कृत या संस्कृत-निष्ठ पदावली का व्यवहार किया है । मानस में काण्डों के आरम्भ में तुलसी ने संस्कृत का प्रयोग किया है और बीच-बीच में स्तुतिपरक प्रसंगों में प्राय: भाषा में संस्कृत का पुट दिया गया है तथा अनुस्वार मिसी मदि पदावली का प्रयोग है । विनयपत्रिका के आरम्भ में लगभग पचास स्तुतियाँ है जिनमें विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ सामासिक शब्दावली प्रयुक्त है । जो कवि संस्कृत भाषा के पण्डित नहीं थे उन्होंने भी चेष्टापूर्वक इस अभि-प्राय को अपनाया, फिर तुलसी तो संस्कृत के विज्ञ पण्डित थे ही अतएव उनके द्वारा इस रूढ़ि का सुरुचिपूर्वक अपनाया जाना स्वाभाविक ही था ।

४. मुहावरों और लोकोक्तियों में अभिप्राय-तत्त्व --

लोकोक्तियां और मुहावरे भी रूढ़ अर्थ के वाहक होते हैं । सदैव इनके व्यंग्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ का ग्रहण ही रूढ़ होता है अभिधार्थ का नहीं । दूसरी बात

---

१. स प्रसाद: समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधका: श्रुतिमात्रत: ।।
साहित्यदर्पण ६।८

यह कि ऐसी व्यंग्यमयी उक्तियाँ अथवा कथन जब तक पुराने और परम्परा में भलीभाँति प्रचलित नहीं हो जाते तब तक उन्हें मुहावरे और लोकोक्तियाँ नहीं माना जाता । इससे इनकी अभिप्रायात्मकता असंदिग्ध है । कहना तो यह चाहिए कि अभिप्राय मुहावरों और लोकोक्तियों के प्राण हैं । बिना अभिप्राय के ये दोनों ही निर्जीव और अस्तित्वहीन हैं । यद्यपि अभिप्राय का तत्त्व दोनों में विद्यमान होता है तथापि लोकोक्तियों में यह मुहावरों की अपेक्षा अधिक प्रभावी रहता है ।

काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग आवश्यक रूप से किया जाना भी काव्य की एक रूढ़ि थी । न्यूनाधिक मात्रा में सभी कवियों ने इसका निर्वाह भी किया है । तुलसी के काव्य में प्रचुर मात्रा में मुहावरों और लोकोक्तियों का समावेश भी अभिप्राय पालन का द्योतक है । ये जन साधारण से सम्बद्ध होते हैं और जन-भावना के आग्रही कवि तुलसी ने इन्हें बड़े ही चाव से ग्रहण किया है । कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं --

मुहावरे --

१. भरी भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ।।

रा० १।१३७

२. हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती । नाहि त मौन रहब दिन राती ।। रा० २।१६

३. ऐसी झूठ जैसी गाँठि पानी परे सन की ।

४. सोचत हृदय-सनेह-बिबस निसि, नृपहिं गनत गए तारे । गी० । १।६६

५. मुएँ लाए मूड़हि चढ़ी अन्तहु अहिरिनि तू सधी करि पाई ।। कृ०गी० । ८

लोकोक्तियाँ --

१. बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा । रा० १।९६

२. मोहि तो सावन के अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो । वि०प० । २३६

३. धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को ।। क० । ७।६६

४. चोरहि चांदनि राति न भावा । रा० । २।११

५. इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं । जे तरजनी देखि मरि जाहीं । रा०१।२७३ ।

५. शब्द-समूह में अभिप्राय-तत्व --

तुलसी के शब्दसमूह में भी अभिप्राय का प्रभाव दृष्टिगत होता है । उनका शब्दसमूह बहुत सीमा तक रूढ़ धारणाओं पर प्रतिष्ठित है । इसके अन्तर्गत दो बातें ध्यातव्य हैं । पहली तो यह कि कुछ व्यापक अर्थ की सम्भावना रखने वाले शब्दों का व्यवहार परम्परा से रूढ़ अर्थ में चला आ रहा था, और तुलसी ने भी उसका वैसा ही व्यवहार किया । दूसरी बात यह है कथ्य विशेष या विषय विशेष के सन्दर्भ में भी कुछ रूढ़ शब्दावली पायी जाने लगी थी जिसे तुलसी ने भी उसी प्रकार अपनाया । उनकी भाषा में ये दोनों परम्पराएं घटित होती हैं और इसी कारण उनका शब्द-समूह अभिप्राय-तत्त्व से भरपूर माना जा सकता है । संक्षेप इस अभिप्राय का सोदाहरण विवेचन अधोलिखित है -

१. रूढ़ अर्थ से युक्त शब्दावली --

यथा अंबुधर(बादल) अप्रमेय (ईश्वर) अरुनसिखा (मुर्गा)आशुतोष(शिव) गरुण(पुराणों में चर्चित पक्षिराज) आदि ।

२. कथ्य विशेष से सम्बद्ध रूढ़ शब्दावली --

क. संस्कारों के वर्णन की शब्दावली-नंदीमुख, सराध, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरन, छठीं, बारहीं, नहछू, नाखुर, झालर, मंडव, बरायन,मौर, नाइनि, कहार, सहनाई, अगवानी, बेदी, जनवासा, परिछन,दाइज,कन्यादान, साखोच्चारु, पानि-ग्रहन आदि ।

ख. उत्सव - त्यौहार के वर्णन की रूढ़ शब्दावली- यथा झूलावर्णन में हिंडोलना,सावन मलार,तथा होली के वर्णन में फाग,ताल,झांझ ,डफ,अबीरनि, फगुआ, पिच-कारि आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है ।

ग. युद्ध-वर्णन की रूढ़ शब्दावली -- यथा गर्जहिं-तर्जहिं, संख, निसान, सक्ति, सर, कृपान, भेरि, कोलाहल आदि ।

घ. व्यवसाय की रूढ़ शब्दावली - यथा बटपार, बनिक, मूरु, किसान, किसवी, दर्जी आदि ।

ह०. भक्ति-दर्शन से सम्बद्ध रूढ़ शब्दावली –

यथा निर्गुन, सगुन, द्वैत, अद्वैत, निरंजन, अपवर्ग, निर्विकल्प, आवागमन, परमपद, परमानन्द, बंधन, भ्रम, माया, मृगबारि, कैवल्य, निराकार, भवसिंधु आदि।

ऊपर जो शब्दावलियाँ प्रस्तुत की गई वे इस बात की साक्षी हैं तुलसी का शब्द समूह काव्यधारा के परम्परित शब्दसमूह का पर्याप्त सीमा तक [illegible] ग्रहण करता है। यह तुलसी की काव्यभाषा में अभिप्राय-तत्व की व्यापक स्थिति का द्योतक है। उनकी काव्य-भाषा पर अभिप्राय की छाया और भी सूक्ष्मस्तर तक पड़ी हुई प्रतीत होती है। ग्रन्थ के आरम्भ में किस प्रकार की उभरती हुई विकासोन्मुख भाषा के व्यवहार की, मध्य में किस प्रकार द्रुतगति से चलती हुई भाषा के व्यवहार की तथा अन्त में किस प्रकार स्थिर और मन्दगतियुक्त भाषा के व्यवहार की परम्परा है। इसका पूरा-पूरा ध्यान तुलसी ने अपनी सभी रचनाओं में रखा है। इस तरह की और भी अनेक बातें भाषा-विषयक अभिप्राय के अन्त:पक्ष का परिचय देती हैं।

४. छन्द-विधान एवं काव्य-शैली में अभिप्राय --

अन्य काव्यांगों की भाँति छन्द एवं काव्य शैली में भी तुलसी ने परिपाटी का पालन किया है जो तुलसी-साहित्य में उन काव्यांगों के अन्तर्गत अभिप्राय की स्थिति का परिचायक है। अपनी रचनाओं के हेतु छन्दों के चयन में तो तुलसी ने रूढ़ि का अनुसरण किया ही, उन्होंने अपने समय में काव्य में चल रही लगभग सभी काव्य शैलियाँ भी अपनायीं जो छन्दों के आधार पर निर्मित हुई थीं और परम्परा की वस्तु थीं।

छन्द-विधान में अभिप्राय --

तुलसी ने छन्दविधान में भी कई प्रकार से अभिप्राय का सहारा लिया है –

क. काव्य रूपानुसार छोटे बड़े छन्दों के व्यवहार की रूढ़ धारणा का अनुसरण इसके दो पहलू हैं --

१. प्रबन्ध रचनाओं के लिए छोटे छन्दों के व्यवहार की परम्परा।

२. मुक्तक रचनाओं के लिए बड़े छन्दों के व्यवहार की परम्परा काव्य में छोटे छन्दों का

प्रयोग प्रबन्धों में तथा बड़े छन्दों का प्रयोग मुक्तक रचनाओं में हुआ करता था । यह नियम यद्यपि समूचे काव्य पर निरपवाद रूप से घटित नहीं होता । फिर भी इसका ~~इसका~~ इतना प्राधान्य है ही कि इसे अभिप्राय मानने में किंचिदपि संकोच नहीं होता । छोटे छन्दों में अधिकतर मात्रिक छंद और उनमें भी दोहा-चौपाई तुलसी साहित्य के प्रमुख छंद हैं । रामचरितमानस उनका सर्वश्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य है, जिसमें इन्हीं दोनों छन्दों की प्रधानता है । तीसरा स्थान सोरठा छन्द का है जो आकृति में दोहे से ही सम्बद्ध है । ये तीनों छन्द रामचरितमानस में बहुरंग कमल कुल की तरह हैं ।[1] प्रबन्धों में घटनाओं के गत्यात्मक प्रस्तुतीकरण की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है जिसकी पूर्ति के लिए बड़े छन्दों की अपेक्षा छोटे छन्द अधिक उपयुक्त होते हैं । इसी कारण से प्रबन्धों के लिए छोटे छन्दों का व्यवहार काव्य में मोटिफ बन जाता था । तुलसी की प्रबन्ध रचनाओं में मानस के अतिरिक्त ~~रामललानहछू~~, पार्वतीमंगल, और जानकीमंगल भी आते हैं, जिनमें हंसगति छन्द का प्रयोग प्रधानता से हुआ है । यह भी छोटे छन्दों में ही परिगणनीय है । इन तथ्यों से यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि प्रबन्ध रचनाओं में छोटे छन्दों के बहुधा प्रयोग का अभिप्रायात्मक नियम तुलसी को भी मान्य है ।

तुलसी के प्रबन्धों में इस अभिप्राय का अपवाद भी देखने को मिलता है । मानस में हरिगीतिका नगस्वरूपिणी शार्दूलविक्रीडित और वसन्ततिलका जैसे बड़े छन्दों का प्रयोग तथा नहछू के अतिरिक्त अन्य दोनों खण्डकाव्यों (जानकीमंगल व पार्वती मंगल) में हरिगीतिका छन्द का प्रयोग इस का प्रमाण है । किन्तु इन अपवादों के होते हुए भी तीन कारणों से अभिप्राय चरितार्थ हो जाता है । पहला कारण तो यह कि इन कृतियों में ये छन्द प्रधान न होकर गौण हैं । दूसरा कारण यह कि सर्वत्र प्रबन्ध रचनाओं में बड़े छन्दों का व्यवहार वहीं हुआ है जहां गत्यात्मकता न होकर ठहराव की स्थिति है और तीसरा कारण यह कि इन बड़े छंदों का प्रबन्धों में समावेश भी दूसरे अभिप्राय के प्रभाव से किया गया है जिसकी चर्चा हम यथास्थान आगे करेंगे ।

----

१. छंद सोरठा सुंदर दोहा । सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ।। रा० ।१।३७.

ख. मुक्तक रचनाओं में बड़े छन्दों का व्यवहार -

तुलसी ने अपने मुक्तक काव्यों में कुछ बड़े-बड़े छन्दों का व्यवहार किया है उदाहरण के लिए कवितावली, गीतावली कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका के छन्द। बड़ी मुक्तक रचनाओं में कहीं कहीं और छोटी मुक्तक रचनाओं में प्राय: सर्वत्र छोटे छन्दों का प्रयोग भी है। यह इस अभिप्राय से परे एक स्वतन्त्र बात है, और तुलसी की काव्यप्रतिभा का विशिष्ट प्रमाण भी। बड़ी मुक्तक रचनाओं में बड़े छन्दों के प्रयोग का कारण अभिप्राय को ही मानना युक्तियुक्त लगता है। कवितावली में सवैया, रूपघनाक्षरी, मनहरण, छप्पय और झूलना नामक जिन पांच छन्दों की योजना हुई है वे सभी बड़े छन्दों की कोटि में हैं। डॉ० उदयभानु सिंह ने कहा है कि मुक्तक काव्यरचना के लिए इन छन्दों का चुनाव परम्परानुरूप है।[१] तुलसी के गीतिकाव्यों में वैसे तो कई छंद हैं पर उनमें पद ही सर्वप्रधान है। इस प्रकार उन्होंने अपनी चार मुक्तक रचनाओं में बड़े छन्दों के अभिप्राय के अनुसार आचरण किया है।

इस अभिप्राय के अपवाद भी उनके काव्य में ही प्राप्त होते हैं। विनयपत्रिका में चौपाई, पादाकुलक, अरिल्ल, पद्धरी आदि कई छोटे छोटे छन्दों का प्रयोग हुआ है। छोटी मुक्तक रचनाओं में तो मुख्यत: छोटे छंद ही प्रयुक्त हैं यथा रामाज्ञा-प्रश्न और दोहावली में दोहा, वैराग्य-संदीपनी में दोहा-चौपाई, तथा बरवै रामायण में बरवै-छंद का प्रयोग।

निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रबन्ध और मुक्तक रचनाओं में क्रमश: छोटे और बड़े छंदों के प्रयोग का अभिप्राय तुलसी-साहित्य में सापवाद रूप से घटित होता है। यदि हम इन काव्यरूपों में इन छंदों के एकाधिकार को अभिप्राय की प्रमुख शर्त न मान कर प्रमुखता को मानें तो तुलसी के छन्द-विधान में यह अभिप्राय निर्विवाद रूप से चरितार्थ हो जाता है।

डॉ० उदयभानु सिंह- तुलसी -काव्य-मीमांसा, पृष्ठ ३८६

छन्दों में विविधता का अभिप्राय -

काव्य में छन्दों की विविधता लाना कविस्वभाव का अंग है । चमत्कारवादी और [illegible] कलाप्रेमी कवियों ने तो इस अभिप्राय का विशेष आभरुचि के साथ पालन किया है जैसे केशवदास । तुलसी की गणना ऐसे कवियों में तो नहीं की जा सकती, [illegible] प्रकृति किंचित् भिन्न है फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा [illegible] कि तुलसी के काव्य में छन्द वैविध्य का संयमित आग्रह अवश्य विद्यमान है । यह [illegible] में ही विशेष रूप से है जैसे रामचरित मानस , कवितावली और [illegible] आदि । मानस में १६ छन्दों का प्रयोग हुआ है । एक प्रबन्ध के लिए यह [illegible] संख्या बहुत अधिक न होते हुए भी प्रचुर है । संस्कृत और हिन्दी साहित्य के [illegible] और उत्कृष्ट प्रबन्धों में भी छन्द संख्या ऐसी ही मिलती है । कवितावली में पांच छन्द और विनयपत्रिका में सात-आठ छन्दों का प्रयोग भी, छन्द वैविध्य का [illegible] कहा जा सकता है ।

यह स्पष्ट है कि किसी रचना में मात्र एक ही छन्द या कम छन्दों के प्रयोग से जो [illegible] उत्पन्न होती है तथा विविध छन्दों के प्रयोग से जो चारुता [illegible] उत्पन्न होती है उससे तुलसी भलीभांति अवगत थे । उन्होंने संयतमात्रा में [illegible] का अभिप्राय अपनी कई रचनाओं में अपनाया है । छन्दवैविध्य [illegible] अभिप्राय को अपनाने में ही कहीं कहीं उल्लंघित भी होना पड़ा है जिसके अन्तर्गत प्रबन्ध काव्य में छोटे और मुक्तक काव्य में बड़े छन्दों का व्यवहार प्रचलित था । छन्दों में विविधता लाने के लिए ही प्रबन्धों में बड़े छन्दों और मुक्तक रचनाओं में छोटे छन्दों को भी सम्मिलित किया गया । इस प्रकार दो परस्पर विरोधी अभिप्रायों में तुलसी ने समन्वय का प्रयास करते हुए दोनों की रक्षा की है ।

भावानुकूलता का अभिप्राय -

छन्द विषयक तीसरा अभिप्राय भावानुरूप छन्दयोजना पर आधारित है । भावविशेष के लिए कुछ विशेष प्रकार के छन्द अधिक उपयुक्त होते हैं, अस्तु काव्य में ऐसे भावों के अंकन के लिए उन विशेष प्रकार के छन्दों को अपनाने का विशेष आग्रह पाया जाता है । इसी तरह भावविशेष के अंकन के लिए प्रतिकूल पड़ने वाले छन्दों के परिहार की भी चेष्टा होती है । इस प्रकार से जो सामान्य नियम स्थिर हुआ वह अभि

प्राय बन गया। डॉ० उदयभानु सिंह ने तुलसी के छन्दविधान की भावानुरूपता की विशिष्ट चर्चा की है। वे लिखते हैं - "छप्पय छंद करुणा आदि द्रुतिप्रधान भावों के प्रतिकूल पड़ता है किन्तु उत्साह आदि दीप्तिप्रधान भावों और स्तुतियों के अनुकूल है। इसी दृष्टि से तुलसी ने कवितावली में उसका सन्निवेश किया है। सवैये में दोनों प्रकार के भावों की सशक्त अभिव्यक्ति हो सकती है, किन्तु कोमल भावों की व्यंजना में वह अधिक समर्थ है। इसके विपरीत घनाक्षरी कठोर भावों के अधिक अनुकूल है। तदनुसार कवितावली के बाल-वर्णन, रामवन-गमन के प्रसंगों में प्रायः सवैया छंद का और लंका-दहन में तथा युद्ध वर्णन में अधिकतर घनाक्षरी का प्रयोग किया गया है। नहछू आदि निबन्धों में सोहर शैली अपनायी गई है, क्योंकि सोहर (अथवा हंसगति) मंगलगीत की माधुर्य व्यंजना के विशेष उपयुक्त है।"[1] मानस के लंकाकाण्ड में युद्ध के प्रसंगों में डिल्ला और तोमर छंदों का प्रयोग है जो ऐसे प्रसंगों में वीरगाथा काव्य में भी प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार पदों में कोमल और संवेदना प्रधान भावों का ही अंकन विशेषतः होता था, तथा तुलसी के काव्य में भी वैसा ही हुआ है। छन्द प्रयोग की यह भावानुरूपता अभिप्रायात्मक है।

तुलसी के पहले ही काव्य के प्रमुख छन्दों के आधार पर कुछ काव्य-शैलियाँ प्रचलित हो गई थीं, जो पीछे के कवियों द्वारा सतत अनुसरण किए जाने से अभिप्राय के समान मान्य हो गई। तुलसी ने भी उन काव्यशैलियों को नितान्त कुशलता से अपनाया। काव्य-शैली में निहित अभिप्रायों के अन्तर्गत यहाँ उनका भी अध्ययन कर लेना समीचीन होगा।

काव्य-शैली में अभिप्राय-तत्व -

तुलसी साहित्य में विभिन्न काव्यशैलियों का प्रयोग हुआ है। तुलसी के पहले से ही ये काव्यशैलियाँ प्रचलित थीं जिसे उन्होंने अपने काव्य में अपनाया। यहाँ विवेच्य काव्य-शैली से हमारा आशय छन्दों से सम्बद्ध काव्य-शैलियों से है जैसे दोहा-चौपाई शैली, कवित्त सवैया शैली आदि। इस प्रकार की जितनी काव्य-शैलियों का प्रचलन

---

1. डॉ० उदयभानु सिंह-तुलसी काव्य-मीमांसा, पृ० ३८७

तुलसी के समय था, उन्होंने लगभग सबको अपनाकर उन पर काव्य रचना की । परम्परा में [illegible] होने के कारण ये काव्यशैलियाँ अभिप्राय बन गई थीं । तुलसी की प्रत्येक रचना किसी न किसी किसी अभिप्रायात्मक काव्य-शैली का प्रतिनिधित्व करती है । इनका पृथक पृथक और विस्तृत पर्यवेक्षण करने से पूर्व यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ये सभी काव्य-शैलियाँ रचयिताओं के अन्यान्य वर्गों में अपनाई गई थीं । सभी [illegible] प्राय: एक या अधिक से अधिक दो काव्य-शैली को अपनाए हुए थे । उस युग में तुलसी ही ऐसे एकमात्र कवि हुए जिन्होंने सभी प्रचलित सम-साम-यिक काव्य-शैलियों को ग्रहण किया और सब पर स्वतन्त्र रचना की । उनके साहित्य में [illegible]-शैली की जो विविधता है उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने पूरी सचेष्टता के साथ [illegible] अभिप्रायों को अपने काव्य में उतारा ।

अभिप्राय की दृष्टि से तुलसी की काव्य-शैलियाँ ये हैं –

१. [illegible] काव्यों और प्रेमाख्यानक काव्यों की दोहा-चौपाई शैली –

इस शैली का प्रयोग रामचरितमानस में है । इसके सम्बन्ध में अधिकतर यही कहा जाता है कि इस पर जायसी आदि सूफी कवियों के प्रेमाख्यानकों की काव्यशैली का प्रभाव है । यह बात यद्यपि सत्य है तथापि इसे पूर्ण मानना ठीक नहीं है । यहाँ [illegible] की दृष्टि से विचार अपेक्षित होने के कारण हमें इसके मूल उद्भव काल पर [illegible] करना है । इस शैली का मूल अपभ्रंश के चरित काव्यों में विद्यमान है । जायसी [illegible] सूफी कवियों के प्रबन्धों में तो यह शैली बहुत कुछ विकसित और परिष्कृत हो चुकी थी । अपभ्रंश के चरित काव्यों में 'पउम चरिउ' मुख्य है जिसका वर्ण्य विषय भी रामकथा है और जिसका अंशत: प्रभाव भी रामचरित मानस पर स्वीकार किया जाता है, अत: [illegible] यह होगा कि इस शैली को भी हम वहीं से देखें । मानस में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग हुआ है साथ ही बीच-बीच में अन्य छन्दों का प्रयोग भी हुआ है, ऐसा प्रेमाख्यानक काव्यों में बहुत कम है, किन्तु 'पउम चरिउ' आदि चरित काव्यों में ऐसा ही हुआ है । दोहा-चौपाई शैली में इन छन्दों का भी समाहार मानस में चरित-काव्यों की तरह हुआ है, इसलिए उस पर उनका प्रभाव प्रथमत: स्वीकार्य है ।

अपभ्रंश के चरितकाव्यों में दोहा-चौपाई का अस्तित्व दूसरे रूप में है । वहाँ कडवक और घत्ता छन्दों में यह शैली स्पष्टतया आभासित होती है । डॉ० शम्भूनाथ

सिंह जी का यह अभिमत इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है -"रामचरितमानस पद्मावत आदि प्रबन्ध काव्यों में कुछ चौपाइयों को रखकर दोहा या कभी कभी हरिगीतिका छन्द रखा गया है और यह विधान ग्रन्थ में आद्यन्त मिलता है । इस रूढ़ि का पूर्वरूप अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रबन्धकाव्यों में कडवक योजना के रूप में मिलता है । केवल [illegible] चरिउ' सुदंसण चरिउ और सन्देसरासक इसके अपवाद हैं ।"[1] अपभ्रंश के घत्ता, कालान्तर में दूहा बना और फिर दोहा हो गया, तथा कडवक का विकास क्रमशः पद्धड़िया, चउपइ और फिर चौपाई के रूप में हुआ । इसलिए वास्तविकता यह है कि इस शैली का मूल स्रोत चरितकाव्यों में है, विकास प्रेमाख्यानक काव्यों में और इसका चरम विकसित रूप रामचरित मानस में है । चरितकाव्य और प्रेमाख्यानक दोनों ही प्रबन्धों के अन्तर्गत आते हैं । स्वतः सिद्ध है कि तुलसी के पूर्व अपभ्रंश और हिन्दी के प्रबन्धों में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग अभिप्राय बन गया था । तुलसी ने अपने प्रबन्ध रामचरितमानस में भी इस अभिप्राय को ग्रहण किया और उसकी रचना दोहा-चौपाई शैली में की । तुलसी-साहित्य में इस अभिप्राय का अपवाद मात्र इतना ही है कि 'वैराग्यसंदीपिनी' में भी इसी शैली का प्रयोग हुआ है जो कि प्रबन्ध न होकर मुक्तक रचना है ।

२. दरबारी कवियों की कवित्त-सवैया छप्पय शैली - तुलसी के समकालीन अथवा कुछ [illegible] कवियों ने कवित्त-छंदों में कविताएं लिखीं । ये कवि अधिकतर राज्याश्रित और दरबारी थे । इन दरबारी कवियों में तुलसी के समकालीन गंग, ब्रह्म, नरहरि, तानसेन और बीरबल इत्यादि प्रमुख थे । हिन्दी से पूर्व डिंगल एवं पिंगल में ही चारण कवियों द्वारा वीररसात्मक कवित्त छप्पय लिखने की परम्परा का प्रवर्तन हो गया था ।[2] इस प्रकार के कवित्त - छप्पय लिखने वाले कविजन हिन्दू और मुसलमान राजाओं के आश्रय में रहते थे । इनकी कविताएं मुख्य रूप से वीरभावनात्मक होती थीं । बाद में शासकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन आने के साथ-साथ इनकी कविताएं मधुर एवं शृंगारिक भावनाओं पर भी लिखी गईं । फिर भी इस काव्यशैली में वीर-भावकी प्रधानता रही । दरबारी कवि कवित्त

---

१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह-हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० १६३

२. डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त-हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ४७१

सवैया छप्पय शैली में अपने आश्रयदाताओं के शौर्य और बल विक्रम का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन करते थे ।

तुलसी ने इस शैली को कवितावली में अपनाया है । उसमें सवैया और घनाक्षरी ही मुख्य छन्द हैं । इस शैली में जैसे वीर भावना प्रधान वर्ण्यविषय अभिप्रेत होते थे वैसा ही ओजप्रधान वर्ण्यविषय कवितावली का भी है । अभिप्रायको यहाँ तुलसी ने कितनी मजबूती से पकड़ा है, इसे देखकर आश्चर्य होता है । पूरी कवितावली में राम का ओजस्वी रूप ही प्रधान है, मधुर भावना का यत्किंचित् प्रभाव जो इस शैली पर पड़ चुका था वह कवितावली में अयोध्याकाण्ड के कवित्त सवैयों में निखर कर आ गया है । आगे चलकर रीतिकाल में यह अभिप्राय अवरुद्ध हो गया और कवित्त, सवैया-घनाक्षरी छन्दों में शृंगारिक भावना ही प्रधान हो गया । परन्तु तुलसी ने कवितावली में इस शैली का विषय की दृष्टि से भी परम्परानुकूल निर्वाह किया था । हनुमानबाहुक भी कवितावली का ही अंग माना जाता है क्योंकि उसमें भी इसी शैली का प्रयोग है और हनुमान का वीरत्व चित्रित है ।

विभिन्न कालों में कवियों ने कवित्त,सवैया और छप्पय से भिन्न-भिन्न बोध किया है, इससे इनका स्वरूप पहचानने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है । चन्दबरदायी ने छप्पय को कवित्त कहा है । वीरगाथा काल के कई ग्रन्थों में सवैया के लिए 'कवित्त' शब्द का प्रयोग हुआ है, जब कि तुलसी की कवितावली में कवित्त और सवैया दोनों के स्वरूप में बहुत बड़ा अन्तर है । वस्तुत: कवित्त घनाक्षरी, छप्पय और सवैया सभी अलग-अलग प्रकार के छन्द हैं । कवित्त और घनाक्षरी में स्थूल समानता भी है और सूक्ष्म अन्तर भी जो कवितावली में स्पष्ट है । सवैया इन दोनों से एकदम भिन्न चार लम्बी-लम्बी पंक्तियों वाला छन्द है । छप्पय में ६ पद होते हैं, इसे षटपदी भी कहते हैं, इसकी आरम्भ की ४ पंक्तियाँ अपेक्षाकृत छोटी और समान होती है तथा अन्त की दो पंक्तियाँ अपेक्षाकृत बड़ी होती हैं । हनुमानबाहुक में आरम्भ के दो छन्द छप्पय हैं । तुलसी ने इस काव्यशैली का ग्रहण परम्परा के प्रभाव से किया है उन्होंने कवित्त, घनाक्षरी छप्पय और सवैया आदि छन्दों का सुस्पष्ट एवं विशुद्ध रूप में प्रयोग किया है । भूलना नामक एक अन्य छन्द भी कवितावली में है, जो कवित्त के बहुत कुछ समान है ।

३. अपभ्रंश मुक्तककारों, सिद्धों-नाथों-संतों की दोहा-शैली

के [illegible] अपभ्रंश के कुछ कवियों से लेकर समकालीन संत कवियों तक काव्य

रचना की यह भी एक विशिष्ट दिशा बन चुकी थी जिसमें यह अभिप्राय स्थिर हो चुका था कि दोहा-शैली में रचना की जाय । अपभ्रंश में दोहा-काव्य-परम्परा जड़ जमा चुकी थी । सिद्ध और जैन कवियों ने अपने साहित्य में नीति, भक्ति, दर्शन, शृंगार के दोहे लिखे ,इसमें सरहपा,कण्हपा,लुइपा आदि सिद्धों तथा योगीन्द्र मुनि रामसिंह, सुप्रभाचार्य आदि जैन कवियों का नाम उल्लेखनीय है । योगीन्द्र के दोहे 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' में मुनि रामसिंह के दोहे 'पाहुण दोहा' में सुप्रभाचार्य के दोहे उनकी 'वैराग्यसार' नामक रचना में देखे जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त जिन अपभ्रंश कवियों ने दोहों में रचनाएँ की उनमें हेमचन्द्राचार्य (कुमारपाल चरित,छन्दोनुशासन और प्राकृत व्याकरण के रचयिता) सोमप्रभाचार्य (कुमारपाल - प्रतिबोध के रचयिता) मेरुतुंगाचार्य (प्रबन्धचिन्तामणि के रचयिता) अज्ञात कवि (प्राकृत पैंगलम के रचयिता) आदि उल्लेखनीय हैं । प्राकृत पैंगलम में अनेक कवियों के दोहे संकलित हैं । इसके अनन्तर इस शैली में डिंगल के वीररसात्मक दोहे और निर्गुण संत कवियों की साखियों की रचना हुई । इतनी पुष्ट परम्परा को अभिप्राय कहने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए । तुलसी ने दोहावली में इस अभिप्राय को अपनाया है । इसमें भक्ति, नीति, दर्शन, संस्कृति, समाज आदि से सम्बद्ध विविध विषयों पर ५७३ दोहे मिलते हैं । 'दोहावली' अभिधान ही जैसे इस अभिप्रायात्मक शैली को अपनाने की उद्घोषणा है । दोहावली के अतिरिक्त 'रामाज्ञाप्रश्न' में भी दोहे हैं, किन्तु वे विशुद्ध रूप से इस शैली में नहीं आते ।

४. निर्गुण संतों और कृष्ण भक्त कवियों की पद-शैली —

यह गीतिकारों की प्रधान शैली थी । गीतिकाव्य-परम्परा के अन्तर्गत हम इसका यत्किंचित् आभास दे चुके हैं । यों तो इस परम्परा का मूल निर्गुण संत कवियों के पदों से ही है किन्तु पद-शैली का जो प्रचलित रूप कृष्ण भक्तिकाव्य में मिलता है, तुलसी को प्रभावित करने का श्रेय वस्तुतः उसी को है । कवियों का एक विशिष्ट वर्ग उस युग में संगीतमय पदों की रचना में दीर्घकाल तक तल्लीन रहा । इनमें अष्टछाप के कवियों का नाम सर्वप्रमुख है । पद-रचनाजब शैलीगत अभिप्राय बनी तो तात्त्विक अभिप्राय यह बना कि पदों का वर्ण्यविषय माधुर्य एवं करुणाभाव से युक्त हो । यद्यपि निरपवाद रूप से तो ऐसा नहीं हो सका पर इस रूढ़ि का जितना निर्वाह उस युग में पद-रचयिताओं ने किया, वह कम आश्चर्य का विषय नहीं है । पदों में संवेद-

प्रधान हृदयस्पर्शी भावों का ही अंकन प्रमुख रूप से हुआ ।

तुलसीदास भी इस पद-परम्परा से गम्भीर रूप से प्रभावित हुए । डॉ० रामचन्द्र मिश्र ने 'हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास' नामक अपने शोध-प्रबन्ध में इस तथ्य का विस्तारपूर्वक विचार किया है । इस परम्परा से प्रभावित होकर तुलसी ने गीतावली, विनयपत्रिका और कृष्णगीतावली नामक तीन गीतिकाव्य लिखे जिसमें पदों की ही प्रधानता है । गीतिकाव्य अभिप्राय के आग्रह से तुलसी ने गीतावली में जो रामकथा प्रस्तुत की है उसमें से माधुर्येतर, ओजपरक और अप्रिय प्रसंगों को चुन चुन कर निकाल दिया है । इसमें शृंगार, वात्सल्य और करुणारस के भावों को ही स्थान मिला है । कृष्णगीतावली में भी ऐसा ही है । विनय-पत्रिका में विनय के पद हैं । इसकी भी परम्परा पद-परम्परा के भीतर चल रही थी । संतों के पदों का प्रभाव भी इस पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा है । पद-साहित्य में संगीततत्त्वों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है । पदों में काव्य रचना का अभिप्राय तुलसी ने तीन-तीन रचनाओं में अपनाया, इससे प्रतीत होता है कि इसकी ओर उनका झुकाव विशेष था । ये तीनों ही रचनाएं काव्यकला की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं । पदों के अतिरिक्त छन्द का पद्यरूप भी गीतावली और विनयपत्रिका में है जिन्हें पद-परम्परा में अन्तर्भुक्त माना जा सकता था किन्तु सूरदास रचित सूर-सागर तथा अन्य कुछ पदरचयिताओं की रचनाओं में भी यह बात पाई जाती है, इससे कहना पड़ता है कि ये भी पद-परम्परा के ही अंग थे और इसलिए तुलसी ने इनकी अवहेलना नहीं की ।

५. रहीम आदि कवियों की बरवै-शैली –

बरवै ३८ मात्राओं का एक छोटा सा छन्द है । तुलसी के कुछ पूर्व रहीम ने बरवै में काव्य रचना की ओर आकृष्ट हुए थे जिसके फलस्वरूप बरवै नायिका भेद की रचना उन्होंने की । रहीम के पूर्व भी निश्चित रूप से बरवै छन्दों की परम्परा रही होगी, पर उसका विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है । मात्र यशोदानन्दन नामक एक कवि का नाम इस सम्बन्ध में सुना जाता है जिसने विभिन्न जाति की स्त्रियों का वर्णन बरवै छन्दों में किया था । बरवै छन्द अपने लाघव और मार्दव तथा माधुर्य के कारण अवश्य कवियों के विशेष आकर्षण का कारण बना होगा । सम्भव है कि इस छन्द की रचना उस युग में एक विशिष्ट काव्य-कौशल का मानदण्ड माने जाने लगी हो,

जिसे स्वयं में सिद्ध करने हेतु कवियों का फुकाव इसकी ओर हुआ ही और इस प्रकार धीरे धीरे बरवै -शैली में काव्य-रचना की प्रवृत्ति ने भी अभिप्राय का रूप ले लिया हो । जो भी हो तुलसी ने इस छन्द की ओर अपनी रुचि दिखाई और अन्य शैलीगत अभिप्रायों की तरह इसे भी अपने काव्य में उतारा ।

तुलसी ने इस अभिप्राय का अनुसरण अपनी लघु किन्तु उत्कृष्ट रचना 'बरवै रामायण' में किया है । श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने प्रचलित किम्वदन्तियों की चर्चा करते हुए कहा है कि नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना के कहीं बाहर गए हुए मुंशी का उसकी पत्नी ने प्रेमभरा पत्र लिखते हुए बरवै में यह कहा —

प्रेम-प्रीति के बिरवा ,चलेहु लगाय ।
सींचन की सुधि लीजो मुरझि न जाय ।।[1]

ऐसा अनुमान किया जाता है कि यही प्रथम बरवै छन्द है और इस छन्द का 'बरवै' नामकरण इस प्रथम बरवै की प्रथम पंक्ति में आए हुए 'बिरवा' शब्द से हुई है । अवस्थी जी का विचार है कि उस स्त्री के इसी छन्द से रहीम आकृष्ट हुए और उन्होंने भी इस छन्द में रचना की साथ ही अन्य परिचित कवियों को भी इसके लिए प्रेरित किया।[2] रहीम ने तुलसी को भी इसके लिए परोक्ष रूप से प्रेरित किया । बाबा वेणी माधवदास ने 'मूलगोसाईं चरित' में इस सम्बन्ध में यह दोहा लिखा है —

'कवि रहीम बरवै रचे पठए मुनिवर पास ।
लखि तेहि सुंदर छंद में रचना किए प्रकास ।।

यहाँ मुनिवर से अभिप्राय गोस्वामी जी से है वे रहीम के समकालीन थे । यदि इन किम्वदन्तियों में कुछ भी सत्यता है तो बरवै रचना का अभिप्राय स्वत: सिद्ध है और बरवै रामायण में इसका अनुसरण भी निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है । बरवै रामायण में इसका अनुसरण भी निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है । बरवै रामायण में कुल ६६ बरवै हैं । सभी काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं इनमें सीता के सौन्दर्य और प्रेम-

---

१. सद्गुरुशरण अवस्थी,तुलसी के चार दल, पृ० ६६

२. वही, पृ० ६६

व्यंजना का वर्णन चमत्कारिक कथनों के माध्यम से हुआ है । बरवै रामायण , बरवै शैली विषयक अभिप्राय का पोषक ग्रन्थ है ।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैसे काव्य रूपों में तुलसी ने अभिप्राय को [illegible] अधिकाधिक रूप में अंगीकार किया, वैसे काव्य-[illegible] में भी । सभी पूर्वागत एवं समसामयिक काव्यशैलियों में रचना करने का [illegible] आग्रह जो तुलसी में दिखायी पड़ता है वह उनकी गम्भीर एवं व्यापक काव्य-चेतना का द्योतक है, जिसमें साहित्यिक अभिप्रायों का अनुसरण प्रधान प्रवृत्ति की तरह विद्यमान है ।

रस अलंकार, भाषा छन्द एवं काव्यशैली के बाद ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, वृत्ति तथा मार्ग आदि कुछ अन्य काव्यांगों पर ही अभिप्राय की दृष्टि से विचार शेष रह जाता है । चूँकि रस, अलंकार, भाषा आदि की अपेक्षा इन काव्यांगों का महत्त्व अल्प चर्चित रहा अतएव इनमें अभिप्रायों का विकास भी नगण्य रहा । दूसरी बात — यह है कि ये काव्यांग रस, अलंकार, भाषा आदि काव्यांगों से अस्तित्व की दृष्टि से सर्वथा पृथक नहीं रहे । उदाहरणार्थ रस और ध्वनि में कोई तात्त्विक भेद नहीं है । इसी प्रकार वक्रोक्ति भी अलंकार का अत्यन्त निकटवर्ती तत्त्व है अस्तु इसमें रस-योजना और अलंकार-योजना के अन्तर्गत जन्म लेने वाले अभिप्रायों के अतिरिक्त अन्य किसी स्वतन्त्र और विशिष्ट अभिप्राय के अस्तित्व की संभावना नहीं हो सकती । जब इन काव्यांगों की योजना में विशेष प्रकार की रूढ़ एवं परम्परित धारणा का उद्भव नहीं हुआ तो अभिप्राय की दृष्टि से इनके परिप्रेक्ष्य में किसी कवि के काव्य पर विचार करते हुए केवल एक ही बात कही जा सकती है वह यह कि अपने काव्य में इन काव्यांगों का समुचित मात्रा में समाहार यदि कवि ने किया है तो उसी में उसकी अभिप्रायात्मक दृष्टि की किंचित् प्रेरणा मानी जा सकती है । ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, वृत्ति, मार्ग आदि काव्यांगों के बारे में तुलसी की रचनाओं के सन्दर्भ में भी यही तथ्य रखा जा सकता है । काव्य-परम्परा में दीर्घकाल से प्रवाहित होते हुए इन काव्यांगों को तुलसी ने भी अपने काव्यों में न्यूनाधिक मात्रा में सम्मिलित किया है ।

प्राचीन काव्यशास्त्रों में ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों परस्पर विरोधी तत्व [illegible]

अपने-अपने मतानुयायियों द्वारा विशिष्ट महत्व दिया गया

प्रकृति से मध्यमार्गी और सरल हृदय कवि आचार्यों के इस वैचारिक द्वन्द्व से तटस्थ रहे और उन्होंने दोनों को अपने काव्य में उचित स्थान दिया । निश्चय ही दोनों काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं, इसीलिए कवियों ने दोनों को काव्य का अभिप्राय मानकर वांछित मात्रा में अपना लिया ।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी दोनों को सामान्य भाव से अपनाया है । मानस रूपक में आयी हुई यह अर्द्धाली इस तथ्य का प्रमाण है -

धुनि अवरेब कबित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भांती ।।

रा० । १।३७

इनमें 'धुनि' और 'अवरेब' का आशय क्रमश: ध्वनि एवं वक्रोक्ति है । तुलसी ने इन दोनों में से न तो किसी को अधिक श्रेष्ठ बताया है और न किसी को त्याज्य । उनकी दृष्टि में दोनों ही ग्राह्य हैं । यह कवि की अभिप्रायात्मक दृष्टि है । सम्पूर्ण तुलसी-साहित्य का निरीक्षण करने पर उसमें ध्वनि और वक्रोक्ति के सभी भेदों की स्थिति कहीं न कहीं मिल ही जाती है । तुलसी का काव्य ध्वनि प्रधान काव्य तो नहीं किन्तु उत्तम ध्वनिकाव्य अवश्य है । रसध्वनि , भावध्वनि, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि के उदाहरण उनकी रचनाओं में सुलभ हैं । ध्वनि के विचार से काव्य के जो ३ भेद होते हैं, उनकी भी चरितार्थता तुलसी-साहित्य में किसी सीमा तक देखी जा सकती है । उनका काव्य ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूत व्यंग्य तो है ही, उसमें कहीं-कहीं चित्रकाव्य की विशेषताएं भी पायी जाती हैं ।

वक्रोक्तियों की रमणीय स्थिति भी तुलसी के काव्य में स्थान-स्थान पर देखी जा सकती है । अभिप्राय की दृष्टि से वचनवक्रता ही सम्पूर्ण वक्रोक्ति का सार है जिसकी यथेष्ट मात्रा तुलसी-साहित्य में है । दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

१. काहे राम जिउ सांवर लछिमन गोर हो ।
   कीदहिं रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो ।। रा०न० ।१२

२. कमठ पीठ जामहिं बरु बारा । बन्ध्यासुत बरु काहुहिं मारा ।।
   तृष्णा जाइ बरु मृगजल पाना । बरु जामहिं सस सीस बिषाना ।।

अभिप्राय ही बन गया था जो तुलसी-साहित्य में विधिवत् प्रतिफलित हुआ है ।

सम्पूर्ण काव्यांगों के सन्दर्भ में साहित्यिक अभिप्राय का विवेचन करने के अनन्तर निष्कर्ष रूप में यह बात कही जा सकती है कि तुलसी के काव्य में साहित्यिक अभिप्रायों का प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर विद्यमान है, सभी काव्यांगों पर भी उसका प्रभाव दिखाई देता है ।